आचार्य वेंकटनाथ कृत न्यायसिद्धाञ्जन का
समीक्षात्मक अध्ययन

"ACHARYA VENKET NATH KRIT NYAYA SIDDHANJAN KA SAMEEKSHATMAK, ADHYAYAN"

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्०
उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

अनुसन्धाता
सुरेश चन्द्र पाण्डेय
एम० ए०
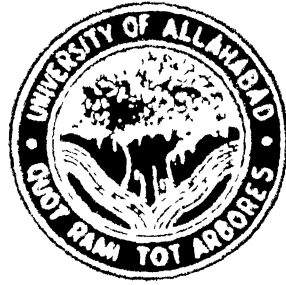
पर्यवेक्षक
डॉ० कौशल किशोर श्रीवास्तव
उपाचार्य
संस्कृत विभाग, इ० वि० वि०

संस्कृत पालि प्राकृत एंव प्राच्य भाषाविभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
संवत् २०५७ वैक्रमीय

प्राक्कथन

अनादि काल से मानव–मस्तिष्क इस दृश्यमान प्रपञ्च के **रहस्यपूर्ण** तथ्यों को जानने के निमित्त जिज्ञासु रहा है। इसी जिज्ञासा ने मानव इतिहास में नैकविध आविष्कारों को जन्म दिया, जिनमें से एक है– **'दर्शन'**। भारत भूमि में पुष्पित एवं पल्लवित होने वाले जितने भी दार्शनिक सम्प्रदाय हैं चाहे वे आस्तिक हो अथवा नास्तिक, प्राचीन हो अथवा आर्वाचीन सभी का समावेश भारतीय दर्शन के अन्तर्गत किया जाता है। इसी क्रम में भारतीय दर्शन के अन्तर्गत परिगणित **"वेदान्त दर्शन"** अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वेदान्त साहित्य में वेदों का निर्णयार्थ या निश्चयार्थ वर्णित है। वेदान्त के विभिन्न सप्रदायों में विशिष्टाद्वैत वेदान्त का अनुत्तम स्थान है, जिसके प्रधान व्याख्याकार आचार्य रामानुज हैं, इनके सिद्वान्त को आगे बढ़ाने का श्रेय वेंकटनाथ को ही है। विशिष्टाद्वैत दर्शन श्री वैष्णव या भागवत मत पर आधृत है।

यद्यपि विशिष्टाद्वैत वेदान्त पर अनेकानेक शोधार्थियों द्वारा अत्यन्त महनीय शोध कार्य एवं पुस्तकें लिखी जा चुकी है किन्तु विशिष्टाद्वैत सम्मत प्रधान ग्रन्थ **न्यायसिद्धाञ्जन** पर कोई भी शोध कार्य अभी तक प्रकाश में नहीं आया हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इसी रिक्तता की पूर्ति हेतु किया गया एक लघु प्रयास है। जिसमें मैनें उक्त विशिष्टाद्वैत परक न्यायसिद्धाञ्जन जिसे न्याय परिशुद्धि का अन्तिम अध्याय व तर्क सिद्धान्त भी कहते है। की समीक्षा एवं विश्लेषण करने का प्रयास किया है। इस ग्रन्थ के छह परिच्छेदों (जड़, जीव, ईश्वर, बुद्धि, अद्रव्य, नित्यविभूति) में तत्वमीमासीय सिद्धान्त समाहित हैं।

विशिष्टाद्वैत दर्शन परक प्रस्तुत न्याय सिद्धाञ्जन नामक ग्रन्थ विषय पर शोध करने की सत् प्रेरणा मुझे मेरे गुरुवर्य, भारतीय दर्शन एवं संस्कृत साहित्य के विद्वान् श्रद्धेय **डा० कौशल किशोर श्रीवास्तव,** रीडर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय से मिली, जिनके विद्वतापूर्ण पर्यवेक्षण में यह शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर पा रहा हूँ। विश्वविद्यालयीय शिक्षा के शैशव काल से ही आदरणीय गुरुवर्य पुत्रवत् स्नेह के साथ

यथावसर, उचित सलाह एवं निर्देश देते हुए मेरा उत्साह बर्धन करते रहे हैं। अतः तद्धे किसी प्रकार की कृतज्ञता ज्ञापन निश्चय ही उस सहज स्नेह की गुरुता को कम ही करेंगा। शोध प्रबन्ध के पूर्ण करने में मेरे पर्यवेक्षक के परममित्र वरिष्ठ उपाचार्य श्रद्धेय **डा० रामकिशोर शास्त्री** ने जो अभूतपूर्व सहयोग एवं गुरुतरदायित्व का निर्वहन किया एतदर्थ मैं आजीवन उनका श्रृणी रहूंगा।
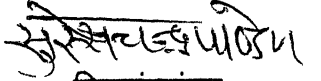
गुरुदेव की कृपा एवं अपने परिश्रम से शोध विषय को समझने तथा उसको क्रमिक रुप से निरूपित करने का प्रयास मैंने किया है। मेरा प्रयास कितना सार्थक एवं सफल है यह तो वे सुधीजन ही समझ सकते हैं जिनके समक्ष यह शोध–प्रबन्ध परीक्षाणर्थ सादर प्रस्तुत है।

संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वर्तमान विभागाध्यक्ष प्रो० हरिशंकर त्रिपाठी को भी मै सादर नमन करता हूँ जिनका स्नेह हमें परास्नातक कक्षा से ही मिलता रहा है। इला० वि० वि० के भूतपूर्व कुलपति एवं संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव गुरुवर्य प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डेय एवं पं० राजकुमार शुक्ल जी के प्रति सादर नमन समंर्पित करता हूँ जिनके उत्साह वर्धन एवं विद्वतापूर्ण सुझाव से मैं अध्ययन काल से ही लाभान्वित होता रहा हूँ। संस्कृत विभाग के गुरूजनों में प्रो० चन्द्र भूषण मिश्र, प्रो० मृदुला त्रिपाठी एवं डा० शंकर दयाल द्विवेदी का भी मैं आभारी हूँ जिनके सान्निध्य एवं सत्परामर्शो के कारण ही आज मैं यह शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर पा रहा हूँ।

मातृऋण एवं पितृऋण से कोई भी व्यक्ति उऋण नहीं हो सकता। जिस ममता मयी मां श्रीमती कुसुम देवी एवं जिन वात्सल्यागार पिता श्री शिवशंकर पाण्डेय (प्रधानाचार्य जसरा कालेज) के लाड़्प्यार से जन्म से लेकर अद्यावधि पला–बढ़ा और जिन्होंने जीवन के अनेक झंझावातों को सहन करते हुए न केवल मेरी खुसी में ही अपने सुखों का अनुभव किया अपितु उच्च अध्ययन के लिए सदैव सत्प्रेरणा प्रदान किया, उन माता पिता जी से तो जन्म जन्मान्तर में भी ऋणमुक्त होना असंभव है।

प्रात्र है। शोध की स्पष्ट प्रतिलिपि के टंकण करने का सारा श्रेय अपने ही **सहपाठी राजेश सिंह शोध छात्र संस्कृत विभाग** को न देना ठीक नहीं है। नलिनी प्रकाशन के सहयोग से ही उसे विद्वानों के समीप रख सका अतः प्रकाशन कर्ता भी साधुवाद के पात्र है। साथ ही अन्य समस्त ज्ञाताज्ञात मित्रगणों को यथोचित धन्यवाद ज्ञापित करते हुए मैं प्रकृत शोधप्रबन्ध नीर क्षीर विवेक हेतु विद्वत्समुदाय के समक्ष प्रस्तुत करने के कर्त्तव्य का निर्वाह कर रहा हूँ।

सुरेशचन्द्रपाण्डेय

दिनांक–

विदुषांवशंवद
सुरेश चन्द्र पाण्डेय

विषयानुक्रमणिका

प्रथम – अध्याय

विशिष्टाद्वैत वेदान्त – उद्भव और विकास

१. दर्शन का अर्थ

२. दर्शन की उत्पत्ति

३. भारतीय दर्शन का स्वरूप

(क) नास्तिक दर्शन

(ख) आस्तिक दर्शन

४. वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय

(क) अद्वैत वेदान्त

(ख) वेदान्त के अन्य वैष्णव सम्प्रदाय

५ विशिष्टाद्वैत (वेदान्त दर्शन) का तात्पर्य

६. विशिष्टाद्वैत दर्शन का उद्भव

(क) वैदिक वाङ्मय में विशिष्टाद्वैत।

(ख) पुराणों में विशिष्टाद्वैत

(ग) इतिहास–ग्रन्थों में विशिष्टाद्वैत

(घ) आगम साहित्य में विशिष्टाद्वैत

(ङ) आलवार–साहित्य में विशिष्टाद्वैत

७ विशिष्टाद्वैत दर्शन का विकास एवम् आचार्य परम्परा

(क) आचार्य नाथमुनि

(ख) आचार्य यामुन

(ग) आचार्य रामानुज एवं अन्य

द्वितीय अध्याय
वंकटन थ का जीवन परिचय
एवम् उनकी कृतियाँः–

इनकी रचनाओं को हम भाषा की दृष्टि से ४ भागों में एवं विषय की दृष्टि से ६ भागों में विभक्त कर सकते है। भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाएं संस्कृत, पालि, तमिल एवं मणिप्रवाल के नाम से चार भागों में विभक्त हैं। इनकी एक सौ पन्द्रह कृतियों की बिलक्षण संख्या प्राप्त होती है। सम्प्रति संस्कृत भाषा में लिखे गये उनके ग्रन्थों की संख्या ६२ प्राकृत में मात्र १ तमिल में १८ तथा मणिप्रवाल शैली रचित ग्रन्थों की संख्या ३४ मानी जाती हैं। विषय वस्तु की दृष्टि से उनके संस्कृत ग्रन्थो को अधोलिखित ६ भागो में विभक्त किया जा सकता है। १. स्त्रोत साहित्य २. धार्मिक एवं अनुष्थेय ग्रन्थ ३. काव्य ४. मौलिक एवं दर्शन ग्रन्थ ५. भाष्य या टीका ग्रन्थ ६ कुछ अन्य कृतियॉ। इन्हीं सब का विस्तार से वर्णन किया गया है जो निम्नाकिंत किया गया है।

(क) स्तोत्र साहित्य

१. हयग्रीव स्तोत्र।

२. दशावतारस्तोत्र।

३. भगवद्ध्यान सोपानम्।

४. गोपालविंशतिः

५. श्री स्तुति।

६. अभीतिस्तव।

७. वरदराजपंचाशत्।

८. वेगासेतुस्तोत्र

९. अण्टभुजाण्टक

१०. कामासिकाष्टक।

११. परमार्थिस्तुति।

१२. शरणागतिदीपिका।

१३. देवनायकपञ्चाशत्।

१४. अच्युत शतकम्

१५. देहलीश स्तुति

१६ न्यासतिलकम्।

१७. रघुवीरगद्यम्।

१८. भू स्तुति

१६. षोऽशायुधस्तोत्र

२०. सुदर्शनाष्टकम्

२१. गरूड़ दण्डक

२२. यतिराज सप्तति

२३. पादुकासध्स्रम।

२४. दयाशतक्रम।

२५ गोदास्तुति

२६. न्यासदशकम

२७ गरूड़पञ्चाशत्

(ख) अनुष्ठेय ग्रन्थः—

१. सच्चरित्र रक्षा

२. निक्षेप रक्षा

३. पाञ्चरात्र रक्षा

४ न्यासविशंति

५. द्रविडोपनिषत्तात्पर्य रत्नावली

६. द्रमिडोपनिषत्सार

७. वैराग्य पंचक

८. हरिदिन तिलक

६. आराधना कारिका

१०. यज्ञोपवीत प्रविष्ठा

११. वैश्वदेव कारिका

(ग) काव्यः—

१. यादवाम्युदय

२. संकल्पसूर्योदय

३. हंस सन्देह

४. सुभाषित नीवीं

५. समस्यासहस्र

६. यमक रत्नाकर

(घ) मौलिक दर्शन ग्रन्थः—

१. न्यायपरिशुद्धि

२. न्यायसिद्धाञ्जन

३ तत्त्वमुक्ता कलाप

४. सर्वार्थसिद्धि

५. शतदूषणी

६. शेश्वरमीमांसा

७. मीमांसापादुका

८. अधिकरण सारावली

६. अधिकरण दर्पण

१०. वादित्रयखण्डनम् – (वादित्रयखण्डनम्)

११. चकार समर्थन

(ङ) भाष्य या टीका ग्रन्थः–

१. तत्त्वटीका

२. तात्पर्य चन्द्रिका

३. गीतार्थसंग्रहरक्षा

४. रहस्य रक्षा

५ ईशावास्योपनिपद् भाष्य

६. वेदार्थ संग्रह रक्षा

(च) अन्यग्रन्थः–

१. भूगोल निर्णय

२. शिल्पार्थ सार

(छ) अन्य कृतियांः–

१. रहस्य ग्रन्थ

२. परमतभंग

३. गुरू परम्परा सार

४. परमपदसोपानम्

५ हस्तगिरिमाहात्म्यम्

६. स्तेयाविरोध

(ज) लघु रहस्य ग्रन्थः–

१. अमृत रज्जनी

१. सम्प्रदाय परिशुद्धि

२ तत्वपदवी

३. रहस्य पद्वी

४. तत्वनवनीतम्

५. रहस्यनवीनतम्

६. तत्वमातृका

७. रहस्यमातृका

८. तत्वसन्देश

९. रहस्यसन्देश

१० रहस्य सन्देश विवरणम्

११. तत्वरत्नावली

१२. तत्वरत्नावली विषय संग्रह

१३. रहस्य रत्नावली

१४. रहस्य रत्नावली हृदयम्

१५. तत्वत्रयचुलुकम्

१६. रहस्यत्रयचुलुकम्

१७. सारदीय

(झ) अमृत स्वादिनीः–

१. सारसारः

२. अभयप्रदानसारः

३. तत्त्वसिखामणि (लुप्त)

४. रहस्य सिखामणि

५. अंजलि वैभवम्

६. प्रधान शतकम्

७. उपकार संग्रह

८. सारसंग्रह

९. मधुर कवि हृदयम्

१० मुनिवाहन भोगम्

११. विरोधपरिहारः

(अ) द्रमिड्गाथरूपंप्राप्यग्रन्थ : देशिक प्रबन्ध

१. मुक्मणिकोवै, या मणित्रयमाला

२. पन्दुप्पा, (कन्दुक गाथा)

३. कज्ल्या

४ अम्मानेप्पा

५ अशल्पा

६. ए शल्पा

७. अहैवक्लण्यतु

८. अर्थपचकम्

९. श्रीवैष्णाव दिनचर्या

१० पन्निरुनामम्

११. तिरुचिन्नमालै

१२. नवरत्न माला

१३. आहारनियम्:

१४. तिरूमंत्रच्चुरूवकु

१५. द्वयच्युरूक्कु

१६. चरमश्लोकच्चुरूक्कु

१७. प्रबन्धसार

१८. गीतार्थसंग्रहपट्ु (भाण्य रूप)

अद्योलिखित छः ग्रन्थ भी श्री वेंकटनाथ द्वारा रचित है, जो सम्प्रति लुप्त हैं।[1]

१. निगम परिमलम्

२. रस भूमामृतम्

३. शिल्पसारः

४. गुरू रत्नावली

५. वृक्ष भूभामृतम्

६. प्राकृतविशद् संग्रह।

---

1. यादवाम्युदय, प्रस्तावना, पृ० १३ सर्ग १३–१८ मैशूर प्रकाशन १६४५.

तृतीय – अध्याय
न्याय सिद्वाज्जन का वर्ण्य विषय

प्रस्तुत कृति 'न्याय सिद्धाञ्जन' न्याय परिशुद्धि का दूसरा भाग कही जा सकती है, क्योंकि इसमे न्यायपरिशुद्धि के अन्तिम अध्याय का अन्तिम भाग (जिसे अद्रव्य परिच्छेद कहा जाता है जो नष्ट भी हो चुका है) से लिया गया है। इसे तर्क सिद्धाञ्जन भी कहते हैं। वेदान्त देसिक स्वयं इसे न्याय परिशुद्धिका पूरक मानते हैं।

प्रमेय मीमांसा का विस्तार से विवेचन करने के लिए न्याय सिद्धाञ्जन की रचना की गयी है जिसे छः परिच्छेदों में विभक्त किया गया है, जो निम्न हैं:–

१. जड़ परिच्छेद।

२. जीव परिच्छेद।

३. ईश्वर परिच्छेद।

४. नित्यविभूति परिच्छेद।

५. वुद्धि परिच्छेद।

६. अद्रव्य परिच्छेद।

चतुर्थ – अध्याय
(जड़द्रव्य परिच्छेद)

१. प्रकृति क्या है।

२. क– प्रकृति का स्वरूप – न्याय सिद्धाञ्जन के अनुसार

(१) निरवयव पक्ष (२) सावयव पक्ष

(ख) प्रकृति का स्वरूप वेंकटनाथ के अनुसार

३. अन्य वैष्णव आचार्यो के मतानुसार प्रकृति का स्वरूप–

(क) आचार्य रामानुज के अनुसार प्रकृति

(ख) आचार्य माध्वमत के अनुसार प्रकृति

(ग) निम्बार्कमत में प्रकृति

(घ) बल्लभ दर्शन में प्रकृति

४. अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रकृति

(क) चार्वाक दर्शन में प्रकृति

(ख) जैन दर्शन में प्रकृति

(ग) बौद्ध दर्शन में प्रकृति

(घ) न्याय, वैशेषिक दर्शन में प्रकृति

(ङ) सांख्य तथा योग में प्रकृति

(च) मीमांसा दर्शन में प्रकृति

(छ) शंकर के दर्शन (अद्वैत) में प्रकृति

५. प्रकृति से जगत की उत्पत्ति

६. खण्डन

७. काल का परिचय

८. काल का प्रत्यक्ष

९. काल का स्वरूप

१०. काल का नित्यत्व

११ अन्य वैष्णव आचार्यो के अनुसार काल का स्वरूप–

(क) रामानुज के अनुसार काल का स्वरूप

(ख) माध्व के अनुसार काल का स्वरूप

(ग) निम्बार्क के अनुसार काल का स्वरूप

(घ) बल्लभ के अनुसार काल का स्वरूप

१२. अन्य दार्शनिकों के अनुसार काल का स्वरूप–

(क) चार्वाक दर्शन में काल का स्वरूप

(ख) जैन दर्शन में काल का स्वरूप

(ग) बौद्ध दर्शन में काल का स्वरूप

(घ) न्याय वैशेषिक दर्शन में काल का स्वरूप

(ङ) सांख्य, योग में काल का स्वरूप

(च) मीमांसा दर्शन में काल का स्वरूप

(छ) अद्वैत वेदान्त में काल का स्वरूप।

१३. खण्डन

पञ्चम् – अध्याय
जीव परिच्छेद

(क) **अजड़द्रव्यः–**

(ख) **प्रत्यकद्रव्यः–**

१. जीव का परिचय – न्यायसिद्धाञ्जन के अनुसार

२. जीव का स्वरूप – (वेदान्त देशिक के अनुसार)

३. वैष्णव आचार्यो के मत में जीव का स्वरूप–

(क) आचार्य रामानुज के अनुसार जीव

(ख) माध्वदर्शन में जीव का स्वरूप

(ग) निम्वार्क सम्प्रदाय में जीव का स्वरूप

(घ) बल्लभ दर्शन में जीव का स्वरूप

४. अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय में जीव का स्वरूप–

(क) चार्वाक दर्शन में जीव का स्वरूप

(ख) जैन दर्शन में जीव का स्वरूप

(ग) बौद्ध दर्शन में जीव का स्वरूप

(घ) न्याय दर्शन में जीव का स्वरूप

(ङ) वैशेषिक दर्शन में जीव का स्वरूप

(च) साख्य दर्शन में जीव का स्वरूप

(छ) योग दर्शन में जीव का स्वरूप

(ज) मीमांसा दर्शन में जीव का स्वरूप

(झ) अद्वैत वेदान्त में जीव का स्वरूप।

५ खण्डन

६. प्रपत्ति या भक्ति

(क) भक्ति का निरूपण

(ख) न्यासविद्या का निरूपण

(ग) मोक्षफल

६. प्रपत्ति का स्वरूप (वेंकटनाथ के अनुसार)

७. वैष्णव आचार्यों के मत में प्रपत्ति का स्वरूपः–

(क) रामानुजाचार्य के अनुसार प्रपत्ति का स्वरूप

(ख) माध्व दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप

(ब) निम्बार्क दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप

(घ) बल्लभ दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप

८. अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रपत्ति का स्वरूप

(क) चार्वाक दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप

(ख) जैन दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप

(ग) बौद्ध दर्शन मे प्रपत्ति का स्वरूप

(घ) न्याय दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप

(ङ) वैशेषिक दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप

(च) सांख्य दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप

(छ) योग दर्शन में प्रपत्ति

(ज) मीमांसा दर्शन में प्रपत्ति

(झ) वेदान्त दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप।

षष्ठ – अध्याय
(ईश्वर परिच्छेद)

१ न्यायसिद्धाज्जन के अनुसार ईश्वर

२. ईश्वर की सगुणता

३. ईश्वर के विविध रूप

(क) पररूप (ख) व्यूह रूप

४. व्यूह रूपों का प्रयोजन

५. विभव रूप

६. अन्तर्यापी रूप

७. अर्चावतार रूप

८. ईश्वर का स्वरूप – वेंकटनाथ के अनुसार

९. अन्य वैष्णव आचार्य के मत में ईश्वर

(क) रामानुज के अनुसार ईश्वर

(ख) माध्क के अनुसार ईश्वर

(ग) निम्वार्क के अनुसार ईश्वर

(घ) बल्लभ के अनुसार ईश्वर

१०. अन्य दर्शनिकों के अनुसार ईश्वर–

(क) चावार्क दर्शन मे ईश्वर (ख) न्याय दर्शन में ईश्वर

(ग) बौद्ध दर्शन मे ईश्वर (घ) जैन दर्शन में ईश्वर

(ङ) वैशेषिक दर्शन मे ईश्वर (च) सांख्य दर्शन में ईश्वर

(छ) योग दर्शन में ईश्वर (ज) मीमांसा दर्शन में ईश्वर

(झ) वेदान्त दर्शन में ईश्वर

११. खण्डन

सप्तम् – अध्याय
नित्यविभूति परिच्छेद

१. नित्यविभूति क्या है?

२. नित्यविभूति का भोग्यत्व

३. नित्यविभूति की दिव्यता

४. नित्यविभूति का स्वरूप

५. नित्यविभूति के प्रमाण

६. नित्यविभूति की अनन्तता

७ नित्यविभूति का स्वयं प्रकाशत्व

८. नित्यविभूति की विविध रूपता

९. ईश्वर और नित्यविभूति का सम्बन्ध

१०. ईश्वर मुक्त एवं नित्य का सम्बन्धः–

११. अन्य वैष्णव आचार्यो के अनुसार नित्यविभूति–

(क) रामानुज के अनुसार (ख) माध्व के अनुसार

(ग) निम्वार्क के अनुसार (घ) बल्लभ के अनुसार

१२ खण्डन

अष्टम् – अध्याय
बुद्धि परिच्छे ·

१. बुद्धि का लक्षण एवं स्वरूप

(क) स्वयं प्रकाशत्व

(ख) अनुमेयवाद का खण्डन

२ वैष्णव आचार्य भट्टपराशर के अनुसार बुद्धि का स्वरूप

३. वरदविष्णु मिश्र के अनुसार बुद्धि का स्वरूप–

(क) ज्ञान का संकोच विकास

(ख) धाराबाल्कि ज्ञान

(ग) प्रज्ञा परित्राण

(घ) शास्त्र सम्मत रति इत्यादि स्थाई भावों की स्थिति।

४. अन्य वैष्णव आचार्यो के अनुसार बुद्धि का स्वरूप–

(क) आचार्य रामानुज के अनुसार बुद्धि का स्वरूप

(ख) निम्बार्क दर्शन में बुद्धि का स्वरूप।

(ग) माध्व दर्शन में बुद्धि का स्वरूप।

(घ) बल्लभ दर्शन में बुद्धि का स्वरूप।

५. अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय में बुद्धि की स्वरूपः–

(क) चार्वाक दर्शन में बुद्धि का स्वरूप

(ख) बौद्ध एवं जैन दर्शन में वृद्धि का स्वरूप।

(घ) न्याय दर्शन में बुद्धि का स्वरूप।

(ङ) वैशेषिक दर्शन में बुद्धि का स्वरूप

(च) सांख्य तथा योग दर्शन में बुद्धि का स्वरूप।

(छ) मीमांसा दर्शन में बुद्धि का स्वरूप

(ज) वेदान्त दर्शन में बुद्धि का स्वरूप

६ खण्डन

नवम् – अध्याय
(अद्रव्य परिच्छेद)

अद्रव्यः–

१. अद्रव्य क्या है–

२. अद्रव्य का लक्षण।

३ अद्रव्य के भेद या प्रकार

४. न्याय सिद्वाज्जन के अनुसार अद्रव्यो का निरूपणः–

(क) त्रिगुण निरूपण
(ख) शव्द निरूपण,
(ग) स्पर्शनिरूपण
(घ) रूप का निरूपण
(ङ) रस का निरूपण
(च) गन्ध का निरूपण
(छ) संयोग का निरूपण
(ज) शक्ति का निरूपण
(झ) गुरुत्व कानिरूपण
(ञ) द्रवत्य का निरूपण
(र) स्नेंह का निरूपण
(ट) वासना या संस्कार का निरूपण
(ठ) संख्या का निरूपण
(ढ) परिमाण का निरूपण
(ण) पृथकत्व का निरूपण
(त) विभाग का निरूपण
(थ) परत्वापरत्व का निरूपण
(द) कर्म का निरूपण
(ध) सामान्य का निरूपण

५. अन्य दर्शनों में अद्रव्य का स्वरूपः–

(क) न्यायदर्शन में अद्रव्य का स्वरूप

(ख) वैशेषिक दर्शन में अद्रव्य का स्वरूप

(ग) जैन दर्शन में अद्रव्य का स्वरूप

(घ) मीमांसा दर्शन में अद्रव्य का स्वरूप

(क) प्रभाकर के अनुसार अद्रव्य का स्वरूप

(ख) कुमारिल के अनुसार अद्रव्य का स्वरूप

(ङ) बौद्ध दर्शन में अद्रव्य का स्वरूप

५. वैष्णव दर्शन में अद्रव्य का स्वरूप—

(क) माध्वदर्शन के अनुसार अद्रव्य का स्वरूप

(ख) निम्बार्क दर्शन में अद्रव्य का स्वरूप

(ग) बल्लभ दर्शन में अद्रव्य का स्वरूप

दशम् अध्याय

उपसंहार

अधीतं ग्रन्थ माला

प्रथम अध्याय

विशिष्टाद्वैत वेदान्त – उद्भव और विकार

१. दर्शन का तात्पर्य

२. दर्शन का उत्पत्ति

३. भारतीय दर्शन का स्वरूप

(क) नास्तिक दर्शन

(ख) आस्तिक दर्शन

४. वेदान्त के विभिन्न सम्पद्राय

(क) अद्वैत वेदान्त

(ख) वेदान्त के अन्य वैष्णव सम्प्रदाय

५. विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन का तात्पर्य

६. विशिष्टाद्वैत दर्शन का उद्भव

(क) वैदिक वाड्मय में विशिष्टाद्वैत

(ख) पुराणों में विशिष्टाद्वैत

(ग) इतिहास–ग्रन्थों में विशिष्टाद्वैत

(घ) आगम–साहित्य मे विशिष्टाद्वैत

(ङ) आलवार–साहित्य में विशिष्टाद्वैत

७. विशिष्टाद्वैत दर्शन का विकास एवं आचार्य परम्परा

(क) आचार्य नाथमुनि

(ख) आचार्य यामुन

(ग) आचार्य रामानुज एवम् अन्य

दर्शन का अर्थ

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। फलतः उसके सामने फैला विशाल विश्व तथा उसका अपना जीवन उसके समक्ष कुछ ऐसी गुत्थियाँ, कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित करते हैं जो जीवन के किसी विशेष पहलू से सम्बन्धित नहीं होते तथा जिनपर चिन्तन करने के लिए वह बाध्य हो जाता है। 'दर्शन' मनुष्य के इसी प्रकार के चिन्तन की उपज है। विश्व तथा जीवन के सम्बन्ध में ऐसे ही व्यापक ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासावश मनुष्य दार्शनिक चिन्तन प्रारम्भ करता है। इसलिए कहा जा सकता है कि दर्शन विश्व तथा जीवन को उसकी समग्रता में समझने का एक बौद्धिक प्रयास है।

'दर्शन' शब्द 'दृशिर्' प्रेक्षणे धातु से करण अर्थ में ल्युट् (अन) प्रत्यय लगकर बना है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है – 'दृश्यते अनेनेति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा प्रकृष्ट रूप से देखा जाय, वह दर्शन है। भाव अर्थ में दर्शन का तात्पर्य 'दृश्यते इति दर्शनम्' अर्थात् जो देखा जाय, वह दर्शन है। इस प्रकार जो देखा जाय तथा जिसके द्वारा देखा जाय वह दोनों ही दर्शन है। अमरकोश मे दर्शन का अर्थ अवलोकन या ईक्षण किया गया है।[1]

भारतीय दर्शन में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग

के करणभूत–प्रज्ञा चक्षु के अर्थ में ही नहीं हुआ है, बल्कि तत्त्वसाक्षात्कार की प्राप्ति के उपायो के रूप में भी हुआ है। तत्त्व का साक्षात्कार ही दर्शन का साध्य है तथा तत्त्व कहते हैं ब्रह्म के यथावत् स्वरूप को।[2] इसी तत्त्व या ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के साक्षात्कार को ही दर्शन कहते हैं। मनु ने इसी तत्त्व साक्षात्कार को 'सम्यक् दर्शन' कहा है।[3]

---

1. दर्शनालोकनेक्षण – **अमरकोश**, ३/२/३१.
2. तद् इति सर्वनाम, सर्व च ब्रह्म तस्य नाम तद् इति तद्भावः, तत्त्वं ब्रह्मणो याथात्म्यम् -- **शंकरकृत गीता भाष्य।**
3. सम्यक्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
   दर्शनने विहीनस्तु संसार प्रतिपद्यते।। **मनुसंहिता**, ६/७४.

'दर्शन' शब्द का प्रयोग पाश्चात्य वाङ्मय में 'फिलॉसफी' के रूप में किया गया है, किन्तु भारतीय एवं पाश्चात्त्य विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। पाश्चात्य वाङ्मय में फिलॉसफी शब्द 'फाइलॉस' तथा 'सोफिया' इन दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसमे फाइलॉस का अर्थ है 'अनुराग' या 'प्रेम' तथा सोफिया का अर्थ है 'ज्ञान। इस प्रकार फिलॉसफी का अर्थ हुआ ज्ञान के प्रति अनुराग या प्रेम। पाश्चात्य जगत् में फिलॉसफी का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है। इस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिकों के लिए 'दर्शन या फिलासफी बौद्धिक व्यायाम या बौद्धिक विलास की वस्तु होकर रह गया है। यद्यति काण्ट, प्लेटों, शॉपेनहावर जैसे पाश्चात्य दार्शनिक विचारकों ने फिलॉसफी को इसकी मूल परिधि से उठाकर व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया है, किन्तु अन्य दार्शनिकों के लिए अभी भी 'फिलॉसफी' बौद्धिक विलास से अधिक कुछ नहीं है। यही भारतीय 'दर्शन' और पाश्चात्य 'फिलॉसफी' का भेद है।

दर्शन की उत्पत्ति–

दर्शन की उत्पत्ति कैसे और कहाँ हुई? इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। प्रायः भारतीय विद्वान् संशय[1] या जिज्ञासा से दर्शन की उत्पत्ति मानते हैं। ऐसा लगता है कि जब मानव के लिए किसी कर्त्तव्य का विधान किया होगा, सुखप्राप्ति तथा दुःखनाश के उपाय बताए गए होंगे, तब उसे अपने स्वरूप तथा जगत् के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई होगी। उसी से दर्शन की उत्पत्ति हुई होगी। कम से कम भारतीय दर्शन के मूल में यही प्रवृत्ति दिखायी देती है। पाश्चात्य विद्वान् 'दर्शन' की उत्पत्ति 'आश्चर्य' से मानते हैं किन्तु भारतीय विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। वे तो जिज्ञासा से ही परमसत् को पाना चाहते हैं।[2] कुछ दुःख से भी दर्शन की उत्पत्ति मानते हैं, किन्तु उसकी परिणति दुःखनाश में करते हैं।

---

1. नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थेन्यायः प्रवर्तते किन्तु संदिग्धे। न्यायसूत्र पर वात्स्यायनभाष्य.
2. 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' –ब्रह्मसूत्र, १/१/१, 'तद्विजिाासस्व तद्ब्रह्मेति'–तैत्तिरीयउपनिषद, ३/१.

जहाँ तक भारतीय दर्शन के उत्पत्ति स्थान का सम्बन्ध हैं, विद्वानों का विचार है कि ऋग्वेद मे भारतीय दार्शनिक प्रवृत्ति का बीज प्राप्त होता है, जहाँ यह कहा गया है कि सबसे पहले पुरुष ही एकमात्र सत् तत्त्व था और वही आगे भी रहेगा।[1] वहीं आगे कहा गया है कि उस सत् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, ऊरुओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई।[2] ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के पहले न सत् था, न असत् था, रजस् पातालपर्यन्त पृथ्वी आदि लोक भी नहीं थे। अन्तरिक्ष नहीं था, तो फिर क्या था? क्या जल ही जल था?[3] इस प्रकार ऋग्वेद में जिज्ञासापरक, उत्त्वपरक वाक्यों से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि दर्शन की उत्पत्ति जिज्ञासा से हुई और इसका स्रोत मुख्यतः ऋग्वेद ही है। चूँकि ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् वेद के ही भाग हैं, इसलिए ये ग्रन्थ भारतीय दर्शन के मूल तो क्या, स्वयं भारतीय दर्शन हैं।

भारतीय दर्शन का स्वरूप–

भारतीय दर्शन मूलतः आध्यात्मिक है। प्रायः प्रत्येक भारतीय दार्शनिक 'आत्मा' की सत्ता को स्वीकार करता है चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो। इसी अध्यात्मपरता से उद्वेलित होकर सभी दार्शनिक एक 'परमसत्ता' की जिज्ञासा करते रहे हैं। इसी आध्यात्मिक मनोवृत्ति से उनके मन में विक्षोभ उत्पन्न हुआ जिसके कारण उनमें विचार की उत्पत्ति हुई और इस विचार को उन्होंने त्रिविध दुःखों के निवारणार्थ प्रयुक्त किया। इसीलिए भारतीय दर्शन पर जो यह मिथ्या आरोप लगाया जाता है कि यह निराशावादी है, वह पूर्णतः निराधार है। यद्यपि भारतीय दर्शनों में दुःख–कातरता दिखायी देती है फिर भी वह उसका ध्येय नहीं है वरन् उससे मुक्ति ही उसका परम ध्येय है। अतः भारतीय दर्शन निराधावादी नहीं वरन् आशावादी है।

---

1. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभाव्यम्।
   उतामृतत्वस्येशानों यदन्येनातिरोहति।।– **ऋग्वेद, १०/६/२.**
2. वही, १०/९०/१२
3. नासदासीन्न सदासीत्तदानीं, नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्।
   किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भ किमारीत् गहनग् गभीरम्।।
   –ऋग्वेद, १०/१२९/१.

स्वरूप के आधार पर भारतीय दर्शन को दो भागों में बाँटा जा सकता है– नास्तिक तथा आस्तिक। प्रायः यह कहा जाता है कि 'ईश्वर' को मानना, न मानना, आरितक और नास्तिक होना है, जैसा कि पाणिनि मानते हैं। पाणिनी के अनुसार परलोक बुद्धि वाला आस्तिक और उससे भिन्न व्यक्ति नास्तिक कहा जाता है।[1] किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है, क्योंकि मीमांसा, और सांख्य ईश्वर को नहीं मानते हैं फिर भी नास्तिक कहे जाते हैं। आस्तिक और नास्तिक की एक दूसरी परिभाषा मनु न दी है जो प्रायः सर्वमान्य है। मनु के अनुसार वेद के प्रामाण्य को मानने वाला आस्तिक है तथा वेद को अप्रामाण्य मानने वाला नास्तिक है।[2]

इस प्रकार वेद की निन्दा करने वाला नास्तिक है तथा वेद में विश्वास करने वाला आस्तिक है। भारतीय दर्शन, नास्तिक तथा आस्तिक के इसी स्वरूप के आधार पर दो भागों–नास्तिक तथा आस्तिक में बॉटा गया है। नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन एवम् आस्तिक दर्शनों में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा या वेदान्त की गणना होती है। इन्हें षड्दर्शन कहा जाता है।

नास्तिक दर्शन

चार्वाक दर्शन–

नास्तिक दर्शनों में सर्वप्रथम चार्वाक या लोकायत का नाम लिया जाता है। इसके आदि आचार्य बृहस्पति माने गये हैं। यह एक जड़वादी, भौतिकवादी दर्शन है। यह सुखवाद का प्रतिपादक है। इसका सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है कि जब तक व्यक्ति जीवित रहे, सुखपूर्वक जिये तथा ऋण लेकर घृत पिये। इस शरीर के नष्ट हो जाने पुनः इस संसार में आगमन कहाँ?[3] यह केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है।[4] अनुमान और शब्दादि

---

1. अस्ति नास्ति दिष्ट मतिः। सिद्धान्तकौमुदी, ४/४/६०.
   अस्ति परलोकम् इति मतिर्यस्य स आस्तिकः, नारित परलोकम् इति मतिर्यस्य स नास्तिकः। वही, ४/४/६०, पर भट्टोजिदीक्षितकृत व्याख्या।
2. योऽवमन्येत ते मूले हेतु शास्त्रनयादि्वज.।
   स साधुभिर्बहिः कार्यो नास्तिको वेद निन्दकः। मनु० २/११.
3. गावज्जीवत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्या घृत पिबेत्।
   भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।। रार्वदर्शनराङ्ग्रह
4. प्रत्यक्षमेवैकैव प्रमाणम्। – वृहस्पतिसूत्र २०.

प्रमाणों को निराधार मानता है। यद्यपि यह प्रत्यक्षतः आत्मा की सत्ता नहीं मानता, किन्तु देह को ही आत्मा कहता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि चार्वाक भी आत्मा जैसे परमसत् तत्त्व को नकार नहीं सके। यद्यपि ईश्वर या परलोक में इनका विश्वास कदापि नही था 'काम' को ही इन्होंने एकमात्र पुरुषार्थ तथा 'मरण' को ही मोक्ष माना।[1] आगे चलकर कुछ चार्वाकों ने काम के साथ–साथ धर्म को भी जोड़ दिया। यदि अर्थ और काम धर्म से समन्वित शासित नहीं है तो सर्वोच्चसुख प्राप्त नहीं हो सकता। धर्म, अर्थ और काम से समन्वित जीवन ही सुखी हो सकता है।[2] चार्वाक, पृथ्वी, जल, तेज, और वायु इन चार तत्त्वों को ही महाभूत मानते हैं तथा इनसे चैतन्य शरीर की उत्पत्ति मानते हैं।[3] आज चार्वाकों का कोई भी मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। दर्शन के ग्रन्थों में इस मत की यत्र–तत्र चर्चा है। सर्वदर्शनसंग्रह में चार्वाकों के सिद्धान्तों का संकलन किया गया है।

जैन दर्शन–

अवैदिक दर्शनों में दूसरा जैन दर्शन है। यह भी एक प्राचीन दर्शन है, जिसके प्रवर्तक महावीर स्वमी माने जाते हैं। इसके प्राचीन आचार्यो में उमास्वाति स्वामी का नाम सादर लिया जाता है। जैन दर्शन में सूक्ष्म समस्याओं पर विचार किया गया है। इसके अनेकान्तवाद[4] तथा स्वाद्वाद सिद्धान्त मौलिक सिद्धान्त हैं। इनका अभिप्राय यह है कि विविध दृष्टियों से वस्तु के विविध रूप सत्य हैं। मध्ययुग में जैन–तर्कशास्त्र का भी पर्याप्त विकास हुआ। विद्धसेन दिवाकर को जैन–तर्कशास्त्र का संस्थापक कहा जाता है। आगे चलकर अकलंकदेव तथा विद्यानन्द ने जैन न्याय को पर्याप्त समृद्ध बनाया। प्रभासचन्द्र के 'न्यायकुमुदचन्द्र' तथा 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामक ग्रन्थ तर्कशास्त्र की दृष्टि से पर्याप्त उपयोगी हैं। इनके अतिरिक्त हेमचन्द्रसूरि (१२वीं शदी) के 'प्रमाणमीमांसा आदि ग्रन्थों तथा मल्लिषेण की 'स्याद्रवादमंजरी' में जैन–न्याय का विशद विवेचन किया गया

बौद्ध दर्शन–

नास्तिक दर्शनों में अन्तिम दर्शन बौद्ध दर्शन है। भगवान् बुद्ध इस दर्शन के प्रतिपादक थे। 'त्रिपिटक' बौद्धों का प्रमुख एवं पवित्र ग्रन्थ है, जिसमें भगवान् बुद्ध के उपदेशो का संग्रह किया गया है। बौद्ध दर्शन के अनेक प्रस्थान है जिनमें धेरवाद सबसे प्राचीन है। बौद्ध दर्शन के उपदेशों में चार आर्यसत्यों का महत्तपूर्ण स्थान है। वे चार आर्यसत्य हैं – दुःख समुदय, दुःख निरोध, दुःख निरोध के उपाय। इन उपायों में अष्टाङ्गिक मार्गो की विशेष महत्ता है। ये आठ मार्ग हैं– सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् अजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि। इस प्रकार इन आठों मार्गो से तृष्णा तथा विद्यादि द्वादशचक्र का विनाश होकर पुनर्जन्म की संभावना खत्म हो जाती है तथा निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। आधुनिक दार्शनिकों ने बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदायों का वर्णन किया है– बैभाषिक (ब्राह्य प्रत्यक्षवादी), सौत्रान्तिक (बाह्यानुमेयवादी), योगाचार (विज्ञानवादी) तथा माध्यमिक (शून्यवादी)। योगाचार दर्शन में असंग तथा बसुबन्धु तथा माध्यमिक दर्शन में नागार्जुन का नाम महत्तपूर्ण है। दिङ्नाम को बौद्ध–न्याय का प्रथम आचार्य कहा जाता है। इनका 'प्रमाण समुच्चय' जो मूलरूप में पूर्णतया उपलब्ध नहीं है, भारतीय तर्कशास्त्र की अमूल्य निधि है। धर्मकीर्ति द्वारा लिखित प्रमाणवार्तिक, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु इत्यादि ग्रन्थ बौद्ध, तर्कशास्त्र के आधारस्तम्भ है। इनके बाद बौद्ध न्याय परम्परा में शांतरक्षित का तत्त्वसंग्रह कमलशील की तत्त्वसंग्रहपंजिका, रत्नकीर्ति तथा ज्ञानश्रीमित्र के बौद्ध – विषयक ग्रन्थ अतिमहत्तपूर्ण हैं।

आस्तिक दर्शन

साङ्ख्य दर्शन–

आस्तिक दर्शनों में सांख्य सर्वप्राचीन है। कपिलमुनि इसके प्रवर्तक माने जाते है। इनका काल बुद्ध से भी पूर्व लगभग ७०० ई० पू० माना जाता है। भारत मे कपिलमुनि ने ही सर्वप्रथम दार्शनिक विचारों को शास्त्रबद्ध किया। सांख्य दर्शन द्वैतवादी, वस्तुवादी दर्शन है तथा प्रकृति (जड़) और पुरुष (चेतना) इन दो मूलतत्त्वों के संसर्ग से सृष्टि का उद्भव व विकास मानता है। इस प्रकार यह २५ तत्त्वों को मानता है। इसका विकासवादी सिद्धांत बहुत ही वैज्ञानिक है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति एक है, पुरूष अनेक है। कपित के नाम से दो ग्रन्थ प्रचलित हैं– तत्त्वसमास और सांख्यप्रवचन सूत्र।

कपिल के पश्चात् आसुरि, पंचशिप इत्यादि अनेक आचार्य हुए, जिनके मतो का उल्लेख मिलता है, लेकिन उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। इसके अतिरिक्त ईश्वर कृष्ण का नाम आता है, जिन्होंने "सांख्यकारिका" लिखी। यह सांख्यदर्शन का सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है जिसकी अनेक टीकाएं उपलब्ध हैं जिनमें माठरवृत्ति, युक्तिदीपिका, गौडपादभाष्य, जयमंगला, तत्त्वकौमुदी तथा सांख्यचन्द्रिका प्रमुख हैं। इनमें वाचस्पति मिश्र की "तत्त्वकोमुदी" सर्वाधिक महत्तपूर्ण तथा विद्ववत्तापूर्ण है।

योगदर्शन–

योगदर्शन के मूलप्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि हैं, जिन्होंने योगसूत्र का प्रणयन किया। "योगदर्शन" में योग "समाधि" के अर्थ में आया है।[1] समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध समाधि में हो जाता है अतः चित्तवृत्तिनिरोध को ही समाधि कहते हैं।[2] इस निरोध का अर्थ है द्रष्टा (साधक) का अपने स्वरूप में (केवल्य में) स्थित हो जाना।[3] योगदर्शन में अष्टांग योग का विस्तारपूर्वक वर्णन है जिनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि आते हैं। सांख्य योग समानान्तर दर्शन कहे जाते हैं।

---

1. योगः समाधिः स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। – योगसूत्र–१, पर व्यासभाष्य।
2. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, योगसूत्र १–२.
3 तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्, वही, १–३.

योगदर्शन का तत्त्ववाद वही है जो सांख्य दर्शन का है। इसमें भी सांख्य की तरह २५ तत्त्वों का वर्णन हैं। कुछ लोग ईश्वर नामक तत्त्व के जुड़ जाने से इसे "सेश्वर सांख्य" तथा २६ तत्त्वों वाला कहते है, किन्तु यह २६ तत्त्वों वाला नहीं है क्योंकि इसका ईश्वर तो एक प्रकार का पुरुष ही है।[1]

योगसूत्रों पर सर्वाधिक प्ररिद्ध टीका "व्यासभाष्य" है। इसके अतिरिक्त 'भोजवृत्ति, मणिप्रभा आदि व्याख्याएँ भी उपलब्ध हैं। व्यासभाष्य पर वाचस्पति मिश्र का 'तत्त्ववैशारदी' तथा 'योगवार्तिक' दो प्रसिद्ध टीकाएँ हैं।

न्याय दर्शन–

न्याय दर्शन भारतीय दर्शन का तर्कशास्त्र है। यह वस्तुवादी दर्शन है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य प्रमाण–मीमांसा है। "गौतम" न्याय–दर्शन के आदि आचार्य हैं। इन्होंने न्यायसूत्र की रचना की। वात्स्यायन ने इस पर 'न्यायभाष्य' लिखा। उद्योतकर ने 'न्यायवार्तिक' की रचना की। वाचस्पति मिश्र ने इस वार्तिक को सुस्पष्ट करने के लिए 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका' लिखी। जयन्तभट्ट न्यायदर्शन के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

पहले न्याय दर्शन में ज्ञानमीमांसा के साथ तत्त्मीमांसा का भीनिरूपण किया जाता था, किन्तु तेरहवीं शदी में 'गगेश उपध्याय' की 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक पुस्तक से तत्वमीमासा का अदर्शन होकर केवल ज्ञानमीमांसा का ही निरूपण होने लगा। इसे 'नव्यन्याय' की संज्ञा दी गयी और नव्यनयाय का जनक गंगेश को कहा जाने लगा। इसके बाद नव्यन्याय का विकास बंगाल में हुआ, जिसके रघुनाथ, शिरोमणि, मथुरानाथ तर्कवागीश, जगदीश भट्टाचार्य और गदाधर भट्टाचार्य प्रमुख प्रतिपादक हैं। गौतम न्याय को प्राचीन न्याय कहा गया। प्राचीन न्याय में षोडश पदार्थों का वर्णन किया गया है। वे सोलह पदार्थ हैं– प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान। न्याय दर्शन प्रभात भारत के सभी दर्शनों पर समान रूप से पड़ा है।

---

1. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपराकृष्ट· पुरुषविशेष· ईश्वरः। –योगसूत्र–१–२४.

यद्यपि न्यायविद्या के अर्थ में 'न्याय' शब्द का प्रयोग बहुत बाद में हुआ, परन्तु न्याय शब्द बहुत प्राचीन है। पाणिनि ने एक स्थान पर 'अभ्रेष' अर्थ में नि उपसर्गपूर्वक इण् धातु से घञ् प्रत्यय करके 'न्याय' की निष्पत्ति बतायी है।[1] 'अभ्रेष' का अर्थ काशिका में 'पदार्थो का अतिक्रमण ने करना 'या' जैसा प्राप्त हो वैसा करना किया गया है।[2] इस प्रकार न्याय का अर्थ हुआ 'उचित'। संभवतः यही अर्थ विकसित होकर 'न्यायविद्या' या तर्कविद्या का रूप धारण कर लिया, क्योंकि 'न्यायदर्शन' में उचित अनुचित का विमर्श हो तो किया गया है। न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द इन चार ज्ञान के साधनों (प्रमाणों) की विस्तृत व विशद व्याख्या की गयी है।

वैशेषिक दर्शन–

'कणाद मुनि' को वैशेषिक दर्शन का आदि आचार्य माना जाता है। 'विशेष' नामक एक विलक्षण पदार्थ को मानने से इसका नाम वैशेषिक पड़ा। वैशेषिक दर्शन को 'औलूक्य दर्शन' भी कहा जाता है, क्योंकि 'बौद्ध जनश्रुति के अनुसार इस दर्शन के प्रणेता का नाम 'उलूक' था। जैन लेखक राजशेखर ने न्यायकन्दली की टीका में बताया है कि 'कणादमुनि' की तपस्या से प्रसन्न होकर ईश्वर ने उलूक के रूप में प्रकट होकर उनको पदार्थो के विषय में उपदेश दिया था। इसी आधार पर इस दर्शन का नाम औलूक्य दर्शन पड़ा।

वैशेषिक दर्शन 'सातपदार्थो को मान्यता देता है। ये 'सप्तपदार्थ हैं– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। इनमें प्रथम छः भाव पदार्थ हैं और सातवाँ अभावात्मक है। 'चन्द्र' नाम के वैशेषिक दार्शनिक ने इनमें शक्ति, अशक्ति तथा सामान्य विशेष – इन तीन अन्य पदार्थो की भी चर्चा की है। इस प्रकार इनके कुल दशा पदार्थ हो जाते हैं। ये सभी पदार्थ प्रत्यक्ष तथा अनुमान के आधार पर सिद्ध किये जाते हैं। जहां तक वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थों की बात है कणाद ने वैशेषिक सूत्रों की रचना

---

1. परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः। – पाणिनिसूत्र, ३/३/३७.
2. पदार्थानामपचारी यथाप्राप्तकरणमभ्रेषः। काशिकावृत्ति।

की। प्रशस्तपाद ने उस पर 'पदार्थधर्मसंग्रह' नामक भाष्य लिखा। इसे 'प्रशस्तपादभाष्य' भी कहा जाता है। 'प्रशस्तपादभाष्य' पर उदायनाचार्य ने 'किरणावली' और श्रीधर ने 'न्यायकन्दली' नामक टीकाऍं लिखीं। विश्वनाथ द्वारा रचित भाषापरिच्छेद या कारिकावली तथा उसी पर लिखी 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' टीका वैशेषिक दर्शन के महत्त्वूपर्ण ग्रन्थ है।

पूर्वमीमांसा दर्शन–

पूर्वमीमांसा दर्शन मीमांसा दर्शन भी कहा जाता है। मीमांसा शब्द पूजार्थकमान (पूजायाम्) धातु से सन्, अ तथा टाप् प्रत्ययों के योग से बना है। वार्तिककार कात्यायन मान् धातु को विज्ञासार्थक भी मानते हैं– 'मानेर्जिज्ञासायाम् (वा०) 'जिज्ञासा' पद लक्षणा से विचार' अर्थ का भी बोध कराता है।[1] इस प्रकार मीमांसा शब्द का अर्थ हुआ– पूजित विचार।[2] वेदों का कर्मकाण्डीय भाग ही मीमांसा है। मीमांसा के आदि आचार्य जैमिनिमुनि हैं। इसका प्रमुख विषय ब्राह्मण वाक्यों के बीच संगति स्थापित करना है, किन्तु सावतीं शताब्दी में यह सम्प्रदाय दार्शनिक विवेचन की ओर प्रवृत्त दिखायी पड़ता है। इसका श्रेय कुमारिल भट्ट और उनके शिष्य प्रभाकर मिश्र को जाता है। इनके मत क्रमशः भाट्ट तथा गुरूमत कहे गये हैं। मीमांसासूत्रों पर शबर स्वामी का शबरभाष्य है। 'श्लोकवार्तिक' कुमारिल का महत्तवपूर्ण ग्रन्थ हैं, जिन्होंने शबरभाष्य पर 'बृहती' नाम की टीका लिखी। भाट्टमत पर पार्थसारथी का ग्रन्थ 'शास्त्रदीपिका' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शालिकनाथ ने बृहती पर टीका लिखकर गुरूमत की प्रतिष्ठा की।

मीमांसा वेदों को अपौरूषेय मानता है। प्रारम्भ में मीमांसादर्शन निरीश्वरवादी था, लेकिन कालान्तर में वेदान्तदेशिक ने 'सेश्वरमीमांसा' की रचना करके इसे ईश्वरवाद की ओर प्रेरित किया जिसे परवर्ती मीमांसकों–आपदेव और लौगाक्षिभास्कर ने आगे बढ़ाया। मीमांसादर्शन के कुछ सिद्धांत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जैसे गुरुमत का

---

1. जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा – **अर्थसंग्रह, पृ० ४.**
2. पूजितविचारवचानो मीमांसाशब्दः। परमपुरुषार्थहेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलतया च विचारस्य पूजितता। **भामती, पृ० ४३.**

त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद, अख्यातिवाद, अन्विताभिधानवाद इत्यादि। इसी प्रकार भाट्टमत का ज्ञाततावाद, विपरीतश्यातिवाद, अभिहितान्वयवाद इत्यादि। न्याय के परतः प्रामाण्यवाद के विरूद्ध मीमांसा का स्वतः प्रामाण्यवाद का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है।

उत्तरमीमांसा या वेदान्त दर्शन

वेदान्त का अर्थ–

'वेदानामन्तः इति वेदान्त.' इस व्युत्पत्ति के आधार पर वेदों के 'अन्त' को 'वेदान्त कहा जाता है। यहां पर 'अन्त' शब्द का अर्थ 'निर्णय' तथा निश्चय है।[1] इस प्रकार वेदों के निर्णयार्थ, निगतितार्थ या निश्चयार्थ को ही 'वेदान्त' कहा जाता है। वेदों का यह निर्णय उपनिषदों तथा तत्सम्बन्धी ग्रन्थों में मिलता है। अतः वेदान्त उपनिषद् तथा तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का उपलक्षण है।

वेदान्त के आधार पर सम्बन्ध में सदानन्दयोगीन्द्र कहते हैं कि 'वेदान्त' उसे कहते हैं जो उपनिषद् को प्रमाण मानता हो तथा उसका अनुसरण करने वाले शारीरक सूत्र (ब्रह्मसूत्र) आदि को भी प्रमाण मानता हो। आदि शब्द से यहाँ गीता भी उपनिषदों के समकक्ष बोध्य हैं।[2] उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता प्रस्थानत्रयी के नाम से अभिहित किए गए हैं। प्रस्थानत्रयी के अतिरिक्त आचार्य रामनुज तो आगम साहित्य तथा द्रविडाम्नाय आदि को भी 'वेदान्त' की कोटि में रखते हैं। 'वेदान्त' को उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। वेदों के कर्मकाण्डीय भाग को पूर्वमीमांसा तथा ज्ञानकाण्डीय भाग को उत्तरमीमांसा कहता जाता है। इन ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्त ही 'वेदान्त दर्शन' हैं प्रस्थान ग्रन्थों में मुख्यतः ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया गया है[3] अतः वेदान्त का प्रतिपाद्यविषय भी 'ब्रह्म' है।

---

1. निर्णयोऽन्तश्य निश्चयः। –वैजयन्तीकोश, ३/६/१७६.
2. वेदान्तों नामोपनिषत्प्रमाण तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च। वेदान्तसार, ३.
3 प्रतितिष्ठाति ब्रह्मविद्या येषु तत् प्रस्थानम् इति।

वेदान्त दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय–

'वेदान्त' साहित्य में मुख्यतः उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता इन प्रस्थान ग्रन्थो की गणना होती है। इनमें ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्र जिसकी रचना भगवान् बादरायण ने की थी, का प्रमुख स्थान है। बादरायण ने उपनिषदों का निचोड़ सूत्रों में आबद्ध किया हैं। अत. उनकी व्याख्या भिन्न–भिन्न ढंग से होने लगी। विभिनन भाषयकारों ने अपनी–अपनी दृष्टि से वेदान्त का प्रतिपादन किया। इन तरह प्रत्येक भाष्यकार एक–एक वेदान्तसम्प्रदाय का प्रवर्तक बन गया। इस तरह अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत तथा शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय चल पड़े।

अद्वैत वेदान्त–

महर्षि बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में जैमिनी, आध्मरथ्य, बादरि, औडुलोमि, काशकृत्स्न, कार्ष्णाजिनि और आत्रेय इन पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है। इनमें काशकृत्स्न अद्वैतवादी थे, क्योंकि शंकराचार्य ने उनक`मत को श्रुत्यनुकूल और मान्य बताया है। शंकराचार्य ने द्रविडाचार्य को आगमवित् के रूप में उल्लिखित किया हैं, अतः संभव है ये भी अद्वैती थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने उपवर्ष का उल्लेख वृत्तिकार के रूप में किया हैं, लेकिन यह कहना कठिन है कि वे अद्वैती थे या विशिष्टिाद्वैती। ब्रह्मदत्त और सुन्दरपाण्ड्य भी संभवतः शंकरपूर्व अद्वैती थे। 'सुप्रसिद्ध व्याकरण दार्शनिक भर्तृहरि भी अद्वैतवाद और विवर्तवाद के पोषक थे।

गौड़पाद की माण्डूक्यकारिका जिसे 'आगमशास्त्र' भी कहा जाता है, अद्वैत वेदान्त का प्रथम उपलब्ध दार्शनिक ग्रन्थ है। यह गौरवमय मान्य उपनिषद् सारभूत अद्वैत तत्त्व की अपनी मार्मिक और प्राञ्जल कारिकाओं में सुसंगत प्रतिपादन करता है और अलातशांति हैं। इसमें ओङ्कार को ब्रह्म या परमात्मतत्त्व बताया गया है। 'ओह्म्', के अ, उ, म, इन तीन मात्राओं द्वारा आत्मा के तीन पादों–विश्व, तैजस और प्राज्ञ का प्रतिपादन किया गया। चौथी मात्रा जो अमात्र है वह तुरीय की है जो इन तीनों का

अन्तर्यामी परमात्य तत्त्व है। इन कारिकाओं में जगत् के वैतथ्य या मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया गया है। अजातिवाद तथा अस्तर्शयोग आदि गौड़पाद के प्रसिद्ध सिद्धान्त हैं।

अद्वैत दर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर हैं। इन्हें अद्वैत वेदान्त का पर्याप माना जाय तो अत्युक्ति न होगी। कहा जाता है अिक जिस समय धर्मवेद विरोधी साम्प्रदायिक तत्त्वों से आक्रान्त हो गया, वैदिक मर्यादा छिन्न–भिन्न होने लगी, उस समय देवी, देवगण तथा मनुष्यो ने धर्म संस्थापनार्थ त्रिशूलपाणि भगवान् शंकर की हार्दिक आराधना की। उन सबको सान्त्वना देकर आधुतोष भगवान् शंकर दक्षिण भारत के करेल प्रान्त के कालडी ग्राम में आठवीं शती के उत्तरार्द्ध में एक वेदज्ञ ब्राह्मणशिवगुरू और विशिष्टा के यहॉ शंकर नाम से अविर्भूत हुए। यही शंकर आगे चलकर शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए।[1]

द्वयोर्भावः द्विता, द्वितैव द्वैतम्, न द्वैतम इति अद्वैतम् इस प्रकार द्वैत के अभाव अर्थात् ब्रह्म और जीव के द्वैत के अभाव को ही अद्वैत कहा जाता है। दो से भिन्न अर्थात् एक को 'अद्वैत' नहीं कहा जा सकता। यदि 'अद्वैत का अर्थ 'एक' करेंगे तो 'अद्वैत सिद्धान्त ही खण्डित होगा और अद्वितीय तत्त्वच ब्रह्म संख्या में बेंध जायेगा जो अनिष्ट होगा।

आचार्य शंकर का सुपसिद्ध अद्वैतवादी सिद्धान्त है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म ही है, इससे भिन्न नहीं।[2] ब्रह्म और आत्मा अभिन्न हैं, दोनों परमतत्त्व के पर्याय हैं। जगत् माया की प्रतीति है। जीव और जगत् दोनों मायाकृत हैं। जिस प्रकार रज्जू भ्रम में सर्प के रूप में प्रतीत होती है और रज्जू का ज्ञान हो जाने पर सर्प का बाध हो जाता है, उसी प्रकार बंह्म, अविद्या या माया के कारण जीव जगत् प्रजञ्चरूप में प्रतीत होता है और निर्विकल्प अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ब्रह्मानुभव होने पर जीव

---

1. दृष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतले। स एवं शंकराचार्यः साक्षात् कैवल्यनायक ।।
2. ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापर· । **शंकरकृत ब्रह्मज्ञानावलीमाला।**

जगत् प्रपञ्च की अपरोज्ञानुभूति द्वारा ब्रह्मानुभव होने पर जीव जगत् प्रपञ्च का बाधा हो जाता है। यही मोक्ष या आत्मज्ञान का स्वरूप है।

शंकर के बाद के अद्वैत के आचार्यों में शंकर के शिष्य सुरेश्वराचार्य तथा पद्मपादाचार्य, वाचस्पति, मिश्र, सर्वज्ञात्ममुनि, विमुक्तात्मा, प्रकाशत्मयति, श्रीहर्ष, आनन्दबोध, चित्सुखाचार्य, अमलानन्द, स्वामी विद्यारण्य, प्रकाशानन्दयति, मधुसूदन सरस्वती, ब्रह्मानन्द सरस्वती, नृसिंह आश्रम सरस्वती, अप्पयदीक्षित, धर्मराजाध्वरीद्र और सदानन्दयोगीन्द्र आदि प्रमुख हैं। वाचस्पति मिश्र ने शारीरक भाष्य पर 'भामती' नामक विश्रुतटीका लिखी। पदम्पादाचार्य ने चतुःसूत्री पर प्रकाशात्मयति की विवरण टीका है। सुरेश्वराचार्य ने शंकर के वृहदारण्यक भाष्य पर तथा तैत्तिरीय भाष्य पर वार्तिक लिखे। नैष्कर्म्यसिद्धि, उनका प्रसिद्ध स्वतंत्र ग्रन्थ है। श्री हर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य नामक ग्रन्थ लिखा। इस प्रकार अद्वैतदर्शन की एक समृद्ध आचार्य परम्परा है।

वेदान्त के अन्य वैष्णव सम्प्रदाय–

वैष्णव सम्प्रदायों के रूप के बारे में भक्त नाभादास ने अपने एक छप्पय में कहा है कि जैसे भगवान् के चौबीस अवतार हुए हैं वैसे ही कलियुग में भगवान् के चार व्यूह प्रकट हुए हैं जो क्रमशः रामानुजाचाय्र, विष्णु स्वामी, मध्वाचार्य तथा निम्बार्काचार्य हैं। इन चार आचार्यों ने प्राचीन नारायण–धर्म, सात्वत धर्म, या भागवतधर्म को एक नया रूप दिया है। इन्होंने ही वैष्णव मत की स्थापना की और इस मत को एक परमधर्म तथा परमदर्शन के रूप में स्थापित किया।

रामानुज का सम्प्रदाय श्रीवैष्णव सम्प्रदाय कहा जाता है। विष्णुभक्त श्री या महालक्ष्मी ने इसका प्रवर्तन किया है। निम्बार्काचार्य का सम्प्रदाय हंस–सम्प्रदाय कहा जाता है। इसके आदि प्रवर्तक विष्णुभक्त जनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन हैं। वे सभी परमहंस हैं। इसलिए इस सम्प्रदाय को हंस सम्प्रदाय कहा जाता है। मध्वाचार्य का सम्प्रदाय ब्रह्मसम्प्रदाय है। विष्णुभक्त ब्रह्मा इसके आदि प्रवर्तक हैं। विष्णुस्वामी का

सम्प्रदाय रुद्र–सम्प्रदाय कहा जाता है। इसके आदि प्रवर्तक विष्णुभक्त रुद्र हैं। इनके मुख्य प्रचारक बल्लभाचार्य हैं।

इन चार सम्प्रदायों के अतिरिक्त भी अनेक भी वैष्णव सम्प्रदाय हैं, जैसे गौडीय सम्प्रदाय, रामानन्द सम्प्रदाय, राधावल्लभी सम्प्रदाय, सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय आदि। इन सम्प्रदायों में गौडीय सम्प्रदाय का महत्त्व उपर्युक्त चार सम्प्रदायों की भांति हो गया है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु चैतन्य हैं। इनके संन्यास, गुरु केशव भारती थे जो मध्वाचार्य के सम्प्रदाय की शाखा मानते हैं, किन्तु इन दोनों सम्प्रदायों के दर्शन–पक्ष तथा साधना–पक्ष भिन्न–भिन्न हो गये हैं। अतः गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय मध्वाचार्य के ब्रह्मसम्प्रदाय से भिन्न है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त का तात्पर्य–

'द्वयोर्भावः द्विता, द्विता एवं द्वैतम्, न द्वैतम् इति अद्वैतम्, विशिष्टं च विशिष्टं च इति विशिष्टं, विशिष्टयोः अद्वैतम् इति विशिष्टाद्वैतम्, किं तावत् विशिष्टत्वम्? सूक्ष्म चिदचित् विशिष्टं कारणब्रह्म, स्थलचिदचित्विशिष्टं कार्यब्रह्म तयोरद्वैतमेव विशिष्टाद्वैतम्। सूक्ष्मत्वं नाम नामरूपविभागानर्हत्वम्। स्थूलन्तु नामरूप विभागार्हत्वम्– इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं। सूक्ष्म चिदचित् विशिष्ट कारणब्रह्म तथा स्थूलचिदचित्विशिष्ट कार्यब्रह्म के अद्वैत को। नामरूप और विभाग से रहित को 'सूक्ष्म' कहते हैं तथा 'नाम', रूप और विभाग से युक्त को 'स्थूल' कहते हैं। इस प्रकार सूक्ष्मचिदचिद् विशिष्ट कारणब्रह्म अर्थात् ईश्वर तथा स्थूल चिदचिद्विशिष्ट कार्यब्रह्म अर्थात् 'जीव' के अद्वैत को विशिष्टाद्वैत कहते हैं।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त का उद्भव–

चूंकि दर्शन का उत्पत्ति स्थान वैदिक वाङ्मय है इसलिए विशिष्टाद्वैत वेदांत के सिद्धान्तों के बीज भी वैदिक वाङ्मय से ही प्राप्त होते हैं। इसके बाद पुराणों,

इतिहासग्रन्थों आगमसाहित्य तथा आलवार साहित्य में भी विशिष्टाद्वैत तत्त्व भरे पड़े हैं। जिनका क्रमबद्ध विवेचन इस प्रकार है—

वेदों में विशिष्टाद्वैत—

वैदिक वाड्मय के अन्तर्गत चारों वेदों में ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। ऋग्वेद की अनेकानेक ऋचाएँ यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में भी पायी जाती हैं। अतः विशिष्टाद्वैत के उद्गम की दृष्टि से सर्वप्रथम इस ऋग्वेद पर ही विचार करते है आर्यो के धर्मदर्शन में सृष्टि की रचना एवं विश्व के संचालन के लिए ईश्वर, जीव एवं प्रकृति (जगत्) उसी प्रकार स्वीकार की गयी है, जिस प्रकार विशिष्टाद्वैत दर्शन में चित् (जीव) अचित् (जगत्) और ईश्वर—इस तत्त्वत्रय की सत्ता स्वीकार की गयी है। ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' तथा नासदीय सूक्त में 'परमपुरुष' से इस सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। पुरुष सूक्त में यह वर्णित है कि परमपुरुष (ईश्वर) के असंख्य सिर, हाथ, पैर, आंख आदि हैं और वह ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके स्थित हैं—

सहस्रशीर्ष पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात।

स भूमिंविश्वतो वृत्वात्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्।। ऋग्वेद—१०.६०.

नासदीय सूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के पहले न असत् था और न ही सत् का रजस् पातालपर्यन्त पृथ्वी आदि लोक भी नहीं थे, अन्तरिक्ष नहीं था, तो फिर क्या था? क्या जल ही जल था?

नासदासीन्न सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरोयत्।

किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीत्गहनमृगभीरम्।।

ऋग्वेद—१०/१२६/१

इसके उत्तर में कहा गया है कि पहले पहल न तो मृत्यु थी और न ही अमृतत्व था। रात्रि और दिन का ज्ञान भी नहीं था। बस एक ही तत्व 'ब्रह्म' था जो अपनी माया से अविभक्त एकरूप विद्यमान थाः–

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अहन् आसीत्प्रकेतः।
अनादीवातं स्वधया[1] तदेकं तस्याद्वान्यन्न परं किंचनास।।

ऋग्वेद–१०/१२६/२

इस प्रकार सविशेष ईश्वर को ही इस सृष्टि का विमित्तोपादान कारण माना गया है। ईश्वर, प्रकृति तथा जीव इस तत्वत्रय को ऋग्वेद के एक–एक श्लोक द्वारा बहुत ही अच्छे ढंग से समझाया गया है :–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्यनश्नन्नन्यो अभिचारूशीति।।

ऋग्वेद– ७/१६४/२०

विशिष्टाद्वैतसम्मत मुक्ति के साधनभूत 'भक्तितत्तव' के मूल की दृष्टि से ऋग्वेद का ही उल्लेख सर्वप्रथम आता है।, ऋग्वेद के संहिता भाग में कर्मकाण्ड की बहुलता के बाद भी संहिता भाग के इन मंत्रों (ऋचाओं) में यज्ञादि कर्मकाण्ड को सुसम्पन्न करने के लिए वैदिक ऋषियों द्वारा विभिन्नदेवताओं की प्रार्थनाएँ, स्तुतियाँ की गयी हैं। इन ऋचाओं के गाढ़ अनुशीलन से पता चलता है कि 'भक्ति के जिस स्वरूप का प्रतिपादन विशिष्टाद्वैतदर्शन में किया गया है, भक्ति अपने उस रूप में संहिता या ब्राह्मण भाग में भले उपलब्ध न हो किन्तु भक्ति का मूलत्त्व स्नेह या अनुराग विभिन्न ऋषियों की देवताओं को लक्ष्य करके की गयी स्तुतियों में स्पष्ट झलकता है।[2] ये स्तुतियॉ या प्रार्थनाएँ इतनी मार्मिकता के साथ की गयी हैं कि इनके स्तोता के हृदय में अपने स्तूयमान देवता के प्रति उत्कट प्रेम का अभाव मानना अत्यन्त उपहास्पद होगा।

---

1 स्वधवामायया युक्तं एकमेव ब्रह्म आसीत् इति तात्पर्यम् – सायणाभष्य।

2. तमस्तोतारः पूर्व्यं यथाविद्, ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम किंचिद् विविस्तन्, महस्ते विष्णुः सुयतिं भजामहे।। –ऋग्वेद – १/१५/३.

ब्राह्मणग्रन्थों में विशिष्टाद्वैत–

ब्राह्मणग्रन्थों में यद्यपि संहिता भाग के मंत्रों का याज्ञिक कर्मकाण्डों में विनियोग आदि का विधान किया गया है, किन्तु संहिता भाग की व्याख्या के कारण इन ग्रन्थो में विशिष्टाद्वैत सम्मत तात्त्विक चिन्तन तथा भक्ति के बीज इतस्ततः बिखरे हुए मिलते है। इन ग्रन्थों में भक्ति विषयक विशेषता यह है कि इनमें जप का विधान किया गया है। जप निश्चितरूप से परवर्ती भक्ति का अंग है। जप के विधान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति के विकास की पुष्टि होती है।

ऐतरेय ब्राह्मण, जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद से है, के पच्चीसवें अध्याय में 'ओ३म्' की उत्पत्ति के बारे में चर्चा मिलती है और उसे सर्वोच्चसत्ताक माना गया है। 'ब्राह्मण ग्रन्थों में 'यो वै विष्णुः' कहकर यज्ञ को ही विष्णुरूप माना गया है और इसी यज्ञरूपी विष्णु से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में जप के महत्त्व तथा जप के विधान का वर्णन है कि जिस देवता को हवि प्रदान करें उसका ध्यान करना चाहिए। यजुर्वेद से सम्बद्ध 'शतपथ ब्राह्मण' में यज्ञीय कर्मकाण्डों की ही बहुलता है किन्तु 'भक्ति' के अनिवार्य अंगों जैसे– सबसे प्रेम करना, द्वेषरहित रहना, प्रणव तथा अन्य मंत्रों का जप करना, शुचिता, दिव्यता और क्रोध आदि का यत्र–तत्र उल्लेख हुआ है। 'शतपथ ब्राह्मण', ४, २, ३, ११ में गायत्री की प्रशंसा और जन का विधान, शत, ४/५/८ के छठें, आठवें प्रकरण में ब्रह्मा और मैत्रावरुण के जप और शत ४/२/६/१२ में 'ओ३म्' के जप का विधान है और कहा गया है कि वही सत् है।g[1] 'प्रेम' भक्ति का मूल तत्त्व है। 'शतपथ ब्राह्मण' में देवों के प्रिय होने की बात कहीं गयी है।[2] देवों को प्रिय होने के लिए नमस्कार या प्रणति का विधान शतपथ ब्राह्मण करता है।[3] अर्चना नवधाभक्ति का ही अंग है।[4] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर भजन का

---

1. स वै ओ३म् सत्यम्। तद्देवाः विदु। तस्मात् ओ३म् प्रतिगृणीयात्।
   –शतपथ ब्राह्मण ४/२/६/१२.
2. अहं वः प्रियो भूयासम् इत्येव एतदाह। **–शतपथ ब्राह्मण** २/३/२/३४.
3. उपत्वाग्रेदिवे दिवे दोषाववस्तिर्धिया वयम्
   नमोभरन्त एमेसिनमः एवं असया एतत् करोति।
   यथा एनं न हिस्यात्। **वही,** ३/२२.
4. तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तः चेरु। **वही,** १/५/३.

विधान किया गया है।[1] सामवेद से सम्बन्धित आर्षेय ब्राह्मण के अनुसार प्रमोदरहित होकर अपनी कामना को ध्यान में रखते हुए प्रभु के समीप ध्यान द्वारा तन्मय भाव से स्तुति करन चाहिए। ध्यान और स्तुतिस्पष्टतः भक्ति के अंग हैं। गोपथ ब्राह्मण, जिसका सम्बन्ध अथर्ववेद से है, पर्याप्त अर्वाचीन है, इमसें भी "प्रणव" के जप का गुणगान किया गया है।[2] गोपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर सामवेद को वेदों का रस कहा गया है।[3] सामवेद उपासनाकाण्ड का वेद है। उपासना और भक्ति एकार्थक है।

आरण्यकों में विशिष्टाद्वैत–

आरण्यकों में ब्राह्मणों की तरह याज्ञिक अनुष्ठानों की मीमांसा नहीं, वरन् आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा की गयी है। अरण्य (वन) के एकान्त वातावरण में इनका प्रतिपादन, अध्ययन होने से इसका नाम आरण्यक सार्थक है। प्राणविद्या का भी इसमें गुणगान किया गया हे। तात्त्विक दृष्टि से इसमें विशिष्टाद्वैत के लक्षण यत्र–तत्र परिलक्षित होते हैं। इसमें आत्मा, ब्रह्म, जगत् आदि तत्त्वों का विवेचन किया गया है तथा 'ब्रह्म' को परम सत्, समस्त गुणों से युक्त एवं हेय गुणें से रहित बताया गया है।

'बृहदारण्यक' में कहा गया है कि यह जो भी दृश्य है वह आत्मा है।[4] जब सब कुछ आत्मा ही है तो किससे किसको देखें, किससे किसको जानें।[5] वृहदारण्यक' में ब्रह्म को ही आत्म तत्त्व के रूप में व्याख्यायित किया गया है। 'तैत्तिरीय आरण्यक' में कहा गया है कि वही ब्रह्म इस जगत् को धारण किए हुए है। वह सभी प्राणियों के अंदर प्रविष्ट होकर शासन करता है।[6] इस प्रकार ब्रह्म से जीव और जगत् अपृथक् सिद्ध है। ब्रह्म को "विज्ञानमानन्दंब्रह्म" (बृ० ५/९–२५) कहकर आनन्दत्व को उसका गुण बताया गया है। "इन्द्रोमायाभिः पुरुरूपईयते"[7] इत्यादि वाक्यों में जीमात्मा की अनेकता सिद्ध की गयी है।

---

1. स ह अग्निरुवाच मय्येव वः सर्वेभ्यो जुह्वतु, तद्धाऽह मयि आ भजामि इति। –वही, १/५/२/२०.
2. अमृतं है प्रणवः अमृतेनैव तत् मृत्युं तरति। ब्रह्म ह वै प्रणव ब्रह्मण एव अस्मै तद् ब्रह्म उपसन्तनोति। – गोपथ ब्राह्मण भाग–२, प्रपाठक–३.
3. गोपथ ब्राह्मण भाग–२, प्रपाठक ५, कण्डिका, ६.
4. "इद सर्व यत्, अयमात्मा" वृहदारण्यक, ४/४/६.
5. यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर पश्यति– यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्.....
   तत् केन कं पश्येत्, तत् केन क विजानीयात्। वही, ४/४/१४.
   अन्त प्रविष्टः शास्ता जनाना सर्वात्मा। तैत्तिरीय आरण्यक, ११–२०.
   ...हदारण्यक, ४/५/१६.

उस परमतत्त्व के संकल्प मात्र से इस जगत् की सृष्टि हुई है।[1] वृहदारण्यक में विशिष्टाद्वैतानुसारी व्याख्या ईश्वर के अन्तर्यामित्व की गयी है। इसमें कहा गया है जो पृथ्वी में रहते हुए पृथ्वी से भिन्न है जिसे पृथ्वी नहीं जानती, किन्तु पृथ्वी जिसका शरीर है वह आत्मा अमर और सबका अन्तर्यामी है।[2] इसी प्रकार एक अन्य जगह पर कहा गया है कि "प्राण" ही इस विश्व को धारण किए है।[3]

आरण्यकों में तात्त्विक विवेचना के साथ ही साथ जगह-जगह भक्तियोग का भी उल्लेख हुआ है। आरण्यकों में बहिर्योग की अपेक्षा अन्तर्योग को अधिक महत्व दिया गया है। चित्तवृत्ति निरोधात्मक योग का प्रचार-प्रसार इस युग में कानन कन्दराओं में रहने वाले ऋृषियों द्वारा पर्याप्त रूप में हुआ है। अन्तर्योग और बहिः योग की भावना से भावित आरण्यवासी ऋषियों द्वारा वर्द्धमान भक्तिवृक्ष का भी यथायोग्य सेचन हुआ है।

उपनिषदों में विशिष्टाद्वैत-

उपनिषद् भारतीय दर्शनों के मूल स्रोत हैं। भारतीय दर्शन की कोई ऐसी विचारधारा नहीं है जिसका उद्‌गम उपनिषद् में न हो, तो फिर विशिष्टाद्वैत विचारधारा इससे अछूती कब रहती? विशिष्टाद्वैतसम्मत दार्शनिक विचारों क बीज उपनिषदों में बहुशः मिलता है। चिद्-आत्मा, अचित् जगत् या फिर चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म का विवेचन हमें उपनिषदों में मिलता है। विशिष्टाद्वैत की भक्ति और प्रपत्ति का भी बीच हमें उपनिषदों में दिखाई देता है।

उपनिषदों में आत्मतत्त्व को स्वतः सिद्ध और स्वयं प्रकाश माना गया, जो विशिष्टाद्वैत का जीवात्मा सम्बन्धी सिद्धान्त का आधाराश्म है। प्रत्येक व्यक्ति को 'अहं जानामि' इस प्रकार अपने आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है। यह 'अहं' प्रतीति संशय

---

1. स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। ऐतरेयारण्यक, १/१/१
2. यः पृथिव्यातिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, य पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीर........
   एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। वृहदारण्यक, ५/७/६.
3. सोऽयमाकांशः प्राणेन बृहत्याविष्टब्धः, तद्यथायमाकाशः प्राणेन बृहत्याविष्टब्ध।
   एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेनबृहत्याविष्टब्धानीत्येवं विद्यात्।
   -ऐतरेयारण्यक, २/१/६.

का विषय नहीं है और न ही आत्मा का निषेध ही यिका जा सकता है, क्यों कि आत्मा ही तो निराकर्त्ता है। वस्तुतः जीव का स्वरूप शुद्ध आत्मचैतन्य है। यह स्वतः प्रकाशक तथा आनन्दरूप है। यामुनाचार्य भी 'आत्मा भिन्नः स्वतः सुखी' कहकर इसकी स्वतः प्रकाशकता स्वतः सिद्धता तथा सुखरूता को स्वीकार करते हैं। 'वृहदारण्यकोपनिषद्' में कहा गया है कि यह जो कुछ भी है, सब आत्मा है।[1] यह आत्मा ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध है। माण्ड्क्य उपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा ही ब्रह्म है।[2] वह ईश्वर से भिनन होकर भी उससे अभिन्न है, यही उसका अपृथक् सिद्धत्व है।

उपनिषदों में उस परम ब्रह्म की सुगणता तथा निर्गुणता दोनों वर्णित है। "एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोका विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्प'[3] "य सर्वज्ञः सर्ववित्"[4] निर्गुणं निष्कलं शान्तं विरवद्यं निरञ्जनम्" इत्यादि मे अपहतपाप्मत्व, अजरता, अमरता, सत्य संकल्पत्व, सत्यकामत्व, सर्वज्ञता सर्वशाक्तिरता आदि को सगुण ईश्वर का कलयाणगुण कहा गया है। निर्गुण ब्रह्म से तात्पर्य हे कि वह सकल प्राकृत हेय गुणों से रहित है। इस प्रकार सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म को जगत् का निमित्तोपादान कारण कहा गया है कि ब्रह्म के इसी रूप को विशिष्टाद्वैत वेदान्त ने अपनाया है।

इसी प्रकार उपनिषदों में विशिष्टाद्वैत सम्मत भक्ति के भी बीज प्रचुर मात्रा में दिखायी देते हैं। उपनिषदों में सर्वत्र परमपुरुषार्थ ब्रह्म की प्राप्ति कहीं ज्ञान द्वारा तो कहीं उपासना द्‌वारा, कहीं त्याग द्वारा और कहीं ध्यान द्वारा कहीं गयी है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में तो भक्ति का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।[5] इसी श्रुति में परमात्मा की भक्ति के साथ ही साथ गुरु की "भक्ति" का भी प्रतिपादन किया गया है। "भक्ति" का मूलस्वर अपने "आहम्" का विसर्जन करके ईश्वर की शरण में जाना है। इस शरणागति को आचार्य रामानुज भक्ति का अङ्ग और स्वतंत्रोपाय दोनों मांनते है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में मुमुक्षु के ईश्वर की शरणागति का स्पष्ट विधान है।[6]

---

1. इद सर्व यत्, अयमात्मा, वृहदा०, ४/४/६.
2. अयमात्मा ब्रह्म। माण्डूक्योपनिषद्।
3. छान्दोग्योपनिषद् ८/१/५
4. मुण्डकोपनिषद्, १/१/१०.
5. श्वेताश्व० ६/२३.
6. वही, ६/१८.

इस प्रकार उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि विशिष्टाद्वैत दर्शन के जो बीज वेदों के संहिता भाग, ब्राह्मण ग्रन्थों और आरण्यकों में इतस्ततः बिखरे हुए थे, वे बीच उपनिषद् काल में आकर अंकुरित होने लगे जो आगे चलकर पल्लवित तथा पुष्पित हुए।

पुराणों में विशिष्टाद्वैत

भागवत पुराण–

विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रभाव के रूप में भागवत पुराण का अद्वितीय स्थान है। इस पुराण में ब्रह्म, परमात्मा, भगवत् और परमेश्वर आदि में सामंजस्य स्थापित करते हुए, विशिष्टाद्वैत मतानुसार उसकी व्याख्या की गयी है। "भक्ति" का जैसा उत्कर्ष "भागवतपुराणा" में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भागवत पुराण के विचारों में उच्चकोटि की आव्यात्मकता है, किन्तु उसकी शैली अपेक्षाकृत दुरूह है।

"भागवतपुराण" में विशिष्टाद्वैत दर्शन की भांति यह कहा गया है कि "ईश्वर", "जीव" का अंतर्यामी है। परमेश्वर अपने स्वरूप में पूर्णतया निराकर शुद्ध चैतन्य है, अपनी चिच्छक्ति के द्वारा तो वह जीवों को स्वयं में धारण करता है और अपनी अचिच्छक्ति के द्वारा यह भौतिक जगत् का भ्रम फैलाकर उसे जीवों के विविध अनुभवों के लिए उनसे सम्बंधित करता है। इस प्रकार 'ब्रह्म' या 'ईश्वर', जैसा कि विशिष्टाद्वैत का मत है, चिदचिद् विशिष्ट है।[1] विशिष्टाद्वैत सम्मत मुक्ति के साधनभूत "भक्ति" का विकसित रूप हमें पुराणों में देखने को मिलता है। भक्ति की दृष्टि से श्रीमद्भागवत महापुराणा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद्भागवत के अनुसार व्यक्ति के जीवन का परम कर्त्तव्य (धर्म) भगवान् श्रीकृष्ण में निर्हेतुकी विक्षेपरहित भक्ति है।[2] भक्ति से बढ़कर प्राणी के लिए प्रात्य और कुछ दूसरा नहीं है। सच्चा भगवतद्भक्त, भक्ति के

---

1. अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदम् अखिलं ततम्।
   चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नम.।। – श्रीमद्भागवत महापुराण, ७/३/७७३.
2. वही, १/२/६.

अतिरिक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य तथा सायुज्य नामक मुक्ति की भी कामना नहीं करता।[1]

विष्णु पुराण–

भागवतपुराण के पश्चात् वैष्णवपुराणों में विष्णुपुराण का सर्वाधिक महत्व हैं। इसमें विशिष्टाद्वैत दर्शन के तत्त्व भरे पड़े हैं या कहें यह विशिष्टाद्वैतपरक पुराण है। विष्णुपुराण के अनुसार ब्रह्म की पहली अभिव्यक्ति पुरुष माना गया है, द्विवतीय स्थान पर व्यक्त, अव्यक्त तथा काल का स्थान है। प्रधान, व्यक्त और काल का मूल कारण विष्णु ही है।[2] इन्हीं को नारायण भी कहते हैं। विशिष्टाद्वैतियों का भी यह मत है कि जगत् विष्णुभगवान् की लीला का फल है। भक्ति की जो धारा विशिष्टाद्वैत दर्शन में अपने उत्कर्ष पर परिलक्षित होती है, वह धारा विष्णुपुराण में भी सतत् प्रवाहित होती दिखाई देती हे। विष्णुपुराण के अनुसार मुक्ति यद्यपि भक्ति के लिए काम्य नहीं होती किन्तु उसे वह अनचाहे प्राप्त होती है। यही मत आगे चलकर विशिष्टाद्वैत सिद्धांत का आधार बना।

पद्मपुराण एवं अन्य–

विशिष्टाद्वैत सम्मत सिद्धान्तों का बीज 'पद्म' में भी परिलक्षित होता है। इसमें भक्ति का विशुद्ध विवेचन किया गया है। 'पद्मपुराण' के अनुसार भक्ति संपूर्ण पापों को नष्ट करने वाली और मुक्ति प्रदान करने वाली है।[3] भक्ति के अनेक भेद पद्मपुराण में किये गये हैं। सर्वप्रथम भक्ति मानसी, वाचिकी और कायिकी के रूप में बांटी गयी हैं।[4] इसके बाद उसे लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक भेदों के आधार पर

---

1. अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।
   सालोक्य सार्ष्टिसामीप्यसारुप्यैकत्वमप्युतः।।
   दीयमानं न गृह्णन्ति विनामत्सेवनं जनाः।।
   – भागवतपुराण ३/२९/१२–१३.
2. प्रधानपुरुषव्यक्तकालानां चरम हि यत्।
   पश्यन्ति सूरयः शुद्ध तद्विष्णो परमः पदम्।।
   – विष्णु पुराण, १/२/१६.
3. पद्म पुराण ५/८५/३
4. वही, ५/८५/४.

विभक्त किया गया है।[1] आध्यात्मिक भक्ति को सांख्यजा और योगजा के रूप में पुनः विभक्त किया गया है।[2] इन भेदों के अतिरिक्त भक्ति को सात्विकी, राजसी और तामसी के रूप मे भी विभक्त किया गया है।[3] शिवपुराण में भी विशिष्टाद्वैत सम्मत भक्ति का बीज परिलक्षित होता है, इसमें माहेश्वर भक्ति का वर्णन किया गया है। नारदीय पुराण भी वैष्णवपुराण है। इसमें भी विशिष्टाद्वैत के तत्त्व देखे जा सकते हैं। इस प्रकार हम देखते है कि विशिष्टाद्वैत के सभी सिद्धांत न्यूनाधिक पुराणों में विद्यमान हैं। ये पुराण तो मानो भक्ति शास्त्र ही हों, जिनमें भक्ति के सभी अंगों का विधान किया गया है।

इतिहास ग्रन्थों में विशिष्टाद्वैत

रामायण–

पुराणों के पश्चात् रामायण और महाभारत जैसे इतिहासग्रंथों में विशिष्टाद्वैत वेदान्त के तत्त्वपरिलक्षित होते हैं। रामायण तथा महाभारत भारतीय जनमानस में अत्यधिक समादृत ऐतिहासिक महाकाव्य हैं। बाल्मीकि के 'आदिकवि' होने से उनके द्वारा प्रणीत 'रामायण' की प्राचीनता स्वयं सिद्ध है। बाल्मीकि रामायण में राम को परब्रह्म के रूप में प्रस्तुत किया गया है कि भगवान् विष्णु ही देवकार्य हेतु राम के रूप में अवतरित हुए थे।[4] इसमें राम को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण बताते हुए उनकी आराधना की गयी है।[5] रावण से हनुमान और राम के प्रभाव का वर्णन राम की सर्वशक्तिमत्ता का द्योतक है।[6] अध्यात्मरामायण में भी राम को विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और जय का कारण बताते हुए उन्हें माया से युक्त होने पर भी माया से असंपृक्त, आनन्दघन, स्वंयं प्रकाशरूप तथा समस्त उपाधिकृत हेय दोषों से रहित बताया गया है।[7] जो विशिष्टाद्वैत सिद्धांत से मिलता–जुलता वर्णन हैं।

---

1. वही, ५/८५/५.
2. वही, ५/८५/२५
3. वही, ५/८५/३०.
4. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, १८/२६.
5. वही, उत्तरकाण्ड, ६/२.
6. सर्वभूतान् सुसंहृत्य स भूतान् सचराचरान। पुनरेव तथा सष्टुं शक्तो रामः महायशा'।।
   – वही सुन्दरकांड, ५१/३६.
7. अध्यात्मरामायण १/१/२.

वाल्मीकिरामायण में यद्यपि विशिष्टाद्वैतसम्मत भक्ति का प्रत्यक्षतः व्याख्यान नही है, किन्तु भक्ति के अवयवों की चर्चा पर्याप्त रूप से विद्यमान है। यज्ञ, स्वाध्याय, तप, जप, व्रत आदि का अनेकशः उल्लेख हुआ है। भक्ति के आवश्यक उपादानों में शरणागति अन्यतम है। भगवान् राम, विभीषण के शरण में आने पर कहते हैं कि मैं एक बार भी शरण में आए हुए व्यक्ति को अभय प्रदान करता हूँ–

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।।

–वाल्मीकिरामायण, ६/१८/३३.

महाभारत–

महाभारत सर्वप्रमुख इतिहासग्रंथ है। इसमें भी विशिष्टाद्वैतवेदांत के सिद्धांत बीज रूप में प्रसुप्त पड़े हैं। भारतीय अध्यात्म तथा भक्ति का आकरग्रंथ श्रीमद्भगवाद्गीता इसी महाभारत के भीष्मपर्व का अंग है। इसमें विशिष्टाद्वैत सम्मत अवतारवाद की सर्वप्रथम अवतारणा की गयी है। श्रीमद्भगवद्गीता में चित् आत्मा अचित् प्रकृति तथा ईश्वर इस तत्त्वत्रय की व्याख्या की गयी है, जिसे हम विशिष्टाद्वैत के तत्वत्रय के साथ बैठा सकते हैं। 'भक्ति' श्रीमद्भगवद्गीता का प्राण है। गीता में भी भक्ति को एकमात्र ईश्वरप्राप्ति का साधन कहा गया है।[1] गीता में भक्ति का जो स्वरूप बताया गया है वही विशिष्टाद्वैत सम्मत स्वरूप है। गीता में कहा गया है–

मन्मना भव मद्भक्तों मदयाजी मां नमस्कुरु। मार्मैवैष्यसि युक्त्वैव मात्मानं मत्परायणः।।[2]

---

1. गीता, ११/५४.
2. वही, ९/३४

आगमसाहित्य में विशिष्टाद्वैत

पाञ्चरात्रागम–

विशिष्टाद्वैत वेदान्त के समर्थक सम्प्रदायों में आगम साहित्य का प्रमुख स्थान है और इन आगम सम्प्रदायों में पाञ्चरात्र आगम एक प्राचीन सम्प्रदाय है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के पांचरात्र आगम का सम्बन्ध होने से उसकी प्राचीनता स्वतः सिद्ध है। यह आगम समस्त भावी श्रीवैष्णवसम्प्रदायों का आधारस्तम्भ है। विशिष्टाद्वैत वेदांत का पूर्वरूप कहा जाने वाला पांचरात्र आगम अपने मूल में विशिष्टाद्वैत के सिद्धांतों को छिपाये हुए हैं। सात्वत् संहिता, पांचरात्र मत की महत्त्वपूर्ण संहिता है। इसके अतिरिक्त अहिर्बुध्न्य संहिता विष्णु संहिता, मार्कण्डेय सहिता, हयशीर्षसंहिता आदियों में विशिष्टाद्वैत सम्मत सिद्धांतों का वर्णन मिलता है।

वैखानस आगम–

आगम साहित्य में पांचरात्र आगम से भिन्न वैखानस आगम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैखानस साहित्य में भी विशिष्टाद्वैत के दर्शन होते हैं इसमें सर्वाधिक प्रसिद्ध 'भक्ति तत्त्व' का वर्णन मिलता है। जो विशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुरूप है। यह आगम भक्ति की सुमधुर रसधारा से सर्वथा आप्लावित है। भगवान् नारायण की उपासना से ही परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। भक्ति के अवयवभूत जप, अर्चना और ध्यानादि प्राविधान इस आगम में किया गया है।[1]

---

1. वेखानस आगम, द्वितीय पटल.

(ङ) आलवार साहित्य में विशिष्टाद्वैत

विशिष्टाद्वैत वेदान्त के तत्त्व आलवर साहित्य में बहुशः उपलब्ध होते हैं, क्योंकि आलवार भी एक प्रसिद्ध वैष्णव सम्प्रदाय है। यह दक्षिण का बहुत ही पुराना सम्प्रदाय माना जाता है। विशिष्टाद्वैत की तरह आलवारों ने भी दास्यभाव तथा प्रवृत्ति को ही मोक्ष का साधन मान लिया। नाम्मालवार ने अपने चार ग्रंथों में से प्रथम में, आवागमन से छुटकारा पाने के लिए प्रार्थना किया है, दूसरे में उन्होंने भगवान् के महान् तथा उदार गुणों के अनुभव का वर्णन किया है। तीसरे ग्रंथ में प्रभु से मिलने की उत्कंठा वर्णित है तथा चौथे में भगवान् से तादात्म्य की अनुभूति प्रभु से मिलने की तीव्र उत्कंठा की तुलना में कितनी कम ठहरती है। पहले के दस श्लोकों में दास्यभाव प्लावित है इसी में ईश्वर के विशिष्टगुणों का वर्णन भी है। विशिष्टाद्वैत मत में भी भगवान् को सकलहेयगुणों से रहित बताया गया है। निर्गुण ब्रह्म से तात्पर्य विशिष्टाद्वैत में सकलहेयगुणरहित तथा विशिष्ट गुणों से युक्त बताया गया है। यही आलवारों को भी अभिष्ट हैं।

७. विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विकास एवं आचार्य परम्परा–

विशिष्टाद्वैत दर्शन का व्यवस्थित इतिहास **'नाथमुनि'** से प्रारम्भ होता है। आलवार सन्तों के बाद और यामुनाचार्य के पूर्व के विशिष्टाद्वैत दर्शन के बारे में हम ठीक–ठीक नहीं जानते, क्योंकि उनके समय के जो भी कार्य हैं वे अभी पूर्णतः प्रकाश में नहीं आये है, फिर भी इन अज्ञात आचर्यो की परम्परा में जिनका उल्लेख हम पाते हैं, वे हैं श्री रङ् गनाथमुनि जिन्हें नाथमुनि के नाम से जाना जाता है। इन्होंने विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रपत्ति मार्ग की प्रतिष्ठा करके श्रीवैष्णवसम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। नाथमुनि की दो कृतियाँ उपलब्ध हैं–

तथा अन्य दार्शनिकों के आत्म सिद्धान्त की उद्भावना की है तथा उन मतों–देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मनसात्मवाद, ज्ञानात्मवाद तथा प्राणात्मवाद का क्रमशः खण्डन भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यामुनाचार्य के अनुसार जीवात्मा देह, इन्द्रिय, मन, केवल ज्ञान और प्राणादि से विलक्षण भोक्ता, स्वयंप्रकाश, नित्य तथा अणुरूप है। यामुनाचार्य ने आत्मा की अनेकता स्वीकार की है। वे कहते है–

देहेन्द्रियमनः प्राणधीभ्योऽन्योऽन्यसाधनः।

नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्रमात्मा भिन्नः स्वतः सुखी।। सिद्धित्रय कारिका ३.

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ईश्वर को जीव और जगत् से विशिष्ट स्वीकार किया गया है। यामुनाचार्य ने भी ईश्वर को सविशेष, सगुण आदि नामों से पुकारा है। यही ईश्वर 'ब्रह्म' इस अपर नाम से जाना जाता है। यह ब्रह्म या ईश्वर एक होते हुए भी चिद्रुप जीव तथा जड़ प्रकृति से युक्त है। जीव और प्रकृति की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं हैं। ब्रह्मान्तर्गत जीव तथा प्रकृति की सत्ता स्वीकार करने के कारण ब्रह्म के स्वगत भेद को स्वीकार करते हैं। स्वगत भेद से अभिप्राय वृक्ष की अपनी शाखाओं और पवत्रों के भेद आदि से है। यह सर्वज्ञ वे सर्वशक्तिमान् है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ब्रह्म या ईश्वर का तात्पर्य केवल भगवान् नारायण अर्थात् विष्णु से है, क्योंकि सभी श्रुतियाँ, तथा पुराण आदि परमतत्त्व के रूप में उन्हीं का वर्णन करते हैं। यामुनाचार्य ने ' महापुरुष निर्णय' नामक अपने ग्रन्थ में विशदरूप से शास्त्रों के तर्कों की विवेचना करते हुए यह बताने का प्रयास किया है कि उपनिषद् और पुराणों में कहे गये महान् दैवी पुरुष नारायण ही हैं।

उपनिषदों के आधार पर अद्वैतमतानुयायी यह कहते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी चीज का अस्तित्व नहीं है, यह जगत् मिथ्या है।[1] इस मत का खण्डन करते हुए यामुनाचार्य कहते है कि इस कथन में कोई सार नहीं है। इसका केवल यही अर्थ है कि ईश्वर के सिवाय अन्य कोई ईश्वर नहीं है और उसके जैसा और कोई दूसरा नहीं है। ब्रह्म की अद्वितीयता का यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि उससे अतिरिक्त दूसरा नहीं है, वरन् यह अर्थ लेना चाहिए कि तत्सदृश कोई अन्य तत्त्व नहीं है।

यामुनाचार्य न 'भक्ति सिद्धान्त' को विवेचित करते हुए कहा कि भक्ति शब्द के अर्थ की व्यापकता की परिधि के अन्तर्गत न केवल पूजा-पाठ आदि प्रारम्भिक कृत्यों से लेकर उच्चतम कोटि का आत्म दर्शन आ जाता है, अपितु लौकिक जीवन में किसी भी प्राणी के प्रति विहित श्रद्धातिरके हेतु भी भक्ति शब्द प्रायः व्यवहृत हुआ करता है। वेदान्तदेशिक ने भक्ति को विसदृशबुद्धि के व्यवधान से रहित स्मृति प्रवाहत्व कहा है।[2] एक स्थान पर रामानुज ने भक्ति को एक प्रकार का ज्ञान ही कहा है।[3] यामुनाचार्य 'गीतार्थसंग्रह' में गीता क़ो भक्तिशास्त्र मानते हैं। तदुसार भक्ति ही जीवन के उचच ध्येय को प्राप्त करने का अन्तिम साधन है, जो शास्त्रोक्त स्वधर्म पालन ज्ञान और वैराग्प से उत्पन्न होती है।[4]

'स्तोत्ररत्न', जिसे यामुनाचार्य के उपनाम 'आलवन्दारस्तोत्र' के नाम से भी जाना जाता है, को यदि प्रपत्ति शास्त्र कहें तो अत्युक्ति न होगी। 'प्रपत्ति' या 'शरणागति' के स्वरूप के बारे में आचार्य यामुन कहते हैं– 'स्वयाथात्म्यं' प्रकृत्यास्य तिरोधिः शारणागतिः[5] अर्थात् अपने याथात्म्य परमात्मा में स्वभाविक रूप से जीव का तिरोभाव ही शरणागति है। वस्तुतः यामुन ने क्रमबद्ध क्रियात्मक शरणागति का जो निबन्धन स्तोत्ररत्न के रूप में किया है, वह न केवल श्रेष्ठ है, बल्कि परम स्तुत्य है।

---

1. ब्रह्मसत्य जगन्यिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापर.। 'शङ्करकृत ब्रह्मज्ञानावलीमाला।
2 स्मृतेर्ध्रुवत्व विसदृशबुद्धिव्यवधानरहितप्रवाहत्वम्। तत्त्वटीका, पृष्ठ ८६.
3. भक्तिः ज्ञानविशेष एवं – वेदार्थसग्रह।
4. स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचरः।
नारायणः परंब्रह्म गीताशास्त्रे समीरित.।। गीतार्थसंग्रह – १
5 गीतार्थसंग्रह, श्लोक सख्या ११।

रामानुजाचार्य–

यामुनाचार्य के बाद विशिष्टाद्वैत वेदान्त के मुख्य प्रस्तोता आचार्य रामानुज हुए। उन्होंने विशिष्टाद्वैत को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। आज विशिष्टाद्वैत रामानुज वेदान्त का पर्याय माना जाता है। रामानुज का जन्म १०१७ ई० तथा परमपद ११३७ ई० में हुआ। प्रारम्भ में उन्होंने यादव प्रकाश से शिक्षा ली, किन्तु कुछ समय बाद मतभेद हो जाने से उनसे अलग हो गये। अपने मामा महापूर्ण 'पेरिनम्बि' के प्रभाव के कारण रामानज यामुनाचार्य के प्रति आकृष्ट हुए जो उन्हें अपने बाद श्रीरङ्गम की गद्दी पर बैठाना चाहते थे, किन्तु रामानुज के श्रीरङ्गम् पहुँचने के पूर्व ही यामुन बैकुण्ठवासी हो चुके थे। परम्परानुसार रामानुज ने यामुनाचार्य के दाहिने हाथ की तीन ऊँगलियाँ मुड़ी हुई देखी जिनसे यामुनाचार्य की तीन अपूर्ण इच्छाओं का संकेत मिलता है। इनमें प्रमुख अपूर्ण इच्छा 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य मिलने की थी जिसे रामानुज 'श्रीभाष्य' लिख कर पूर्ण किया। रामानुज श्रीसम्प्रदाय में महापूर्ण द्वारा दीक्षित हुए तथा 'यतीन्द्र' या यतिराज कहलाये। यामुन के बाद श्रीरङ्गम् की गद्दी पर बैठे, उन्होंने श्रीभाष्य के अतिरिक्त गीताभाष्य, वेदान्तसार, वेदान्तदीप, गद्यत्रय और वेदार्थसंग्रह जैसे विशिष्टाद्वैतपरक ग्रन्थों का प्रणयन किया।

रामानुज ने अपने श्रीभाष्य में स्वीकार किया है कि है वे बोधायन, टंक, द्रविण, गुहदेव, कपर्दी और भारूपि जैसे प्राचीन आचार्यो की विशिष्टाद्वैत पराम्परा का अनुसरण कर रहे हैं। इस प्रकार रामानुज पर आलवारों, नाथामुनि, यामुन, यादवप्रकाश, भास्कर, बोधायन, द्रविड़ भर्तुप्रपंच, आश्चरथ्य और औड्लोमि का प्रभाव पड़ा है, किन्तुवे सर्वाधिक ऋणी यामुन, यादवप्रकाश और भास्कर के हैं।

भास्कराचार्य भेदाभेदवादी हैं। वे ब्रह्म और जीव का अभेदर स्वाभाविक तथा भेद औपाधिक मानते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म कारण रूप में एक और अभिन्न हैं, किन्तु कार्यरूप अनेकता का प्रतीक है।[1] जगत् ब्रह्म का तात्त्विक परिवर्तन है। जड़तत्व सत्

1. ब्रह्मसूत्र भास्करभाष्य १/१/४।

है, अविद्याजन्य नहीं। जीव अणुरूप हैं रामानुज ने वैदार्थसंग्रह से भास्कर के मत को संक्षेप में बताया हैं।[1] रामानुज ने भारकर के मत का खण्डन किया है। रामानुज के अनुसार भेद तथा अभेद दोनों समान रूप से सत्य नहीं हो सकते और न उनको एक ब्रह्म के दो पृथक् धर्म माना जा सकता है। रामानुज भेदाभेद को नहीं मानते, बल्कि उनके अनुसार ब्रह्म निगुर्ण, निराकार नहीं, वरन् 'चिदचिद्विशिष्ट' है। वह स्वयं में परम विशुद्ध है, केवल ब्रह्म का चिदचिद्रूप ही परिवर्तित होता है।

यादवप्रकाश भास्कर से किञ्चिद् भिन्न रूप में ब्रह्म और चेतन का अभेद और भेद दोनों ही स्वाभाविक मानते हैं। वे ब्रह्मपरिणामवाद एवं ज्ञान–कर्म–समुच्चयवाद के पोषक हैं। भास्कर के विपरीत उपाधि की सत्यता को नहीं मानते। यादवप्रकाश के अनुसार चित्, अचित् और ईश्वर तीनों ब्रह्म के परिणाम हैं। यादव के मत को भी रामानुज ने अपने 'वेदार्थसंग्रह' में पूर्व पक्ष के रूप मे दिया है। रामानुज ने यादवप्रकाश के ब्रह्म और ईश्वर मे भेद का खण्डन किया है।[2]

रामानुज चित् तथा अचित् से विशिष्ट ईश्वर की सत्ता मानते हैं। 'चित्' चेतन या भोक्ता जीव है तथा अचित् जड़प्रकृति या भोग्यजगत् है। ईश्वर दोनों का अर्न्तयार्मी है, क्योंकि श्रुतियॉ भी इस बात की पुष्टि करती हैं। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' का कथन है कि अज, सर्वज्ञ, ईश्वर, अज अल्पज्ञ भोक्ता जीव और अजा, भोग्या, प्रकृति–ये तीनों ब्रह्म हैं[3] और यही जानने योग्य है कि भोक्ता जीव, भोग्या प्रकृति और प्रेरयिता ईश्वर ये तीनों ब्रह्म हैं।[4]

---

1. अपरे तु उपहतपाप्मत्वादिसमस्तकल्याणगुणोपेतमपि ब्रह्म तेनैवैक्यावबोधेन केचिदुपाधिविशेषेण सम्बद्धं बध्यते मुच्यते च, नानाविधरूपपरिणामास्पदं च इति व्यवस्थिताः। – वेदार्थसग्रह।
2. अन्ये पुनरैक्यावबोधयाथात्म्य वर्णयन्य स्वाभाविक निरतिशयापरिमितोदारगुणसागरं ब्रह्मैव सुरनरतिर्यक्स्थावरनारकिस्वर्ग्यपवर्गि चेतनैक्यस्वभाव स्वभावतो विलक्षणमविलक्षण वियदादिनानाविधमलरूपपरिणामास्पदं च इति प्रत्यवतिष्ठन्ते – वेदार्थसग्रह, यादवमतसक्षेप।
3. श्वेताश्वतरोपनिषद् १/६
4. त्रितयं ब्रह्म एतत्, वही १/१२।

रामानुज के अनुसार सगुण, सविशेष ईश्वर चिदचित्–विशिष्ट है। यही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। यह जगत् का अभिन्न–निमित्तोपादान कारण है। चित् या जीव तथा अचित् या जड़तत्व–दोनों नित्यपदार्थ होने से उत्पादविनाशरहित हैं। रामानुज ब्रह्म को सजातीय, विजातीय भेदशून्य मानते हैं किन्तु स्वगत भेद स्वीकार करते है। सूक्ष्म चिदचिद्–विशिष्ट ब्रह्म 'कारण' है तथा स्थूल चिदचिद् ब्रह्म 'कार्य'। ब्रह्म ही अवस्था भेद से कारण तथा कार्य दोनों रूपों में जगत् का उपादान है। सृष्टि ईश्वर का कार्य होने के कारण सत्य है। यह ईश्वर के संकल्प से होने के कारण लीलामात्र है।

ईश्वर सकलहेयप्रत्यनीकत्वकल्याणगुणाकरत्व इत्यादि विशेषणों से युक्त हैं, अतः वह सगुण है। वेदार्थसंग्रह के मंगलाचरण में रामानुज ने ईश्वर को चिदचिद्विशिष्ट, शेषी, शुद्ध, अन्नतकल्याणागुणोपेत आदि मानकर उसकी वन्दना की है और भगवान् विष्णु को ही ब्रह्म माना है।[1] श्रुतियाँ भी कहती हैं कि पापरहित सर्वभूतों के अर्न्तरात्मा दिव्यदेव एक ही नारायण हैं।[2] रामानुज कहते हैं कि ईश्वर एक है, किन्तु अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए वे पांच रूपों में प्रकट होते है– अर्न्तयामी, पर, व्यूह, विभव और अर्चावतार।

रामानुज ने चित् या जीवात्मा के तीन रूप मानते हैं– प्रथम नित्यमुक्त, जो अविद्यादि कर्मो और प्रकृति से कभी बद्ध नहीं होता तथा वैकुण्ठ में सदा निवास करता हुआ भगवत् सेवा में रत रहना है। द्वितीय, मुक्त जीव हैं जो बन्धन से मुक्त हो चुकें हैं। तृतीय, बद्ध जीव अविद्यादि क्लेश कर्मो के कारण जन्म–मरण रूपी संसार चक्र में घूम रहें है। बन्धन और मोक्ष के विषय में रामानुज का मत है कि ये दोनों वास्तविक हैं। मोक्ष के जीव को इस कर्ममल को सवर्था नष्ट करना आवश्यक है। भक्ति से भगवत् कृपा रूप मोक्ष प्राप्त होता है। रामानुज परज्ञान और पराभहिक्त को एक ही मानते हैं। यही भक्ति ही मोक्ष का कारण है। रामानुज भक्ति को एक प्रकार की प्रीति और प्रीति को ज्ञान ही मानते हैं।[3] इसलिए भक्ति और ज्ञान में विरोध नहीं है। भक्ति की

---

1 अशेषचिदचिद्वस्तुशेषिणे शेषशायिने। निर्मलानन्तकल्याणनिधये विष्णवे नमः।–वेदार्थसग्रह, मगलाचरण।

2. एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्योदेवः एकोनारायणः।

3. भक्तिशब्दश्चप्रीतिविशेषे वर्तते। प्रीतिश्च ज्ञान विशेष एवं। वेदार्थसग्रह, पृ० ३४४.

ज्ञानकर्मपरकता के कारण प्राकृत जन उसे नही कर सकते, इसलिए सर्वजन सुलभ भगवत् प्राप्ति हेतु उपाय के रूप मे रामानुज 'प्रपत्ति' या 'शरणागति' का उल्लेख करते है। रामानुज कहते हैं कि प्रपत्ति के अलावा किसी भी तरह से मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं हैं।[1]

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में मोक्ष की चार अवस्थओं – 'सालोक्य' अर्थात् ब्रह्म का सतत् दर्शन करते रहना, 'सामीप्य' अर्थात् परमात्मा के बिल्कुल समीप रहकर तज्जन्य सुख की अनुभूति करना, 'सारूप्य' अर्थात् भगवान् के समान रूप धारण करना और 'सायुज्य' अर्थात् परमात्मा के सारे भोगों का उपभोग करना, का वर्णन किया गया है। ''सायुज्य'' ही मोक्ष की चरमावस्था है। रामानुज जीवनमुक्ति न मानकर 'विदेह मुक्ति' मानते हैं। उनके अनुसार 'तस्य तावदेव चिरं, यावन्न विमोक्ष्ये, अथ सम्पत्स्ये[2] अर्थात् उसकी मुक्ति में तब तक विलम्ब है जब तक देह से छुटकारा नहीं होता इत्यादि श्रुतियों देहपात के अनन्तर ही मोक्ष का विधान करती हैं। इस प्रकार वे शंकर के जीवन्मुक्ति का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि शरीर से विशिष्ट ही जीवनमुक्ति मानी जाय, तो वह मान्यता निश्चित ही 'मेरी माता बन्ध्या है' के सदृश अप्रमाण एवं असंगत होगी।[3] अतएव यह सिद्ध है कि इस शरीर में मोक्ष नहीं होता।

आचार्य रामानुज माया को ईश्वर की सत् शक्ति कहते हैं जिससे वे इस सत् सृष्टि का निर्माण करते हैं। उनके अनुसार अविद्या जीव का ज्ञान हैं, जिसके कारण वह शरीर, इन्द्रिय, अंतः करण जैसी प्राकृत वस्तुओं को अपना स्वरूप समझने लगता है। रामानुज शंकर के 'यामावाद' का प्रबल खण्डन करते हैं और उसमें सात दोष बताते हैं, जिसे 'सप्तविध अनुपपत्ति' कहते हैं। ये अनुपत्तियॉ हैं– आश्रयानुपपत्ति, तिरोधानानुपपत्ति, स्वरूपानुपपत्ति, अनिर्वचनीयानुपपत्ति, प्रमाणानुपपत्ति, निवर्तकानुपपत्ति तथा निवृत्यनुपपत्ति।

लोकाचार्य इससे आगे ऐसा मानते है कि जिस प्रकार वाहयपदार्थ जीव के लिए अस्तित्व रखते है। जिस प्रकार भोग्य पदार्थ जीव के लिए है उसी प्रकार ईश्वर और जीव में शेष और शेषी सम्बनध है। ईश्वर शेष है। और जीव ईश्वर के नियंत्रण तथा आधार का विषय शेषी है।

वेंकटनाथ कहते है कि कर्मो का पालन मनुष्य को सच्चे ज्ञान की जिज्ञासा के लिए अधिकारी बनाता है और सच्चे ज्ञान की प्राप्ति उसे भक्ति के योग्य बनाती है। जब मनुष्य सच्चेज्ञान का अधिकारी हो जाता है तब वह कर्मो को त्याग सकता है। वेकटनाथ के अनुसार भक्ति, पूज्य में प्रीति है केवल ज्ञान नहीं है। सायुज्यमुक्ति इसी से होती है। सायुज्य की स्थिति में जीव ईश्वर की सर्वज्ञता इत्यादि गुणों को ग्रहण करता है। जीव भगवान से पूर्णतः सहयोग नहीं कर सकता और सृष्टि रचना उसका नियंत्रण तथा मुक्ति देना ये सब ईश्वर में ही रहते है। जीव भागवन के ज्ञान और आनन्द के ही भोग सकता है और उसी की तरह सर्वग्य और आनन्द मय हो सकता है। इस मुक्तावस्था में मनुष्य भगवान के नित्य और असीम आनन्द तथा पूर्णदासता में रहता है। भगवान की दासता में लेश मात्र भी दुख नहीं है जैसे कि अन्य प्रकार की दासता होती है। जब मनुष्य अपने दर्प को त्याग देता हैं और अपनी सारी स्वतंत्रता उसकी सेवा में लय कर देता है। और अपने को भगवान को दास मान लेता है जिसका एक ही कार्य उसकी सेवा करना है यही आनन्द की व सुख की उज्ज्वल स्थिति है।

वेंकटनाथ पहले जीव की शरीर से भिन्नता, प्रतिपादन करने की कोशिश करते हैं और इस सम्बन्ध में सुविख्यात् चार्वाक के तर्को का खण्डन करते हैं जिनके अनुसार जीव को शरीर से भिन्न नहीं माना है। वेंकटनाथ के तर्को का मुख्य बल हमारे उस अनुभव के साक्ष्य पर निर्भर है जिसमें हमें हमारा शरीर उसके अंग "मैं" के अधीन है ऐसा अनुभव होता है, जैसे जब हम कहते है कि 'मेरा शरीर', मेरा सर आदि।

वे कहते हैं कि यद्यपि हमारे एक शरीर में अनेक अंग है। और यद्यपि उनमें से कुछ नष्ट भी हो जाये तो भी इन परिवर्तनों के होते वे भी एक नित्य ईकाई, आत्मा

३. ईश्वरपरिच्छेदः– प्रस्तुत परिच्छेद में आचार्य ईश्वर का लक्षण बताते है कि ईश्वर किसी भी प्रकार से देश की मर्यादा में आवद्ध नहीं है (इयद् गुणक इतिपरिच्छेद रहितः[1]) ईश्वर में देह के सिवाय कुछ अन्य नहीं है। आचार्य कहते हैं कि सवोत्तम ईश्वर नारायण और उसकी शक्ति लक्ष्मी है जो जड़ और जीव अधिष्ठती है। ईश्वर का अपना मनस् है और उसकी नित्यइन्द्रियों को प्रगट होने के लिए उसे किसी देह या अंग की आवश्यकता नहीं होती । वेंकटनाथ भगवान वसुदेव की अभिव्यक्ति के तीन प्रकार का वर्णन करते है– सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध नामक इस पंचरात्र के व्यूहसिद्धान्त का लोकाचार्य के तत्त्वत्रयपर बरबर भाष्य में संक्षिप्त विवरण मिलता है। सङ्कर्षण प्रद्युम्न और अनिरूद्ध तीन वासुदेव के भिन्न रूप कहे गये हैं। जिनके द्वारा वे जीव मनस् और वाह्य जगत् का नियंत्रण करते हैं। जिस क्रिया के प्रकार से जीव सृष्टि उत्पत्ति के आरम्भ में प्रकृति से प्रथक किए जाते हैं, वह ईश्वर के संकर्षण रूप से सम्बन्ध रखता है, जब यह प्रथक्करण की पूर्ण क्रिया मनुष्य पर मन रूप से विकास एवं शासन करती है और उन्हें पुण्य और श्रेय के मार्ग पर ले जाती है, तब वह ईश्वर के प्रद्युम्न रूप से सम्बन्ध रखती है। अनिरूद्ध भाव प्रधान रूप है जिससे वाह्य जगत् उत्पन्न होता है और नियंत्रण में रखा जाता है और जिससे हमारे सद् ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न सम्पर्क पूरे उतरते है। ये रूप भिन्न–२ ईश्वर में नहीं है। किन्तु भगवान के भिन्न व्यापार है या कार्य की दृष्टि से भगवान की ऐसी कल्पन की गयी है। ईश्वर का सम्पूर्ण अस्तित्व हर जगत में हैं वह सब पर शासन करने वाला है।

ईश्वर का लक्षण बताने बाद प्रधान ब्रह्मा, रुद्र आदि में ईश्वरत्व का खण्डन करके केवल नारायण को ही यहां पर ईश्वर माना गया है। भगवान् सर्वत्र अपने पूर्व रूप में विराजमान रहते हैं। इस प्रसंग में उपस्थित अनेक शकाओं का समाधान करने के बाद ग्रन्थकार ने शङ्कर वेदान्त सम्मत् निर्गुण ब्रह्मवाद और ब्रह्म में प्रपञ्च के अध्यासवाद का खण्डन किया है। शंकर भास्कार यादवप्रकाश के मत में ब्रह्म में जगत का उपादानत्व सिद्ध नहीं हो सकता, साथ ही इनके मत में ब्रह्म और जगत् का

---

1. न्याय सिद्धाञ्जन वेंकटनाथ कृत।

समानाधिकरण्य भी सम्भव नहीं है, इसका विस्तार से प्रतिपादन करने के बाद ग्रन्थकार ने भेदाभेदवाद का खण्डन किया है। और कहा कि हमारे मत में ब्रह्म त्रिविध परिच्छेद (देश, काल, वस्तु) से रहित है। पातञ्जल योग, शैव और वैशेषिक दर्शन में ईश्वर का जगत् के प्रति केवल निमित्त कारण माना गया है। इसको अस्वीकार करते हुये ग्रन्थकार ने नैयायिक संमत् ईश्वर की अनुमेयता का खण्डन किया है। इस प्रकार ईश्वर में जगत् की अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता स्थापित करने के बाद अन्त में श्री तत्व का संक्षेप मे निरूपण हुआ है साथ ही पाञ्चरात्र आगम में प्रतिपादित ईश्वर सम्बन्धी कुछ उल्लेखनिय विषयों का भी दिग्दर्शन कराया गया है।

वेंकटनाथ कहते है कि जगत को इन अस्थिर दृष्टिकोण से समझाने के बजाय शास्त्र का अनुशरण करना उत्तम है कि ब्रह्म शरीर इन परिणामों से सम्बन्धित है। ईश्वर जगत् का चैतन्य शुद्ध सत्ता का भासमान परिणाम हैं जैसा कि कात्यायन कहते है यह मानना भी गलत है।[1] क्योंकि शास्त्र निश्चित रूप से यह कहते है कि ईश्वर और अपरिणामी ब्रह्म एक ही है। धर्म पक्ष में वेंकटनाथ पंचरात्र ग्रन्थों में विस्तार से कहे गये सभी प्रमुख धार्मिक मतों को मानते है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान और पूर्ण है। यह आप्तकाम है इसका अर्थ यह है कि उसमें कोई इच्छाऐं नहीं है। यह अर्थ है कि उसकी इच्छाऐं निराशा उत्पन्न नहीं करती और उसके नियंत्रण में हैं। हम जिन्हें पाप और पुष्ण कहते हैं वे भी उसकी कृपा एवं रोष से होते हैं। उसका रोष दुःख या वेदना नहीं लाता। रोष का केवल अर्थ यह है कि ईश्वर की अभिवृत्ति हमें दण्ड देने की है या वह हम पर कृपा न करने की है।[2] ईश्वर ही एक निरन्तर सत्ता है, वह हमारे कर्मो से खुश है या रुष्ट है और वह अपनी इच्छानुसार कर्मफल देता है।[3] शास्त्र केवल इतना ही बताते है कि कौन से कर्म उसे रूचते हैं और कौन से कर्म उसके आज्ञा के विरूद्ध है।

---

1. ईश्वर व्याकृत प्राणेविर्राट सन्धुरिवोमिभः।
   यत् प्रनृत्य दिवा भाति तस्मै सद् ब्रह्मणे नमः।।
   सर्वार्थसिद्धि में उदधृत काव्यायम कारिका।
2. आप्तकाम शब्दस्तावदीशितुरेष्टव्याभावमिच्छा–राहित्यं वा न ब्रूते–इष्टं सर्वमस्य प्राप्तं एवं भवतीति तात्पर्यं ग्राह्यम्.........सर्वकार्य विषय–प्रतिहतान्तन्याधीने चावाम् ईश्वरः, जीवस्तु न तथा।
   तत्वंमुक्ताकलाप पृ० ३०२.
2. ततत्कर्माचरण–परिणतेश्वर–वुद्धि विशेष एवं अदृष्टम्।
   तत्वमुक्ता कलाप पृ० ३८६.

मनुष्य के कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते किन्तु अच्छे और बुरे फल ईश्वर की खुशी रोश के अनुसार ही होते है।[1]

४. नित्यविभूति परिच्छेदः– ईश्वर की नित्यविभूति क्या हैं? इसमें क्या प्रमाण है? आदि शंकाओं का समाधान इस परिच्छेद में किया गया है। ईश्वर की नित्यविभूति के अनन्त भेद हैं। यह अचेतन होते हुए भी स्वयं प्रकाश्य है। मुक्त जीव नित्यसूरि और ईश्वर में कादाचित्क इच्छा और संकल्प इत्यादि की उत्पत्ति किन्हीं विशेष कारणों से ही होती है। पाञ्चरात्र आगम में प्रदर्शित सूक्ष्म व्यूह और विभव इत्यादि भेद ईश्वर के शरीर में नित्यविभूति के कारण ही अवस्थित होतें हैं।

५. बुद्धिपरिच्छेदः– विशिष्टाद्वैत दर्शन में बुद्धि अथवा ज्ञान धर्मभूतज्ञान के नाम से अभिहित है। यह स्वयं प्रकाश्य है। भाट्ट मीमांसक ज्ञान को प्राकट्य से अर्थात् विषय प्रकाश से अनुमित मानते है। विशिष्टाद्वैत इस मत को स्वीकार नहीं करते। भट्ट पराशर ने तत्वरत्नाकर में संवित् को स्वयं प्रकाश माना है। ज्ञान में संकोच और विकास इनको मान्य हैं। धारावाहिक ज्ञान के विषय में विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय में दो मत प्रचलित है, एक मत वरद्नारायण भट्टरक के प्रज्ञापरिमाण में देखने को मिलता है, दूसरा मत श्रीभाष्यकार रामानुज का है।

ज्ञान में प्रत्यक्ष अनुमान आदि विभाग औपाधिक है। इसका प्रतिपादन करने के बाद ग्रन्थकार ने बुद्धि से संबद्ध बारह प्रश्नों को उपस्थापित करके विस्तार से उनका समाधान किया है। सुख दुःखादि के ही विशेष प्रकार है, यह बतलाते हुए ग्रन्थकार ने नैयायिकों के इस मत का खण्डन किया है कि ये आत्मा के गुण है। ईश्वर का ज्ञान इच्छादि के रूप में किस प्रकार परिणत हो जाता है, यह बतलाने के बाद ग्रन्थकार ने सिद्ध किया है कि अदृष्ट ईश्वर के प्रीति और कोप से भिन्न कोई अलग वस्तु नहीं है। अन्त में बतलाया गया है कि भरत के नाट्य शास्त्र एवं अलंकार शास्त्र के ग्रन्थों में प्रतिपादित रत्यादि स्थायी भाव भी बुद्धि के ही परिणाम विशेष ही हैं।

---

1. स एवैन गमयति स एनं प्रीतः प्राणतिएष एवं साधुकर्म कारयति तं क्षिपामि अजस्र अशुभानित्यादिभिः प्रमाण शतैः ईश्वर–प्रीति–कोपाम्यां इव धर्माधर्म फलप्राप्तिरवगम्यतें।

तत्वमुक्तकलाप पृ० ६७०.

६. **अद्रव्य परिच्छेदः**— विशिष्टाद्वैत[1] दर्शन में प्रमेय अर्थात् पदार्थ २ प्रकार का माना गया है। द्रव्य और अद्रव्य। जड़ और अजड़ भेद से द्रव्य भी दो प्रकार का है। प्रकृति और काल ये जड़ द्रव्य है। अजड़ द्रव्य पराक् और प्रत्यक भेद से दो प्रकार का है नित्यविभूति और धर्मभूतज्ञान अजड़ पराक द्रव्य हैं। जीव और ईश्वर ये अजड़ प्रत्यंक तत्व है। अद्रव्य पदार्थ १० प्रकार के है। सत्व, रज, तम्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग, और शक्ति। विशिष्टाद्वैत दर्शन में परमाणु वाद का खण्डन कर प्राकृतिक सृष्टि प्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया है। अत· यहाँ पर पंचमहाभूत और मन के पृथक प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं रहती। वैशेषिक, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव भेद से ७ प्रकार के पदार्थ मानते हैं। **कुमारिल भट्ट** विशेष और समवाय को स्वीकार नहीं करते। उनके मत में प्रमेय ५ प्रकार के ही हैं। **प्रभाकर,** द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य और समवाय के अतिरिक्त शक्ति सादृश्य तथा संख्या का भी प्रमेय में परिगणन करते है। **वैशेषिक** सम्मवंतः विशेष और अभाव पदार्थ की सत्ता ये स्वीकार नहीं करते। **माध्वमत** में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, शक्ति और सादृश्य के अतिरिक्त विशिष्ट और अंशी ये दो नये पदार्थ माने गये हैं।[2]

न्यायसिद्धाञ्जन मे वेदान्त देशिक ने वैशिष्टय का उल्लेख किया है।[3] वह माध्व संमत विशिष्ट पदार्थ से अभिन्न प्रतीत होता है। वैशेषिक के समान प्रभाकर भी ६ द्रव्य मानते है किन्तु कौमारिल शब्द और तम को भी द्रव्य में परिगणन् करते हैं। माध्व के मत में द्रव्यों की संख्या २० है। प्रायः इन सभी विषयों पर वेदान्त देशिक ने बड़े ऊहापोह के साथ अपने विचार प्रकट किये है। विशिष्टाद्वैत दर्शन के नित्य विभूति और धर्म भूत ज्ञान ये दो शब्द दर्शनिकों के लिये अपरिचित से है। इनमें से नित्यविभूति वैष्णवो का वेंकुण्ठधाम और धर्मभूतज्ञान ज्ञान का स्वयं प्रकाशत्व है।

---

1. यहां पर चित् (जीव) और अचित् जड से विशिष्ट ब्रह्म का ही अद्वैत होता है। अर्थात् चित और अचित् जिसमें अश रूप से विद्यमान रहते हैं ऐसा अशीरूप विशिष्ट ब्रह्म ही एक मात्र तत्व है विशिष्टाद्वैत शब्द इसी अभिप्राय को व्यक्त करता है। यहां चित् और अचित् की भी वास्तविक सत्ता है शंकर वेदान्त के समान मिथ्या नहीं। वास्तविक होते हुए वे ब्रह्म के अंश है इनके अशांशिभाव से सम्बद्ध होने के कारण इनकी पृथक स्थिति नहीं रहती। अपृथक्भाव से स्थित होने के कारण ही इनका अद्वैतव अव्याहत रहता है।
2. यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने द्रव्य, गुण, परिमाण, सम्बन्ध, देशकाल, स्थिति अवस्था क्रिया और भोग ये १० पदार्थ माने है।
3. देखें न्याय सिद्धाञ्जन का पृष्ठ–५५६.

चतुर्थ – अध्याय

जड़द्रव्यपरिच्छे :

जड़द्रव्य–

जो द्रव्य दूसरे से ही प्रकाशित होता है, वह जड़ है।[1] उक्त लक्षण के अनुसार प्रकृति (त्रिगुण) एवम् काल, जड़ द्रव्य सिद्ध होते हैं। ये दोनों **धर्मभूत ज्ञान** से ही प्रकाशित होते हैं, स्वय नही। श्रीनिवासाचार्य ने जड़ को परिभाषित करते हुए कहा – जो अमिश्र सत्त्व से रहित हो, वह जड़ है।[2] जड़ द्रव्य दो प्रकार का है – **प्रकृति** और काल।

प्रकृति क्या है?– वेंकटनाथ ने अचित् के स्वभाव का वर्णन करते हुए गुण की साम्यावस्था को मूल प्रकृति बताया।[3] उनके अनुसार मूल प्रकृति में **अव्यक्त अक्षर** विभक्तम् और **अविभक्ततम्** ऐसे चार अवान्तर भेद होते हैं इन्हीं चारों के अनुसार लयक्रम बनाया गया है। जिस अवस्था में गुणसाम्य स्फुट नहीं है, किन्तु चेतन गर्भत्व स्फुट रहता है वह अवस्था प्रकृति का अक्षर स्वरूप है। जिसमें चेतन गर्भत्व भी अस्फुट हो जाता है किन्तु मूल प्रकृति परमात्मा मे विभक्त रहती है वह अवस्था मूल प्रकृति की विभक्ततम् अवस्था है। जिस अवस्था में मूल प्रकृति जल मे लवण की तरह परमात्मा में बिलीन होकर अविभक्त रहती है वह अविभक्ततम् अवस्था है जो कुसूलस्थ बीज के समान है।

श्री भाष्य में कई बार अक्षर शब्द को जीव का वाचक कहा गया है।[4] भाव यह है कि यद्यपि जीवात्मा निर्विकार है फिर भी शास्त्रों में उसे सृष्ट्यातत्मक कहा गया है। पर ब्रह्म को अक्षर शब्द वाच्य मानना उचित है क्योंकि वह सब तरह से निर्विकार है। इसीलिए ब्रह्म भिन्न जीवात्मा को अक्षर शब्द वाच्य माना जाता है। अवस्था विशिष्ट रूप में मूल प्रकृति अनित्य होने पर भी त्रिगुण द्रव्य के नित्य होने से भी वह अक्षर वाच्य हो सकती है **"अक्षरं तमसि लीयते"**– से यह प्रमाणित होता है कि अक्षर शब्द वाच्य वह अवस्थाविशेषापन्न मूल प्रकृति जो जीवात्माओं से सम्बद्ध है तम में लीन हो जाती है जीवात्मा और प्रकृति का अन्त में परमात्मा में लय विष्णुपुराण के वचन से सिद्ध है।[5]

---

1. परत एव भासमानं जड़म् – न्यायसिद्धाञ्जन पृ० ३३
2 अमिस्रसत्वरहितं जडमिति – यतीन्दमत दीपिका पृ० ७२
3. समत्रैगुण्याः मूलप्रकृतिः – न्यायसिद्धाञ्जन पेज ६३.
4 अक्षरमम्बरान्तधृतेः इत्यादि अधिकरणों के भाष्य मे "प्रत्यगात्मानि–अक्षर शब्द प्रयोग दर्शनात्" ऐसा कहा गया है। अतः अक्षर शब्द को जीवात्मा वाचक मानना उचित है। – श्रीभाष्य
5 प्रकृतिर्यामयाऽख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपपिणी। पुरुषाश्चात्युभावेतौ लीयते परमात्मनि–विष्णुपुराण इसे बताने पर अक्षर शब्द से अजहत्लक्षणा के द्वारा भाष्यकार ने जीव विशिष्ट प्रकृति का प्रतिपादन किया हैं।

(क) प्रकृति का स्वरूप:– न्याय सिद्धाञ्जन के अनुसार

आचार्य वेदान्तदेशिक ने प्रकृति को गुणत्रय का समूह माना है। न्यायसिद्धाञ्जन के अनुसार रजोगुण तमोगुण तथा महदादि अवस्थाओं को प्राप्त करने के लिये योग्य होना त्रिगुण द्रव्य के लक्षण है। सत्वगुण भोग विभूति में विद्यमान होने से अतिव्याप्त है अतः यह लक्षण नही कहा गया। **"आदित्यवर्णः तमसः परस्तात्"**[1] इत्यादि श्रुतिओ द्वारा यह कहा गया है कि नित्यविभूति अर्थात् भोग विभूति प्रकृति से परे है जो विष्णुपुराण द्वारा प्रमाणित है। यहाँ मूल में विकरान् प्रकरोतीति प्रकृतिः से प्रकृति की सिद्धि की गई जो प्रपूर्वक कृञधातु से कर्तृकारक में क्तिन्प्रत्यय् होकर प्रकृति बनी। परन्तु यह उचित नहीं लगता क्योंकि **स्त्रियांक्तिन्** यहां पर **'अकर्तरि च कारके'** का अधिकार होने से स्त्री लिङ् में कर्तृकारक में क्तिन्यत्यय् संभव नहीं है अतः प्रकरोति अस्या इति प्रकृतिः इस अपादान कारक में क्तिन्यत्यय् मानकर प्रकृति को सिद्ध करना चाहिए तभी इसका यह अर्थ होता है कि ईश्वर जिसके विकारों को उत्पन्न करता है, वह प्रकृति है।[2]

"विकरान् प्रकरोतीति प्रकृतिः", यहां प्रकृति को माया कहा गया है अतः माया कहीं जाने वाली अविद्या ही प्रकृति है। प्रकृति शब्द सद्सद्विलक्षण अविद्या का वाचक है। अविद्या शब्द से यह प्रकृति ही अभिहित होती है क्योंकि यह विद्या का विरोधी है। इन त्रिगुण के २ पक्ष हैं पहला है निरवयव पक्ष तथा दूसरा है सावयव पक्ष।

(क) निरवयव पक्षः– जिस प्रकार मृद्द्रव्य मृद्द्रव्य के रूप में रहता हुआ औपाधिक विविध अवस्थाओं को अपनाकर घट और शरावादि के रूप परस्पर भिन्न बन जाये तो इसमें कोई विरोध नहीं। इसी प्रकार त्रिगुण द्रव्य के रूप में रहकर यदि अनेक अवस्थाओं को लेकर विभिन्न पदार्थ बनकर बहुत्व को प्राप्त करें तो इसमें कोई विरोध

---

1 तदनन्तमसंख्यात् प्रमाण चापि वै यतः
हेतुभूतमशेषस्य प्रकृति सा परा मुने।। विष्णुपुराण (त्रिगुबप्रकरण में)

2. न्याय सिद्धाञ्जन पृष्ठ–३६.

नहीं। भगवान् श्री पराशर जी ने विष्णु पुराण में कहा है कि कई वादी जीवात्मा एवं परमात्मामें अभेद को परमार्थ मानते है। परन्तु उनका मन्तव्य मिथ्या है क्योंकि एक द्रव्य दूसरा द्रव्य नहीं बन सकता क्योंकि जीवात्मा एवं परमात्मा विभिन्न द्रव्य है।[1] इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक द्रव्य दूसरा द्रव्य नहीं बन सकता किन्तु उसी रूप में रहता हुआ विभिन्न अवस्थाओं के कारण बहुत्व को प्राप्त कर सकता है।

(ख) सावयव पक्षः– निरवयवत्य पक्ष में स्वरूपैक्य के बने रहते यदि स्वरूपनानात्व हो जिसे मिथ्या ही मानना पड़ेगा, जिससे विवर्तवाद को भी प्रश्रय मिलेगा ऐसा न मानना पड़े अतः इस पक्ष को छोड़कर सावयव पक्ष प्रस्तुत करते है। जिस प्रकार मृत्पिण्ड स्वभावतः सावयव माना जाता है उसी प्रकार त्रिगुण द्रव्य भी स्वभावतः सावयव ही माना जाता है। अवयत भिन्न–२ होने से भेदाभेद नहीं होता तभी अवयवी न मानने से अवयविवाद भी नहीं होता। चूंकि त्रिगुण का अंश भिन्न–२ है। उनमें एकत्व हो ही नहीं सकता। एक अवयवी का उत्पादन होने के कारण उसमें औपाधिक एकत्व ही मानना होगा अतएव वह एकत्व अवास्तविक है। त्रिगुण के अवयक गन्ध इत्यादि गुणों से रहित है। परस्पर का प्रतिघात नहीं करते, सत्व रज और तम इन तीनों गुणों के आश्रय है एक दूसरे से प्रगाढ़ सम्बन्ध है तथा पंचमहाभूतों की सूक्ष्मावस्था तन्मात्रावस्था को प्राप्त होने वाले है जो श्रुति सिद्ध है।[2]

वह त्रिगुण, अर्थात् प्रकृति शब्द स्पर्शादि गुणों से रहित है, तथा रूपादि गुणों से शून्य है वह जगत् का उपादान कारण है। कारण उत्पत्ति एवं लय से शून्य है। इससे प्रकृति में शब्दादि गुणों का आभाव सिद्ध होता है।[3]

---

1 परमात्मात्मनोर्योगः परमार्थ इतीष्यते।
मिथ्यैतदन्यद् द्रव्यं हि नैतितद् द्रव्यतां यतः (विष्णुपुराण) १–२–६.

2. शब्दस्पर्शविहीन, तद्, रूपादिभिरसयुतम्।
त्रिगुण तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम्।। विष्णुपुराण – १–२–११.

3 गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी।
सितासिता च रक्ता च सर्वकामदुधा विभोः। (मंत्रिकोपनिषत्)

ईश्वर के बारे में यह **'सदोषत्व'** एवं **'निर्दोषत्व'** इन दोनों स्वभावों की शंका यहाँ होती है किन्तु यह दोष भेदाभेद भाव में अपरिहार्य है ऐसा दोष त्रिगुण द्रव्य के विषय में नहीं होता क्योंकि त्रिगुण द्रव्य का प्रत्येक अंश जड़ होता है। यहां पर एक शंका होती है कि यदि प्रत्यक्ष त्रसरेणु से व्यतिरिक्त परमाणु को मानने की आवश्यकता नहीं होती, तो प्रकृति को भी मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष सिद्ध त्रसरेणु सूक्ष्म् द्रव्यों से जगत का आरम्भ हो सकता है। लेकिन प्रत्यक्ष सिद्ध वे त्रसरेणु स्वतंत्र होकर जगत को उत्पन्न करते है तो शास्त्र विरोध उपस्थित होगा क्योंकि यदि वे ब्रह्म का शरीर न बनकर स्वतंत्र जगत के उत्पादक हो तो ब्रह्म को जगत का निमित्त एव उपादान बताने वाले श्रुतियो से विरोध होगा। यदि जगत के उत्पादक माने जाय तो शास्त्रोक्त रीति से प्रकृति को भी मानना होगा। उसी प्रकार "एकमेवाद्वितीयम" इस श्रुति का समन्वय करने के लिए उन त्रसरेवुओं में प्रलयकाल में एकत्वावस्था भी माननी चाहिए क्योंकि एकत्वावस्थापन्न त्रसरेणु समुदाय को मूल प्रकित माना जायेगा। जगत का जो अव्यक्त कारण है प्रधान एवं सूक्ष्मप्रकृति कही गयी, जो सूक्ष्म प्रकृति नित्य है तथा कार्य कारण रूप है।[1]

ये त्रिगुण सत्व रज एवं तम् ईश्वर संकल्प इत्यादि सहकारिकारणों के अनुसार परस्पर एक दूसरे को दबाने वाले, बर्धक एवं सहायक होते है। क्योंकि विभिन्न अदृष्टों से सम्पन्न विभिन्न पुरुषों में गुणें का आविभार्व या साम्यवस्था नहीं दिखती। जैसे एक ही पदार्थ विभिन्न पुरुषों में दुःख –सुख ईष्या प्राप्ति एवं कोप का कारण होता है ऐसी स्थिति में वह पदार्थ स्वभाव वाला कैसे हो सकता है।[2]

---

1. अव्यक्तं कारण यत्तत् प्रधानमृषिसत्तमै।
   प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मिक।। **(विष्णुपुराण)**
2. वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च।
   कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः **(भगवान पराशर कथित)**

प्रकृति का स्वरूप– वेङ्कटनाथ के अनुसार

जड़ द्रव्यों मे प्रधान प्रकृति ही है। जिसमें सत्त्व, रजस् एवम् तमस्–ये तीनो गुण साम्यावस्था में हों, वही मूल प्रकृति है।[1] प्रलयावस्था में प्रकृति में तीनों गुणों का साम्य रहता है। इसी अवस्था में रहने वाली प्रकृति को 'मूल प्रकृति' कहते हैं। प्रलय के समाप्त होने पर श्रीभगवान् के **'एकोऽहम् बहुस्याम'** इत्यादि रूप से होने वाले सत्य संकल्प के द्वारा प्रकृति में क्षोभ उत्पनन होता है, जिससे उसके तीनों गुणों में वैषम्य उत्पन्न हो जाता है। तीनों गुणों की प्रकृति में विषयता का होना ही प्रकृति की कार्योन्मुखावस्था है।

साङ्ख्य दर्शन में भी त्रिगुणात्मिका प्रकृति को जगत् का मूल कारण कहा गया है। परन्तु विशिष्टाद्वैत साङ्ख्य दार्शिनिकों की तरह 'पुरुष' और 'प्रकृति' में आत्यन्तिक भेद पर आधृत द्वैत को स्वीकार नहीं करते। उनके मत में प्रकृति ईश्वर पर आधारित उनकी विशेष शक्ति है, जिसके द्वारा और जिससे वह संसार का उद्भव करता है।[2] माया ईश्वर की सृजन शक्ति है।[3] सृजन या सृष्टि सूक्ष्म प्रकृति स्थूल रूप में प्रकट करता हैं। इस सूक्ष्म प्रकृति को अव्यक्त कहते हैं। साङ्ख्य दार्शनिक अव्यक्त को प्रकृति की सूक्ष्मावस्था मानते हैं और प्रकृति की स्थूलावस्था को व्यक्तावस्था कहते हैं। परन्तु विशिष्टाद्वैत विचारक 'अव्यक्त' शब्द का प्रयोग मिश्रसत्त्व के लिए करते हैं और इनकी चार अवस्थाओं का वर्णन करते हैं– प्रकृति की पहली अवस्था 'अविभक्ततम्' है। इस अवस्था में प्रकृति में विकार के कोई चिह्न नहीं होते। यह भूमि पर पड़े बीज की अवस्था है, जो उगने की ओर उन्मुख नहीं है। दूसरी अवस्था 'विभक्ततम्' कहलाती है। इस अवस्था में प्रकृति में विकार उत्पन्न होने की क्षमता स्फुट हो जाती है। इसे हम एक ऐसे बीज की अवस्था कह सकते हैं, जो उचित स्थान पर बो दिया गया है और जिसे उगने के लिए आवश्यक पदार्थो (नमी, धूप इत्यादि) का संयोग मिल चुका है। 'अक्षर'

---

1. समत्रैगुण्या मूलप्रकृतिः। – न्यायसिद्धाञ्जन, पृष्ठ ६३
2. भारतीय दर्शन का इतिहास – ३ – डा० एस० एन० दास गुप्त पृष्ठ–५७८.
3. परब्रह्मशक्तिरूपाया अजाया अवगतेः। – श्रीभाष्य १/४/६.

प्रकृति की तीसरी अवस्था है। इसमें प्रकृति विकारोन्मुख होकर उस बीच के समान बन जाती है, जिसने उगने के लिए आवश्यक मात्रा में नमी का शोषण कर लिया है। प्रकृति की चौथी अवस्था 'कार्योन्मुखावस्था' या विकासोन्मुखोवस्था है जिसे अव्यक्त शब्द से अभिहित किया जाता है। प्रकृति के जगत् कारणत्व का प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है – 'त्रिगुणम् तज्जगद्योनिः अनादिप्रभवाप्ययम्' अर्थात् तीनों गुणों की आश्रयरूपा प्रकृति जगत् का कारण है। वह आदि एवम् अन्त रहित है। दूसरी श्रुति उसे नित्य बताते हुए कहती है– 'नित्यासततविक्रिया' अर्थात् प्रकृति नित्य तथा सदा विकृत होते रहने वाली है। अत. प्रकृति को नित्य तथा अक्षर कहा गया है। प्रकृति को अविद्या इसलिए कहा जाता है कि वह अध्यात्म–ज्ञान विरोधिनी है।[1] कार्योन्मुखावस्थावस्थित प्रकृति से प्रथमतः महत्तत्व उत्पन्न होता है।

(ख) अन्य वैष्णव आचार्यो के मत में प्रकृति का स्वरूप–

१. वैष्णव धर्म के चार प्ररिद्ध सम्प्रदाय है– श्रीवैष्णव सम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, रुद्रसम्प्रदाय, सनकसम्प्रदाय। श्री वैष्णव सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य रामानुज 'विशिष्टाद्वैत' के ब्रह्मसम्प्रदाय के आनन्दतीर्थ (माध्व) द्वैत के, रूद्रसम्प्रदाय आचार्य विष्णुस्वामी तथा अनुयायी आचार्य वल्लभ, शुद्धाद्वैत के सनक सम्प्रदाय के आचार्य निम्बार्क द्वैताद्वैत सिद्धान्त के प्रचारक है।

(क) **आचार्य रामानुज के अनुसार प्रकृति–** इन्होंने मात्र तीन प्रकार के तत्वों को स्वीकार किया है। चित, अचित, तथा ईश्वर। जिसमें चित = जीव, अचित् का सम्बन्ध प्रकृति या जड़ तत्वों से है तथा इन्हीं दोनों से युक्त तीसरा ईश्वर तत्व है। ये जीव एवं जगत् के नित्यपदार्थ मानते है। सृष्टि एवं प्रलय से तात्पर्य इनके स्थूल एवं सूक्ष्म रूप से हैं क्योंकि प्रलयकाल में जीवजगत में सूक्ष्म रूपापन्न होनें पर सूक्ष्म चित्चिदविशिष्ट ईश्वर = कारणावस्था ब्रह्म कहलता है और स्थूल रूप धारण करने पर स्थूल चिद्चिद विशिष्ट ईश्वर कार्यावस्था ब्रह्म कहलाता है। सृष्टि के सम्बन्ध में चित् जीव का द्योतक है

---

1. "अध्यात्मज्ञानविरोधत्वादविद्या।" तत्त्वत्रय, पृष्ठ – ७६.

और अचित् जड़ या प्रकृति का। क्योंकि ज्ञान शून्य विकारास्पद वस्तुओं को अचित् कहते है। लोकाचार्य ने अचित् तत्व के तीन भेद माने–शुद्ध सत्व मिश्रतत्व एवं सत्व शुन्य। शूद्ध सत्व का दूसरा नाम नित्यविभूति है इसी सत्व की कल्पना रामानुज दर्शन की विशेषता है।[1] क्योकि कर्म के साथ भक्ति के उदय होने में ज्ञान सहकारी कारण है तथा भक्ति प्रधान कारण।[2] रामानुज ज्ञान को द्रव्य मानते है जो दो प्रकार के हैं जड़ और अजड़। ज्ञान एक अजड़ द्रव्य है जिसकी दो कोटियां है पराक् एवं प्रत्यक। वे अजड़ द्रव्य जो दूसरे के लिए हो जिसमें अपनी स्वरूप चेतना का अभाव हो पराक् की श्रेणी में है अजड़ वह है कि जो स्वयं प्रकाश है। अपने को बिना किसी आश्रय में अपनी सत्तामात्र से प्रकाशित करने की क्षमता का नाम है।[3] स्वयं प्रकाशित होने के कारण ज्ञान उस सभी वस्तुओं को प्रकाशित कर देता है। जिनसे इनका सम्पर्क होता है वस्तुओं के प्रकाशक के रूप में ज्ञान को बुद्धि शेमुषी, प्रज्ञा, मति, धी, संवित्, इत्यादि का पर्याय कहते हैं।[4] स्वयंप्रकाश असकुचित ज्ञान ईश्वर और आत्मा का स्वरूप है।[5] रामानुज के अनुसार प्रत्येक ज्ञान का कोई न कोई विषय अवश्य होता है जिसकी सत्ता को वह प्रकाशित करता है।[6] दूसरे शब्दों में रामानुज ईश्वर को जगत् का उपादान कारण भी मानते है। और निमित्त कारण भी[7] अद्वारक एवं सद्वारक दोनों प्रकार की सृष्टियों के लिये आवश्यक द्रव्य मिश्र प्रकृति ही है। चूंकि यह ज्ञान विरोधी है इसी लिए इसे अविद्या कहते है।[8] मूलप्रकृति सत्व रजतम् से संयुक्त होता है। प्रकृति ईश्वर पर आधारित उसकी विशेष शक्ति है जिससे संसार का उद्भव होता है। माया ईश्वार की सृजन शक्ति हैं इस सृजन शक्ति या सूक्ष्म प्रकृति को अव्यक्त प्रकृति भी कहते है।[9]

---

1. तत्वत्रय पृष्ठ – ४१.
2 द्रष्टव्य – रामानुज – वेदार्थसग्रह पृ० १४५ – १४७.
3. स्वयंप्रकाशता तु स्वसत्तैयेव स्वाश्रयाय प्रकाशमानता–श्रीभाष्य १/१/१
4 ज्ञान मतिः प्रज्ञा, सवित् धिषणा धीः मनीषा शेमुषी मेधा बुद्धिरित्येवमदय शब्दाः ज्ञानपर्याया.। यतीन्द्रमतदीपिका पृ० ५६
5 श्रीभाष्य २/३/२६.
6 न च निविषिया काचित्सविदस्ति। श्रीभाष्य-- १/१/१.
7 वेदार्थ सग्रह पृ० २६.
8. ज्ञान विरोधत्वाद्‌विद्या। तत्त्वत्रय पृ० ७६.
9 परब्रह्मशक्तिरूपायाअजायाअवगते–श्रीभाष्य--१/४/६.

सृष्टि के पूर्व इन्हें इनकी सूक्ष्मता तथा नाम रूप विहिनता के कारण असत् कहा गया है। चित् और अचित् विकसित होकर नाम रूप धारण कर जगत् की संज्ञा प्राप्त करते है। क्योंकि रामानुज का सिद्धान्त सत्कार्यवाद का पक्षधर है।

रामानुज की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उनमें जगत् की वास्तविक सत्यता सत्योपादान, सत्यकार्यवाद, परिणामवाद, की सुद्रढ नीव पर आधारित है यह सारा जगत् पारमार्थिक सत्य प्रकृति का वास्तविक परिणाम व विकार है।

माध्वमत् दर्शन के अनुसार प्रकृति–

यद्यपि वैष्णव वेदान्त सम्प्रदायों के समान, मध्व का द्वैतवाद भी शंकर के विरोध में अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। इनके दर्शन की प्रसिद्धि रामानुज के दर्शन की ही भांति है। मध्व न्याय वैशेसिक दर्शन से प्रभावित रहे साथ ही ब्रह्म को केवल निमित्त कारण तथा प्रकृति उपादान कारण मानने में वे न्याय के साथ–साथ द्वैतवाद से प्रभावित लगते है। इनकी ज्ञान मीमांसा न्याय वैशेसिकों की अपेक्षा सांख्य के अधिक निकट की प्रतीत होती है।[1] ये तीन प्रकार के प्रमाण को मानते है। (प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द) उक्त तीनों प्रमाणों मं माध्व के अनुसार प्रत्यक्ष सर्वाधिक प्रमाणित और निश्चयात्मक माना गया है।[2] इनके मत में परब्रह्म ईश्वर स्वतंत्र तत्व है जबकि प्रकृति और जीव परतंत्र है इस प्रकार स्वतंत्र एवं परतंत्र रूप से तीनों तत्वों का दो वर्ग है।[3] ये तीनों सत् है क्योंकि इनकी सर्वदा प्रतीत होती है।[4]

जगत् प्रकृति का वास्तविक विकार या परिणाम है, अर्थात् प्रकृति का कार्य है वह दृष्य जगत अतः सम्पूर्ण जगत् के उपादान कारण के रूप में प्रकृति को माना गया है जिसका लक्षण है। आवश्यक रूप से परिणामी होते हुए वह कार्य को उत्पन्न करने का उपादान हो।[5] जैसे घट–मिट्टी या जगत् प्रकृति और घट–कुम्हार उसके दण्ड आदि जगत्–ब्रह्म एवं जीवों के अदृष्ट आदि।

---

1. प्रमाणचन्द्रिका।
2. नहि दृष्टेर्बलवत्किचित् प्रमाणम् तत्वोद्योत पृ० ३१.
3 स्वतंत्रमस्वतन्त्र चद्विविध, तत्वमिष्यते। तत्तसख्यान्।
4. तत्वोद्योत पृ० १६ एवं न्यायामृत पृ० – ६५–६७.
5. परिणामिकारणं हि उपादानमुच्यते – न्यायसुधा पृ० १६४.

नित्यपदार्थो में जैसे प्रकृति, आत्मा काल आदि में पराधीन विशेषाप्ति रूप परिणाम होता है।[1] जगत् का उपादान कारण प्रकृति एक पारमार्थिक तत्व है। अतः उसका विकार असत् नहीं हो सकता प्रकृति की साम्या वस्था का नाम ही प्रलय है। ब्रह्म की इच्छा द्वारा प्रकृति की साम्यावस्था में बिक्षोभ कैसे होता है। इसके उत्तर में माध्व प्रकृति को ब्रह्म का शरीर मानते है। माध्व ब्रह्मजीव ओर जड़ जगत् मे भेद की वास्तविकता को मानते है। तथा भेद के रूप उतने ही होते है। जितने रूपों में वस्तु का सम्बन्ध दूसरी वस्तु से होतो है। यही पदार्थ का स्वरूप है।[2] निरपेक्ष सत् सर्वगुण सम्पन्न ब्रह्म ही परम् तत्व है स्वतंत्र है, अनेक नामों वाला है।[3] प्रकृति ही जगत् का उपादान कारण है। उसकी आच्छदिता शक्ति जीवों के भ्रम का कारण है यह शक्ति ही अविद्या है जो प्रकृति का विशेष रूप या अंश है। ब्रह्म से प्रकृति का स्वरूपतः भेद है प्रकृति से उसका अभेद असम्भव है। स्वरूपतः भिन्न होते हुये भी जीव एवं जगत् की सत्ता और प्रतीति ब्रह्म् के अधीन हैं।[4]

प्रकृति साक्षात् या परम्पराया विश्व का उपादान करण है या जड़रूपा नित्या, व्याप्ता सर्वजीवलिङ् शरीर रूपा है इनके अनुसार जगत के जन्मादि व्यापार में परमात्मा केवल निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण है।

निम्बार्क मत में प्रकृति– निम्बार्क सम्मत चित अचित् तथा ईश्वर का स्वरूप रामानुज के अनुरूप ही है। ''अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते'' इस गीता वाक्य में प्रकृति सृष्टि की कर्त्री मानी जाती है तथा कर्ता होने के अभिमानी आत्मा का अहंकारी बिमूड़ कहा जाता है संसार की प्रवृत्ति में प्राकृत गुण से संमूढ आत्मा प्रकृति के गुणों द्वारा प्रयुक्त होकर ही कार्य में प्रवृत्त होता है।

---

1. पराधीन विशेषाप्तिरूप्पत्ति ईशाद-यस्य स्वार्थे ....न्यायसुधा पृ० १६५.
2. सत्यभेदस्तु वस्तुनां स्वरूप नात्रसशयः। न्यायमृत – ५५८.
3. सृष्टि स्थिति संहार नियमन ज्ञानाज्ञान बन्धमोक्षाः यतः (अणु) व्याख्या १/१/१.
4. स्वनियतसत्ता शक्तियादिमद्भिःरेव कारणैः इदं जगत्सदा करोति। न्यायसुधा–२६६.

"**अघटनघटनापटीयसी**" गुणमयीप्रकृतिरूपिणीमाया से आवृत्त होने के कारण जीव का धर्म भूतज्ञान संकुचित हो जाता है। चेतना हीन पदार्थ ही अचित या प्रकृति के श्रेणी में आते है जो तीन प्रकार के होते है।

१. **प्राकृत**— महतत्व से लेकर महाभूत तक प्रकृति से उत्पन्न जगत्

२. **आप्राकृत**— प्रकृति के राज्य से वहिमूर्त जगत्।

३. **काल**— अचेतन पदार्थ माना जाता है योग शास्त्र में जो क्लेश बतायें गये है, वे प्रकृति के ही विकार है। जो अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश के रूप में जाने जाते है।

निम्बार्क का मत रामानुज के मत से काफी मिलता जुलता है। निम्बार्क रामानुज के समान सत्ख्यातिवादी हैं। इनका कहना है कि प्रमाण के बल पर भ्रान्तज्ञान का बाध उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पाप पुण्य का। जीव या पुरुष तथा अचेतन प्रकृति परमात्मा से भिन्न अस्तित्व रखते हुये भी उसके अधीन है। प्रकृति एवं पुरुष के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला ब्रह्म दोनों से भिन्न स्वतंत्र तत्व हैं अतः परिणामी होते हुये भी ब्रह्म अविकारी बना रहता है।[1] प्रत्येक जीवात्मा को जगत का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि उपादान के कारण में उन्हें प्रकृति की उसी प्रकार अपेक्षा है जिस प्रकार कुम्हार को मिट्टी आदि उपादान की।

कार्य कारण सिद्धान्त में निम्बार्क ने प्रकृति विकार धर्मी एवं धर्म कारण एवं कार्य भिन्नाभिन्न है अतः इन्होंने परिणाम वाद एवं सत्कार्यवाद का सहारा लेकर भेदाभेद सम्बन्ध बनाया।

इन्होंने प्रकृति को चेतन का विजातीय तत्व बताया। यही त्रिगुणात्मिका प्रकृति तमस, अजा, अव्यक आदि नामों से अचेतन प्रकृति कही गई जीवात्मा परमात्मा का अंश है। अचेतन प्रकृति के समान उसमें विकार नहीं होते।[2]

1. वेदान्त पारिजात सौरभ २/१/७ प्रकृतिविकारयोः सर्वथा सादृश्यनियमस्यप्रतिषेधमात्रत्वात्"।
2. अविभागेऽपि समुद्रतरंग्योरिव सूर्यतत्प्रभयोरिव तयोः विभागः स्यात्। वेदान्त पारिजात सौरभ १/१/१३.

बल्लभदर्शन – शुद्धाद्वैत वेदान्त में प्रकृति– इसमें जीव ज्ञाता ज्ञानस्वरूप तथा अणुरूप है। भगवान् के अविकृत सदंश से जड़ का निर्गमन और अविकृत चिदंश से जीवका निर्गमन होता है ये परिणामवाद को मानते है ये जगत को अविकृत परिणामवाद का परिणाम मानते हैं। तथा प्रकृति को अविद्या के रूप में मानते है। जीव को आनन्द मय बना देना ही प्रभु की प्रकृति है। प्रकृति का अर्थ है स्वभाव/पुरुषोत्तम स्वयं सचिच्दानन्द रूप ठहरे। अतः वे जीव को भी वही रूप प्रदान करें। प्रभु का यह भाव ही स्वरूपापत्ति कहलाता है।

यहाँ पर माया के सम्बन्ध से रहित शुद्ध ब्रह्म एवं जगत् का कार्य कारण रूप ऐसा बताते है। जो शुद्ध अद्वैत है। चूंकि जड़ जगत् एवं जीव रूप में परिणत होकर वह स्वयं अविकृत रहता है। इस प्रकार बल्लभ ने अविद्या कृत परिणामवाद स्वीकार किया है। बल्लभ वेदान्त में ज्ञान या प्रमा अन्तःकरण का सात्विक परिणाम है जो सत्व गुण बढ़ाने वाली सामग्री से होता है।[1] इन्होंने प्रमेय तत्व को ब्रह्म कहा जो सर्व धर्म विशिष्ट है। सगुण है। उसकी शक्तिमाया भी उससे अभिन्न है वही ज्ञान आनन्द काल इच्छा क्रिया माया प्रकृति रूप में पहले होता है।[2] यहीं सभी विरुद्ध धर्मो का आश्रय है अतः स्वरूपतः अविकृत रहकर भी अपने को ही रचता है।[3]

ब्रह्म अपने आनन्द अंश को तिरोहित कर लेता है। तथा माया जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होने देती। माया का रूप ही अविद्या और माया या उपादान प्रकृति है।[4] मूल पुरुष दोनों प्रकृतियों को अपनाता है। इसमें ईश्वरेच्छा ही कारण है।

---

1. प्रस्थानरत्नाकर पेज ५–६.
2. प्रस्थानरत्नाकर पेज १५६.
3. अणुभाष्य १/१/३.
4. प्रस्थानरत्नाकर पेज १६१.

अन्य दार्शनिक सम्प्रदायें में प्रकृति–

१. **चार्वाक दर्शन में प्रकृति–** चार्वाक एक जड़वादी दर्शन है इसमें भूत की सत्ता बताई गयी है। यह अनीश्वरवादी, प्रत्यक्षवादी तथा सुखवादी दर्शन है। ये प्रत्यक्ष के अलावा किसी भी तत्व को यथार्थ नहीं मानते तथा जड़ जगत् को पंच भूतों वाला बताते है। डा० राधाकृष्ण ने कहा है कि "चार्वाक दर्शन में अतीत काल के विचारों से जो उस युग को दबा रहे ये मुक्त करने का भीषण प्रयास पाते है।[1] यहां अनुमान शब्द आदि की सत्तानिराधार मानी गई है। यह विशुद्ध भौतिकवादी दर्शन है जो लोकायत के नाम से भी जाना जाता है ये जड़ से भिन्न किसी चेतन तत्व को स्वीकार नहीं करते है। यहां कार्य एवं कारण का हेतु प्रकृति है।[2] प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण माना है।[3] जड़ पदार्थ की तरह ही आत्मा की अनित्यता का प्रतिपादन है जैसे जल के बुलबुले। अतः मन को आत्मा नहीं माना जा सकता है। यही मन आत्मवाद है।[4] यहां जड़ तत्व को प्रकृति बताया गया है क्योंकि मन एवं चैतन्य की उत्पत्ति जड़ से होती है।

२. **जैन दर्शन में प्रकृति–** मनुष्य का आवश्यक गुण चेतना है। इनका कुछ आधार आवश्य होगा वही आधार ही द्रव्य कहा जाता है। साधारणतया जिसे भूत कहते है जैनी उसे पुद्गल कहते है। ये भौतिक द्रव्य हैं अतः यही प्रकृति है। 'पुद्गलास्तिकाय' यह संज्ञा जैन शास्त्र में है अन्य दर्शन में पुद्गल को प्रकृति परमाणु आदि शब्दों से पुकारते है। चैतन्य रहित जड़ पदार्थ को जीव कहते है। जो द्रव्य पूरण व गलन द्वारा विविध प्रकार से परिवर्तित होता है पुद्गल है।[5] द्रव्य वह है जिसमें गुण एवं पर्याय की स्थिति हो।[6] प्रकृति को ही जैसी स्यादवाद के रूप में मानते हैं।

---

1. डा० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन खण्ड १ पृष्ठ २८३.
2. कार्य कारण कतृत्वे हेतु प्रकृतिरुच्यते - गीता १३/२०.
3. प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् – बृहस्पति सूत्र।
4 सदानन्द, वेदान्तसार पृष्ठ–३७, ३८, ३९, ४०.
5. पूरणकलनान्वर्थसंज्ञत्वात्पुद्गलाः – राजवार्तिक ५/१/२४.
6. गुणपर्यायवद्द्रव्यम् – तत्वार्थाधिगमसूत्र ५/३८.

३. **बौद्धदर्शन में प्रकृति–** शून्यवाद का अर्थ शून्यता से नही वर्णनातीत है शून्यवाद को सापेक्षवाद भी कहा जाता है। जिसके अनुसार वस्तुओं का स्वभाव अन्य वस्तुओं पर निर्भर रहता है। इसे मध्यम मार्ग बताया गया है क्योंकि बुद्ध मध्यम मार्गीय थे। डा० रामाकृष्णन ने शून्यता को भावात्मक सिद्धान्त बताया है शून्यता सभी विषयों का आधार है। जो प्रकृति के रूप में जानी जाती है।[1] संसार की राभी वरतुयें सत् नही भ्रम मात्र है।[2] यह वह तत्व है जिसकी व्याख्या शब्दों में नहीं है जिसे सत् असत् सद्सत् और सद्सद्विलक्षण कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।[3] वस्तुतः शून्यवादियों के दृष्टिकोण से परमार्थ शून्य है।[4]

४. **न्याय वैशेषिक दर्शन में प्रकृति–** न्याय विश्व की सृष्टि पृथ्वी जल् वायु, अग्नि के परमाणुओं तथा आकाश दिक काल मन तथा आत्मा से करता है। यही न्याय की प्रकृति है। परमाणु के संयोजन से सृष्टि होती है किन्तु इनमें गति का संचालन ईश्वर के द्वारा ही होता है। न्याय में मन को अणु माना गया अणु होने से मन अप्रत्यक्ष है कार्य के समवायिकारण और गुण तथा कर्म के आश्रय भूत पदार्थ को द्रव्य कहते है। जो किसी कारण पर उपादान कारण होता है। वह अनित्य द्रव्य है। जिस साधन से हम अपने (गेय) तत्व के पास पहुँच जाते हैं वही साधन न्याय है।[5] न्याय परमाणुवाद के प्रकृति से जोड़ता है, पृथ्वी जल तेज वायु ये नित्य द्रव्य हैं जो परमाणु है निखयव है जब इन पर परस्पर संयोग होता है तभी जगत की सृष्टि होती है।

---

1 भारतीय दर्शन संस्करण १ पृष्ट ६६३. (डा० राधाकृष्णन्)
2. अलातचक्रनिर्वाणस्वप्नमायाम्बुचन्द्रकः। धूमिकान्त प्रतिश्रुत्कामरीच्यभैः समोभवः (चतुःशतककारिका ३२५)
3. माधवाचार्यकृत सर्वदर्शन सग्रह।
4. (शून्यंत्तवम्)
5. "प्रमाणैर्थ परीक्षणं न्यायः न्यायभाष्य" – १/१/१.

–वैशेषिक पदार्थ को दो तरह का मानते है जिनमें पहला भाव पदार्थ तथा दूसरा अभाव पदार्थ। भाव पदार्थ में आने वाला द्रव्य ही प्रकृति है द्रव्य गुण एवं कर्म एक दूसरे के पूरक हैं। द्रव्य के बिना गुण एवं कर्म अकल्पनीय है क्योंकि द्रव्य गुण एवं कर्म अधिष्ठान है। और अपने कार्यों के उपादान कारण। पदार्थों को वैशेषिक ने वस्तुनिष्ठ एव अनुभव निरपेक्ष एवं मौलिक सत्व कहा। इसके बिना गुण एवं कर्म की कल्पना नहीं वैशेषिकों ने परमाणु को द्रव्य की कोटि मे रखा।[1] वैशेषिक, जगत् की वस्तुओं के लिए पदार्थ शब्द का व्यवहार करते है अत अभिधेय या नाम धारण करने वाली वस्तु ही पदार्थ है।[2]

वैशेषिक परिणाम शब्द का अर्थ वास्तविक परिवर्तन से लेते है। जो सत्व रज और तम् इन तीन गुणों (प्रकृति) से इस संगत का उत्पादन मानता है प्रकृति भी सत्व है जगत् की प्रकृति कारण है और जगत् का कार्य यही वैशेषिक का परिणाम है।[3]

साङ्ख्यव योग प्रकृतिः– समस्त विश्व प्रकृति का परिवर्तित रूप है, चूंकि सांख्य समस्त विश्व को प्रकृतिक परिणाम मानता है इसीलिए साख्य के मत को प्रकृति परिणामवाद कहा जाता है। इसके विरुद्ध रामानुज के मत को ब्रह्मपरिणामवाद रहते है। कार्य कारण के सिद्धान्त के आधार पर ही विश्व का अन्तिम कारण अव्यक्त प्रकृति को ठहराया जाता है। राधाकृष्णन ने प्रकृति को सिद्ध करने के लिए कहा कि साख्य जिन तथ्यो का सहारा लेता है वहां सत्कार्यवाद सिद्ध होता है।[4] प्रकृति को प्रकृति इसलिए कहा जाता है कि वह विश्व का मूल कारण है। प्रकृति एक ही है। जिसे तथ्य माना गया। प्रकृति उद्देश्य है क्योंकि सूक्ष्मता के कारण प्रत्यक्ष का विषय नहीं अनुमान से प्रकृति अत्यक्त है। अतः सम्पूर्ण विश्व प्रकृति में अर्न्तभूत है। वह अकारण वस्तु जो विश्वका कारण है। प्रकृति है।

---

1. आर्टिकल सर्वे आफ इण्डियन फिलासफी पेज, १८९ द्वारा डा० सी० डी० शर्मा।
2. मानमेयोदय पृष्ठ २५८, २६२,
3 मुक्तावलीकारिका पृष्ठ ३६, ३७.
4. भारतीय दर्शन, संस्कृत द्वितीय पृष्ठ २५६ (डा० राधाकृष्णन)

सांख्य के समय योग में भी चित्त को त्रिगुणात्मक एवं परिव्यापी माना गया है। सत्व रज एवं तमस इन तीन गुणों के कारण ही चित्त से गुणों के वैषम्व के द्वारा ही विभिन्न वृत्तियों उत्पन्न होती है। चित्त की आव्यन्तिक शुद्धि का फल है **विवेक ख्याति**। जो सत्व गुण की उच्च अवस्था प्राप्त होने पर मिलती है। तभी योगी का ऐश्वर्य उदित होता है। उसके बाद कैवल्य होता है। **महामहोपाध्याय गोपीनाथ** के अनुसार विभूतियां हेय नहीं है क्योंकि वे भगवान की दिव्य विभूति है जो शुद्ध सत्व के कार्य है।[1] योग की यही प्रकृति है। ये साख्य का समर्थक है लेकिन छटवीसवा तत्व पुरुष को जोड़ता है। जिससे वह सेश्वर साख्य को भागी होता है।

मीमांसा दर्शन में प्रकृतिः— यहां जगत् एवं उसके समस्त विषय को सत्य माना गया है। मीमांसक बौद्ध मत के शून्यवाद और क्षणिकवाद तथा अद्वैतदर्शन के मायावाद के आलोचक है मीमांसक आत्मा स्वर्ग, नरक तथा देवताओं का अस्तित्व मानते है। ये परमाणु की सत्ताको मानते है। ये परमाणु को ईश्वर द्वारा संचालित नहीं मानते है। अतः जीवात्माओं को कर्मफल भोग करने योग्य संसार बन जाता है। प्रभाकर की पदार्थ गणना कुमारिल से भिन्न है उनके अनुयायी शालिक नाथ ने प्रकरण पंचिका द्रव्य गुण, कार्य, सामान्य, समवाय, संख्या शक्ति, समुदाय ये आठ प्रकार के पदार्थ माने हैं।[2] अनुभव के आधार पर शक्ति को भी पदार्थ माना गया क्यों कि शक्ति द्वारा ही प्रत्येक वस्तु अपना कार्य करती है। अतः शक्ति को एक पृथक पदार्थ मानना असंगत नहीं है। कुछ मीमासक अणुवाद को स्वीकार करते है क्योंकि जगत के सभी पदार्थ अणु से उत्पन्न है। मीमांसको भी दृष्टि में ज्ञान का प्रामाण्यस्वतः और अप्रामाण्य परतः होता है।[3] ज्ञान होने पर तद्नुसार होने वाली प्रकृति यदि सफल रहती है तब हम तर्क से पूर्वज्ञान को यथार्थ समझते है अतः प्रामाणयपरतः है स्वतः नहीं।[4] इस प्रकरण में प्रामाण्य न समझने में बराबर अनुमान के प्रयोग से अनवस्थ दोष होगा अतः परतः प्रामाण्य के स्वीकारना उचित नहीं। स्वतः प्रामाण्य इन्हीं दोष से रहित होने से स्वीकारने योग्य है।[5]

---

1 एक एव चतुधार्थ महायागोऽभिधियिते। भारतीय संस्कृति और साधना २ खण्ड पृष्ठ २४४.

2. प्रकरणपचिका – पृष्ठ ८१ – ८२.

3. न्यायरत्नमाला।

4 न्याय कन्दली पृ० ६१

5. शास्त्रदीपिका पृ०. २१३, २१४.

शंकर केअद्वैत दर्शन में प्रकृतिः– ये जगत् की सत्ता को निमूर्ल मानते है। जगत् स्वप्नवत् अलीक है। स्वप्नज्ञान स्मृति मात्र है और जागरितज्ञान उपलब्धि है। इन्होंने मायावाद को भक्ति को शत्रु माना। अद्वैत के अनुसार केवल ब्रह्म या आत्मा ही तात्विक पदार्थ है जिसकी पुष्टि रोमर ने स्वयं किया है। **"एकमेवाद्वितीयम्"** छा० ६/२/२१/ शंकर अध्याय को ही अविद्या कहते है। ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीति है। जिसकी भी प्रतीति हे वह अविद्या है प्रत्यक्षदि भी अविद्या मूलक है। सत् और असत् से विलक्षण संसार प्रपञ्च के बीजभूत नाम और रूप जो अविद्या कल्पित है इसे ईश्वर की माया शक्ति और प्रकृति कहते है। माया को त्रिगुणात्मिका मानकर उसे अलग भावरूप पदार्थ मान लेते है। गीताभाष्य में ६/१० में शंकर ने स्वयं माया को त्रिगुणात्मिका अविद्यालक्षणप्रकृति कहा जो सचराचर जगत को उत्पन्न करती है।[1] शंकर ईश्वर को मानते है ईश्वर सगुणब्रह्म, अपर ब्रह्म, एवं कार्यब्रह्म, अद्वैत वेदान्त के पर्याप है। पचंदशीकार के अनुसार माया विशुद्ध सत्त्वप्रधान है। जब कि अविद्या मलिन सत्वप्रधान है।[2]

प्रकृति से जगत् की उत्पत्तिः– जगत् की उत्पति, स्थिति और लय भगवान् के ही कारण है। गीता के शब्दों में भगवान सब भूतों का सनातन, अविनाशी बोज है।[3] या अव्यय बीज है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है तथा अन्त में फिर बीज में ही लीन हो जाता है उसी तरह यह जगत भगवान् से उत्पन्न होता है फिर उसी में लीन हो जाता है जगत् के अवान्तर काल को ब्रह्मा का दिन कहते है तथा तिरोभाव काल को ब्रह्म की रात्रि कहा गया है।[4]

जिसमें सत्व रज और तम् तीनों गुण साम्यावस्था में हो वही मूल प्रकृति है। इसमे अव्यक्त, अक्षर विभक्ततम, और अविभभक्तम ऐसे चार अवान्तर भेद है। अतः **"अव्यक्तमक्षरेलीयतेअक्षरंतमसिलीयतेतमः"** परे देव एकीभवति" इससे अवान्तर भेदों को लेकर लयक्रय बनाया गया। अक्षर और तम् अव्यक्त की सूक्ष्मवस्था है अतः उनमे अधिक भेद नहीं रहता अतः अव्यक्त को जगत का मूल कारण मानना चाहिए।[5] श्री भाष्यकार स्वामी ने यह बताया कि यद्यपि जीवात्मा निर्विकार है फिर भी शास्त्रों में उसे सृष्ट्यात्मक

---

1. ब्र० सूत्र भाष्य १/४/३ का भाष्य।
2. पचदशी १/१६–१७.
3. सनातनं बीजम् – ७/१० या बीजमत्ययम् ६/१८
4. भगवद् गीता – ८/१८ – १६.
5. समत्रैगुण्यामूल प्रकृतिः– न्यायसिद्धान्जन पेज ६३

कहा गया है। परब्रह्म को अक्षर शब्द वाच्य माना गया क्योंकि वह सब तरह से निर्विकार हैं। अक्षर शब्द वाच्य जीवात्मा तथा जीवात्मा से सम्बद्ध अवस्था सम्पन्न अक्षर शब्द लक्ष्य प्रकृति ये दोनों तम में लीन हो जाते हैं फिर परमात्मा में लीन हो जाते है जीवात्मा एवं प्रकृति का परमात्मा में लय विष्णुपुराण से सिद्ध होता है।[1]

त्रिगुणात्मक प्रकृति ही माया और अविद्या के नाम से जानी जाती है। प्रकृति अवस्था विशेष जिसमें अव्यक्त महत् अंधकार एकादश इन्द्रियां पञ्चतन्मात्र और पञ्महाभूत ये कुल २४ तत्त्व होते है। सांख्य इनमें अलग प्रकृति के मानता है वेदान्ती सावयव प्रकृति को मानते है जिससे निखिल जगत की सृष्टि होती है। इसमें परमाणु के उपादान की आवश्यकता नहीं जिसमें सत्व रज एवं तम् तीनों साम्यावस्था में हो वह मूल प्रकृति है। यहां शून्यवाद का निराकरण किया गया है।

मनुष्य की उत्पत्ति श्रृंङ्खलाबद्ध है जो तीन काण्डों से होकर बाहर अंगों में विभक्त है। जिनमें तीन प्रमुख है। १. अतीत जन्म से सम्बन्धित है अविद्या और संस्कार तथा २. वर्तमान जीवन से सम्बन्धित आठ तत्व हैं– विज्ञान, नामरूप, षड़ायतन, चेतना, तृष्णा उपादान भव, स्पर्श तथा अन्तिम जो भविष्य से सम्बन्धित है– जरामरण। कर्मो के अनुसार जीव को शरीर मिलता है। शरीर का निर्माण एंव विभाग भी जीव के द्वारा होता है। क्योंकि जीव निमित्तकारण बनकर पुदगल कण समूहों को रूप देकर शरीर का निर्माण करते है।[2] वौद्धो ने पुद्गल को आत्मा से जोड़ा है लेकिन जैनी इसका अर्थ जड़ या भौतिक तत्व से लेते है।[3]

ईश्वर को निमित्त कारण के रुप में जगत् का कर्त्ता बताया गया है जो परमाणुओं से जगत् की सृष्टि करता है वह इस सृष्टि कार्य के लिए उपदान करण के ऊपर अवलम्बित रहता हैं। यह जगत् नित्य एवं अनित्य तत्वों से बना है, जिसमें नित्यतत्व पृथ्वी, जल, तेज, वायु, के परमाणु है परमाणुओं की क्रिया एवं संयोग से

---

1 प्रकृतिर्यामयाऽख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी। पुरूषाश्चाप्युभावेतौ लीयते परमात्मनि। विष्णुपुराण।

2. रूपिण पुद्गला. – तत्वार्थ सूत्र।

3. पूरणगलनान्वर्थ संज्ञात्वात् पुद्गल - राजवार्तिक ५/१/२४

भौतिक जगत् बना है। क्रमशः पृथ्वी जल तेज वायु चार महाभूतों की उत्पत्ति के बाद माहेश्वर के संकल्प से ही 'अण्ड' की उत्पत्ति इसमें तेज के परमाणु उपदान के कार्य है पृथ्वी के परमाणु इसके सहायक है। निमित्त कारण है। तब अण्ड के अधिपति के रुप में ब्रह्म का उत्पादन करके वह माहेश्वर सृष्टि के लिए ब्रह्म को नियुक्ति करता है। इसी लिए अण्ड को ब्रह्माण्ड भी कहते है ब्रह्म् कार्य करना जीवो को सौंपते है। जीवात्मा और ईश्वर में यह अन्तर अवश्य है कि जीवात्मा के ज्ञानादि गुण अनित्य है।[1] जबकि ईश्वर इन सबसे रहित है।[2] शक्ति आदि की दृष्टि से दोनों में अन्तर है। किन्तु दोनों आत्मा है इसी अन्तर के कारण ईश्वर को परमात्मा कहते है।[3]

आत्मा के उस भोगायतन के शरीर कहते है जो अन्त्य अवयवी है अर्थात् शरीर चेष्टा ओर इन्द्रिय का आश्रम है। चेतना की गति ही शरीर का मुख्य लक्षण है इन्द्रियॉं तो केवल उस गति का माध्यम है। अतः शरीर के चेष्टाश्रय भी कहते हैं उदयनाचार्य के अनुसार ईश्वर निम्न है–

कार्यायोजन धृत्यादेः पदात् पत्ययतः श्रुतेः

वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यों विश्व विद्त्ययः।[4]

जड़ प्रकृति का परिणाम ही सृष्टि है यह लिङ् शरीर १८ तत्वों का बना जिसमें बुद्धि अहंकार ग्यारह इन्द्रियां (मन पांच इन्द्रियां पञ्चज्ञानेन्द्रिय + ५ कर्मेन्द्रिय + ५ तन्मात्राएं) = प्रकृति + २३ विकार + एक पुरुष = २५ जिसमें २३ विकार व्यक्त कहे जातें है। वास्तव में प्रकृति एवं विकृति दोनों सापेक्ष शब्द है।

जिसमें प्रकृति कारण एवं विकृत कार्य है। महत्तव अहंकार एवं पञ्चतन्मात्राऐं ये प्रकृति एवं विकृत दोनों है तथा पम्पमहाभूत दश इन्द्रियां एवं मन केवल विकृत है ये

---

1. तात्पर्याटीका – ४/१/२१ पृ० ५६५.
2. न्याय वार्तिक ४/१/२१ पृ० ४६६.
3. मुक्तावली कारिका पृ० ४७.
4. न्याय कुसुमांञ्जलि ५/१.

नये तत्वों को उत्पन्न नहीं करते इसीलिए प्रकृति नहीं कहे जाते। ये सब सम्मिलित होकर क्रियाशील होते है प्रकृति भी सत्व रज तम् का निवृत्त है तथा व्यक्त एवं अव्यक्त दोनो का विषय है। अतः अनेक पुरुषों द्वारा ग्रहण करने के योग्य है अचतेन तथा प्रसवधर्माहै।

तमः प्रधान विक्षेप शक्ति से युक्त अज्ञानोपहित चैतन्य से सूक्ष्म तन्मात्र रूप आकाश की उत्पत्ति, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन सूक्ष्म भूतो से सत्रह अवयव वाले सूक्ष्म शरीरों की और स्थूल भूतो की उत्पत्ति हुई। स्थूल भूत पचीकृत होते है अर्थात् प्रत्येक भूत में अपना आधा अंश होता है जैसे आकाश १/२ = आकाश + १/८ पृथ्वी + १/८ जल + १/८ तेज + १/८, वायु प्रत्येक स्थूल भूत पञ्चभूतात्मक होते है यही पंचीकरण है। ईश्वर अपनी माया शक्ति के द्वारा सृष्टि करता है क्योंकि अद्भूत पदार्थो की सृष्टि कर्ता माया है इसीलिए ईश्वर को माया की भी कहा गया है। साथ ही पञ्चीकरण से पूर्व जो सृष्टि होती है वह समस्टि सृष्टि है तथा पञ्चीकरण के बाद की सृष्टि व्यष्टि सृष्टि कही जाती है।

भगवान् जगत के परम मगल के लिए अपने ही ४ रूपों की सृष्टि करते है जिसमें व्यूह, विभव, अर्चावतार, अर्न्तयामी। षट्गुणों में दो–दो की प्रधानता होने से ३ व्यूहों की सृष्टि होती हैः– संकर्षण में ऐश्वर्य तथा वीर्यगुणों का अधिक्य होता है तथा अनिरूद्ध में शक्ति तथा तेज का उद्रेक तथा संकर्षण–जगत् के सृष्टिकर्ता के रूप में तथा पञ्चरात्र के उपदेष्टा प्रद्युम्न का कार्य ऐकान्तिक मार्ग तथा सम्मत शिक्षा देना तथा अनिरूद्ध का कार्य मोछ देना है।

सृष्टि प्रक्रिया के परमाणु द्वयणुकों के समवायिकारण परमाणुओं का संयोग असमवायिकारण तथा अदृष्ट आदि निमित्त कारण होते है। कर्म के अनुसार भोग करने वाले समस्त जीवों का वह उत्पादन करता है अपने कर्म के अनुसार उन्हें फल भी देता है। यही सृष्टि प्रक्रिया है।

अचित् से ही विश्व के समस्त पदार्थ निर्गत हुए है, प्रकृति का निर्माण सत्व रज तम से हुआ। प्रकृति बद्धजीवों के ज्ञान प्राप्ति में बाधक होती है उसमें अज्ञान पैदा करती है विशिष्टाद्वैत का परिणामवाद जो सत्कार्यवाद का एक रूप है मे विश्वास करते है। यह जगत् ईश्वर की शक्ति प्रकृति का परिणाम है ईश्वर जो विद्या का कारण है कार्य के रूप में परिणत हो जाता है जिस प्रकार कारण सत्य है उसी प्रकार कार्य भी सत्य है। उसी तरह ईश्वर और जगत् भी प्रकृति ईश्वर के अधीन है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये ही जगत के तत्व है वाहयजगत इन्द्रिया तथा भौतिक शरीर इन्हीं ४ भूतों से उत्पनन होता है। एक छण के लिए परिणाम प्रकृति का परिवर्तन ही जगत का स्वरूप है। पञ्चपर्वा अविद्या के कारण जीव के द्वारा कल्पित ममतारूप पदार्थ की संज्ञा संसार है। जगत् की सत्यता हेतु मीमांसा की उक्ति है।[1] वेदान्त में सृष्टि ईश्वर की माया है।[2]

जगत् की सत्यता के विषय में ईशावस्योपनिषद कहता है कि—भगवान ने शाश्वत काल तक यर्थाथ भाव से पदार्थो का निर्माण किया जिससे पदार्थो का होना प्रमाणित है। जगत् प्रपञ्च सत्य भूत है।[3] —श्रुति के अनुसारः—

क. यथातथ्यतोऽर्थान् व्यद्धानंशास्वतीभ्यः सामान्यः

ख. स्मृति—तदे्तक्षयंनित्यं जगन्मुनिवराखिलम्।

आविर्भाव तिरोभाव जन्मनाशविकल्पयत्।

वैष्णव धर्म के अनुसार अचिन्त्य भेदाभेद के नाम से दार्शनिक जगत् की महता कही गई है।[4]

---

1. तस्मादगृहयतेवस्तुयेनरूपेणसर्वदा। तत्ताशैवाभ्युपेतव्यंसामान्यवत् चेतरत् — श्लोक वार्तिक पृ० ४०४.
2. मायाजीव विजृम्भयत्यपिमहायोगीवस्वेच्छया। दक्षिणामूर्तिस्तौत्र श्लोक— २.
3. ईशवस्योपनिषद् श्लोक ८.
4. विष्णुपुराण १/२२/६.

स्वरूपादिभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद भेदः भिन्नत्वेन चिन्तयितुभशक्यत्वात भेदश्च प्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतोंभेदभेदावङ्गीकृतौ। तौ च अचिन्त्यौ, स्वयमेव तु अचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तित्वात्।[1]

भगवान श्री कृष्ण में गीता में स्वयं कहा है कि मैं ही विश्व का माता पिता हूँ मैं ही विश्व का संचालक हूँ स्वामी हूँ सभी की अन्तिम गति हूँ माता हूँ प्रभु हूँ साक्षी हूँ आधार हूँ।[2]

खण्डन– वेदान्तदेशिक ने अचित् जड़ के स्वभाव का वर्णन करते हुए न्याय वैशेषिक के परमाणुवाद का खण्डन करते है। जड़ वस्तु वह छोटा से छोटा कण है जो। छिद्र में जाती हुई सूर्य रश्मि में दिखता है। इससे भी सूक्ष्म पदार्थ द्रयणुंक की कल्पना अनुभव सिद्ध नहीं है क्योंकि वे दृष्टि गोचर नहीं होते। उनकी तुलनापुष्प के अदृष्ट रज से भी नहीं कहीं जा सकती जो हवा के साथ उड़कर सुगंध फैलाती हैं क्योंकि इन अणुओं में गन्ध का गुण है जबकि अणु सूक्ष्म है और इसमें कोई भी गोचर गुण नहीं होताहै। यह अनुमान सिद्ध भी नहीं है। अगर हम यह मानते कि इन्हें विभाजन करते हुए इस अवस्था पर पहुंचे कि जहां वे आगे विभाजित नहीं किए जा सकते है। और यदि उन्हें परमाणु कहें तो यह भी अशक्य है क्योंकि न्याय वैशेषिक के परमाणु सबसे छोटे ही अणु नहीं है किन्तु उनका विशेष प्रकार का गुण है। जो परिणामण्डल्य परिणाम कहा जाता है। विरोध में कुछ आपत्तियाँ है, जैसे आचार्य शंकर ने प्रतिपादन किया कि परमाणु जो अखण्ड है ये दूसरे परमाणु के संयोग में नहीं आ सकते है और व कोई पूरी इकाई बना सकते है या परमाणु का परिमाण्डल्य परिमाण द्वयणुक में दूसरा नवीन परिणाम नहीं उत्पन्न कर सकता। त्रसरेणु से भिन्न प्रकार का परिणाम उत्पन्न भी नहीं कर सकता।

---

1. भगवद सन्दर्भस्य सर्वसर्वादिव्यः (जीवगोस्वामी)।
2. श्रीमद् भगवत् गीता नवम् अध्याय १७–१८.

सत्व रजस् और तमोगुणात्मक प्रकृति को ही मूल द्रव्य मानना पड़ेगा। अहंकार की अभिव्यक्ति के पूर्व एवं उसके वाद की स्थिति (साम्यावस्था जिसमें कोई विकार पैदा नहीं होता) महत् कहलाती है। महत् के बाद और इन्द्रियों के उत्पन्न से पूर्व की स्थिति अहंकार है। महत् और अहंकार बुद्धि या अहं की आत्मगत अवस्था नहीं है जैसा कुछ सांख्यवादी सोचते है किन्तु वे प्रकृति के मूल द्रव्य की जगद्विषयक अवस्थाएं है।

सांख्य दर्शन के त्रिगुणमयी प्रकृति का वर्णन श्वेताश्वतर अनिषद में मिलता है। साथ ही योग का अष्टाङ् मार्ग जो योग की पकृति है का भी वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद में पर्याप्त है। शंकर के निगुर्ण ब्रह्म सम्बन्धी विचार छान्दोग्य उपनिषद में पर्याप्त रूप से मिलता है।

शंकर ईश्वर एवं ब्रह्म को खूब अच्छी तरह से मानते है। उन्होंने कहा कि जिनसे सब भूतों की उत्पत्ति हुई और जन्म होने के बाद जिमसें ये सब जीवन धारण करते हैं वह जिसके अन्दर मृत्यु के समय में विलीन हो जाते हैं वही ब्रह्म है। शंकर ने माया या अविद्या सम्बन्धी धारण को उपनिषद से ग्रहण किया। रानाडे के अनुसार "माया और अविद्या के विचार का स्रोत उपनिषद है।[1]

लोकाचार्य ने 'प्रकृति' तीन प्रकार की बताई।

१. जिसमें शुद्ध सत्व गुण है जो ईश्वर के धाम का द्रव्य बनता है।

२. जिसमें सत्व, रजस् एवं तमस् गुण हैं जिससे यह सामान्य जगत् बनता है यह ईश्वर का क्रीड़ा क्षेत्र है। यह प्रकृति इसलिए कहलाती है क्योंकि समस्त परिणाम यहां होते है। इसे अविद्या या माया के रूप में भी कहते है। या जानते है क्योंकि विश्व के समस्त नानात्व माया या अविद्या का प्रयास है। जैसा कि हमने पहले कहा कि प्रकृति के गुण एवं माया अविद्या के गुणों में

---

1. Constructive survey of upanisadic philosophy प्रो० रानाडे।

साम्य है। सांख्य के अनुसार माया या अविद्या कोई सत्ता नहीं हैं। क्यों कि प्रकृति में विरोधी गुणों के अविर्भाव रो जगत् उत्पन्न होता है। प्रकृति में भूतों की उत्पत्ति के अन्य मतों का वर्णन है किन्तु हम उन्हें यहाँ नहीं मानते कि उनका विशेष महत्व नहीं है। वश्वर के अनुसार काल सत्व गुण रहित प्रकृति है लेकिन वेंकटनाथ काल को ईश्वर के स्वरूप में एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति के रूप में मानते हैं। दिक् आकाश से भिन्न तत्व नहीं है जो पदार्थो की गति को अवकाश देता है।

३. ब्रह्मसूत्र भाष्य[1] में आचार्य शंकर ने सूत्र ''रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्'' की व्याख्या में कहा कि अचेत प्रधान या प्रकृति रचना सम्पन्न जगत् का कारण नहीं हो सकती क्योंकि चेतन कर्ता की सहायता के बिना जड़वस्तु स्वयं कुछ करने में समर्थ नहीं होती। एक अन्य स्थान पर भाष्य करते हुए उन्होंने उन मतों का भी खण्डन भी किया है जो ईश्वर के जगत् का अधिष्ठाता मानते है। जैसे न्याय वैशेषिक एवं पाशुपत। इनके मत से तत्वों की कल्पना वेद विरुद्ध है।[2]

यदि यहां पर यह कहा जाय कि जीवों के कर्मानुसार ईश्वर ही मध्यम् उत्तम आदि भेद उत्पन्न करता है। तो कर्म और ईश्वर एक दूसरे के आश्रित या परतंत्र बनेगें। यदि ईश्वर को शशरीर माना जाय जो संसारी जीवों की भाँति उसके भी भोग आदि की सम्भावना हो जायेगी, जिससे उसका ईश्वरत्व भंग हो जायेगा।[3]

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि प्रकृति का त्रिगुणात्मक अनिर्दिष्ट अव्याकृत द्रव्य अनेकावस्था का अतिक्रमण करता हुआ अन्त में इस जगत के रूप में प्रकट होता है जो मनुष्य के अदृष्ट या अच्छे–बुरे कर्मानुसार सुख दुःख उत्पन्न करता है। अदृष्ट की कोई पृथक शक्ति नहीं है किन्तु ईश्वर का अनुग्रह या अप्रसन्नता है जो मनुष्य के अच्छे–बुरे कर्मानुसार कार्य करता है।

---

1. वेदान्त दर्शन, ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य २/२/१.
2. ब्रह्म सूत्र शाङ्कर भाष्य २/२/३७ – (प्रत्युरसामञ्जस्यति)
3. सृष्टयुत्तरकाल भावित्वाच्छरीरस्य प्राक्सृण्टेस्तदनुपपत्तेः निरधिण्ठानत्वे चेश्वरस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्तिः सशरीरत्वे हि सति संसारिवद् भोगादि प्रसंगादीश्वरस्याप्यनीश्वरत्वं प्रसज्येत। ब्रह्मसूत्र शांङकर भाष्य २/२/३७.

काल निरुपण– न्याय सिद्धाञ्जन के अनुसार काल माया से उत्पन्न है। ये अर्थ "अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विजविद्यते"[1] इत्यादि शास्त्रों से बाधित है अतः भगवान और काल अनादि सिद्ध है। उसका अन्त नहीं होता। काल का अनादि और अनन्त होने से काल शारीरक भगवान् को अनादि और अनन्त कहा गया है। उससे काल का नित्यत्व सिद्ध होता है। जिससे शैव सिद्धान्त बाधित होता है। क्योंकि यहाँ **'वाद'** शब्द का अर्थ किन रूपों में लिया जाय, निरर्थक या सार्थक। यदि निरर्थक हैं तो निरर्थक नामक निग्रह स्थान होगा यदि सार्थक है तो 'पहले' शब्द का अर्थ होता है। पूर्व काल तथा **'वाद'** शब्द का अर्थ होता है उत्तर काल। भाव यह निकलता है कि प्रपञ्च सृष्टि के पूर्वकाल में, काल नहीं था और न प्रलय काल से उत्तरकाल में होगा। इससे पूर्वकाल एवं उत्तरकाल का सद्भाव सिद्ध होता है अतः काल को नित्य मानना ही उचित है। लोक में यही माना जाता है कि भूतकाल से सम्बन्ध रखने वाला देश **भूतदेश** वर्तमान काल से सम्बन्ध रखने वाला देश **भवदेश** तथा भविष्य काल से सम्बन्ध रखने वाला देश **भाविदेश** कहलाता है अतः काल नित्य के साथ ही भी विभु है।

नित्यविभूति के प्रकरण में शास्त्र में यह वर्णन मिलता है कि काल जिस प्रकार यहां बसन्तादि रूप में प्रकट होकर इस प्राकृति में विलक्षण परिणामों को उत्पन्न करता है वैसा नित्यविभूति में नहीं कर सकता अतः काल नित्यविभूति में है ही नहीं। इसमे काल न हो तो **"सदापश्यन्तिसूरयः"** इसका विरोध होगा अतः **'सदा'** शब्द से नित्यविभूति में काल का सद्भाव प्रमाणित है। काल अनदि अनन्त एवं एक है उसमें क्षण एवं लव इत्यादि जो अवान्तर विभाग होते है वे स्वाभाविक नहीं भिन्न–भिन्न उपाधियों से व्यवहृत होते है। अतः उस अखण्ड काल में क्षणत्व आदि औपाधिक धर्म है, स्वाभाविक नहीं। ये अनेक रूपों में परिणत होते रहते हैं, क्षण **'लव'** विकारों के प्रति **'काल'** उपादान कारण है।[2]

---

1. अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्थ द्विर्जाविद्यते।
   अत्युछिन्नास्ततस्त्वेते सृष्टिस्थित्यन्तरायगा. – न्याय सिद्धाञ्जन का पृष्ठ १५३
2. सर्वे निमेषाजज्ञिरे विद्युत. पुरुषादधि। कलामुहुर्ता. काष्ठाश्चाहोरात्राश्चसर्वशः –न्याय सिद्धाञ्जन पृ०१३५

काल का स्वरूप विकार को प्राप्त करता है जो वेदार्थ संग्रह से प्रमाणित है कि काल का स्वरूप, निमेष, कला, काष्ठा एवं मुहूर्त से लेकर परार्धपर्यन्त अपरिमित असाधारण कर्मो को अपनाता रहता है वह काल ही सब पदार्थो के उत्पत्ति स्थिति एवं विनाश, इत्यादि सब तरह के परिणामों का निमित्त कारण है।[1] ये परिणाम नित्यविभूति में नहीं हुआ करते।

नीतिमाला में श्रीनारायण ने कहा कि **'काल'** अनादि एवं अनन्त है। सदा क्षण रूप में परिणत होते रहते है। काल का विभाग मुहूर्त अहोरात्र इत्यादि के रूप में होता है। यह काल परिणाम परिस्पन्द (चलन) इत्यादि का कारण हैं।[2]

काल का प्रत्यक्ष– प्रत्यक्ष में सभी पदार्थ वर्तमान प्रतीत होते हैं प्रत्यक्ष में पदार्थो को विशेषण के रूपमें वर्तमान काल का भी प्रत्यक्ष होता रहता है। काल अखण्ड है उसका भूत भविष्य और वर्तमान भेद औपाधिक है। काल एक पदार्थ है। विशेषण रूप से उसका पक्ष मानने में लाघव है, विनाश प्रागाभाव अनेक पदार्थो से घटित वस्तु है उसका विशेषण रूप भान मानने में गौरव है। अतः प्रत्यक्ष में पदार्थो के प्रति विशेषण रूप में **'काल'** भासता है अतः काल प्रत्यक्ष है। काल का ज्येष्ठ शरीर के साथ जो संयोग है वह उस अपेक्षा बुद्धि की सहायता से ज्येष्ठ में कालकृत परत्व गुण को उत्पन्न करता है। यह कनिष्ठ पुरुष इसकी अपेक्षा अल्प काल से सम्बद्ध है। आकाश एवं काल दोनों को मानने वाले वादियों में बताया कि अतिरिक्त काल को मानने वाला वैशेषिक काल में उतनी ही योग्यता मानता है। अतएव जगत में मिश्र रूपता नहीं होती, उसी प्रकार इन पदार्थो में उतनी ही योग्यता मानी जाती है, जिससे जगत में मिश्र रूपता नहीं होगी। यदि काल प्रकृति तत्व की तरह केवल शास्त्र प्रमाण से सिद्ध होता तो पामर तक के व्यवहार का गोचर नहीं होता, परन्तु पामर भी काल के विषय में व्यवहार करते है अतः काल प्रत्क्षतः सिद्ध है।

---

1. "निमेषकाष्ठाकला मुहूर्तादिपरार्धपर्यन्तापरिमितव्यवच्छेदस्वरूपरावौत्पत्तिस्थितिविनाशादिसर्वपरिणामनिमित्त भूतकालकृतपरिणामास्पृष्टानन्तमहाविभूति"–वेदार्थ संग्रह–न्याय सिद्धाञ्जन पृ० १५६.
2. "कालोऽनाद्यनन्तोऽजस्रक्षणपरिणामीमुहूर्ताहोरात्रादिविभगवानपरिणामपरिस्पन्दहेतुः" (नीतिमालायांनारायणार्यैः) न्याय सिद्धाञ्जन पृष्ठ १५६.

काल का स्वरूप (वेंकटनाथ के अनुसार)– काल नित्य और अनादि है क्योकि कोई भी प्रव्यय जिसमें काल की उत्पत्ति के प्रश्न पर विचार प्राप्त होता है यह अर्थ निकलता है कि काल उत्पत्ति के पहले अविद्यमान था इस दृष्टि से यह अनुभव सहज है कि इसमें पौरवापर्य का विचार समाविष्ट है, इस प्रकार यह माना जा सकता है कि काल की पूर्व कल्पना के बिना काल की उत्पत्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। काल सभी दृष्ट पदार्थो के रूप में साक्षात् अनुभव गम्य है तथा सभी दृष्ट वस्तुओं में निकट रूप से सम्बन्धित है। अतः प्रत्यक्ष से काल का की अनुपलब्धि का अर्थ यह होगा कि दृष्ट वस्तु भी साक्षात् ग्रहण नहीं होती है, किन्तु अनुमान गम्य ही है। जो काल की पृथक सत्ता नहीं मानते वे भी इसे सूर्य की गति के सम्बन्ध में जनित असद् प्रत्यय के रूप मे समझते है। इस प्रकार काल प्रत्यय चाहे सत् या असत् माना जाय वह दृष्य वस्तु का प्रकार या गुण ही समझा जाता है। साथ ही अनुभव किया जाता है।

यद्यपि काल एक और नित्य है किन्तु अन्य पदार्थो की तरह जो 'एक' ही कहने पर भी विभिन्न उपाधि सम्बन्ध के कारण अवस्थान्तर होने से एक होते हुए भी अनेक दिखाई पड़ते है। उसी प्रकार काल भी मर्यादित और अनेक दिख सकता है। काल में मर्यादा की वास्तविकता की पूर्व कल्पना ग्रहण करता है। जिस पर केवल उपाधियों का संम्बन्ध हो सकता है। यादव प्रकाश मानते है कि काल अनादि और अनन्त है और वह छड़ द्वारा निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। जिनके द्वारा काल का घंटे, रात और दिन में विभाजन हो सकता है। जिसके द्वारा पुनः परिवर्तन शील पदार्थ के परिणाम मापें जा सकते है।[1]

द्रव्य में गुण के सम्बन्ध की उपमा के आधार पर उपाधिगुण का यह स्पष्टीकरण (अविभक्त) भेद रहित काल को भी उपयुक्त है। वेंकटनाथ बताते है कि विभिन्न उपाधि गुणों के कारण यद्यपि क्षणों की कल्पना आगन्तुक है तो काल स्वयं नित्य है। नित्य का अर्थ कभी नष्ट न होना है काल का इस प्रकार ईश्वर से सहअस्तित्व है

---

1. यादव प्रकाशैरभ्युपगतोऽयं पक्षः कालोऽनाद्यनन्तोऽजस्यक्षणपरिणामीमुहूर्ताहोरात्रादिविभागयुक्सर्वेषां परिणामस्पंद हेतुः। सर्वार्थ सिद्धि पृ० १४८,–१४६,

अपने विकारों के सम्बन्ध में वह एक उपादान कारण है। और अन्य सभी के सम्बन्ध में निमित्त कारण है। ईश्वर सर्व व्यापी है। यह शास्त्र कथन की संगति काल का ईश्वर के साथ सह अस्त्तिव मानकर, काल के सर्वव्यापी गुण से साधीजा सकती है।

सत्त्व गुण, रजोगुण एवम् तमोगुण इन तीनों गुणों से रहित जड़द्रव्य विशेष को 'काल' कहते हैं।[1] वह काल नित्य तथा व्यापक द्रव्य है। वह काल भूत, वर्तमान एवम् भविष्यत् के भेद से तीन प्रकार को होता है। उस काल को ही लेकर युगपत् (एकसाथ), शीघ्र तथा देर से इत्यादि व्यपदेश होते हैं। काल के द्वारा निमेष, काष्ठा, कला, घटी, मुहूर्त, दिन, मास, ऋतु, अयन एवं वर्ष आदि व्यवहार होते हैं। मनुष्यों के एक माह का पितरों का एक दिन होता है। अमावस्या के दिन ही पितरों का मध्याह्न होता है। मनुष्यों के एक वर्ष का देवताओं का एक दिन होता है। उत्तरायण ही देवताओं का दिन होता है। दक्षिणायन ही देवताओं की रात्रि होती है। इस प्रकार देवताओं के प्रमाण से १२ हजार वर्षों का एक चतुर्युग होता है। उसमें चार हजार वर्षो का एक सत्य युग होता है। इस युग में धर्म पूर्णरूप से रहता है। तीन हजार वर्षो का त्रेतायुग होता है। इस युग में धर्म के तीन पाद होते है। दो हजार वर्षो का द्वापर युग होता है। युग में धर्म के दो पाद रहते हैं। एक हजार वर्षो का कलियुग होता है। कलियुग में धर्म एक पाद वाला रहता है। इन युगों की सन्धि दो हजार वर्षो की होती है। इस तरह के एक हजार चतुर्युग का ब्रह्मा क एक दिन होता है। इतनी ही बड़ी ब्रह्मा की रात्रि होती है। लीलाविभूति में काल की सबसे बड़ी सीमा ब्रह्मा की आयु है। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु, चौदह इन्द्र तथा चौदह सप्तर्षि मण्डल होते हैं। इनमें से प्रत्येक मनु की आयु इकहत्तर चतुर्युग है। ब्रह्मा भी काल के वशवर्ती है। उनकी भी अपनी सौ वर्ष की आयु समाप्त होने पर मृत्यु हो जाती है।

काल का नित्यत्वः— शैवों ने कहा है कि काल माया से उत्पन्न होता है। किन्तु वेदान्तदेशिक[2] शैवों के मत को असिद्ध करने के लिए शास्त्र प्रमाण देतें हैं— "अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते" अर्थात् काल और भगवान् अनादि सिद्ध

---

1. कालो नाम गुणत्रयरहितो जडद्रव्यविशेषः। यतीन्द्रमतदीपिका, पृष्ठ १००.
2. द्रष्टव्य, न्यायसिद्धाञ्जन, पृष्ठ १५१.

रामानुज के बाद विशिष्टाद्वैत के विकारा में उनके जिन अनुयायियों का योगदान रहा हैं उनमें सर्वप्रथम तथा मूर्धन्य हैं— वेंकटनाथ या वेदान्तदेशिक। इन्होंने अपनी 'शतदूषणी' मे अद्वैत वेदान्त के १०० दोषो को बताया है जिनमे ६६ ही प्राप्त होते है। शतदूषणी में विवादों की सख्या पर मतभेद है, इस डा० एस० एन० दास गुप्त ने अपनी पुस्तक में उल्लिखित किया है।[1] वेदान्तदेशिक ने 'न्यायसिद्धाञ्जन' में विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों को विस्तार से व्याख्यायित किया है। इसके अतिरिक्त 'यादवाभ्युदय' श्रीकृष्ण के जीवन के सम्बन्धित ग्रन्थ है जिसपर अप्पयदीक्षित ने टीका लिखी है। 'संकल्नसूर्योदय' १० अंकों का प्रतीक नाटक हैं। वेदान्तदेशिक ने न्यायपरक विशिष्टाद्वैत ग्रन्थ 'न्यायपरिशुद्धि' लिखा। उन्होंने श्रीभाष्य पर 'तत्त्वटीका' लिखी। यामुन के गीतार्थसंग्रह पर 'गीतासिंग्रहरक्षा', रामानुज के 'गीतारहस्य' पर 'तात्पर्यचन्द्रीका', यामुन के चतुश्लोकी एवं स्तोत्ररत्न पर 'रहस्यरक्षा' आदि कृतियाँ भी वेंकटनाथ के मेधा को पुष्ट करती है। उनका एक निबन्ध 'वादित्रयखण्डन' मिला है, जिसमें उन्होंने भास्कर, यादव और शंकर के मतों का खण्डन किया है। मीमांसा पर उनके 'मीमांसापादुका' और 'सेश्वरमीमांसा' नाम के ग्रन्थ शबरस्वामी से भिनन व्याख्या करते हैं। वेंकटनाथ ने मणिप्रवाल शैली में ३२ ग्रन्थ लिखे हैं।[2] वेंकटनाथ के पुत्र कुमारवेदान्ताचार्य वरदार्य या देशिकाचार्य ने भी अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें 'तत्त्वत्रय चुलुक संग्रह' प्रमुख है, जिसमें वे 'तत्त्वत्रय' का वर्णन करते हैं। इसके अतिरिक्त, 'प्रपत्तिकारिका' फलभेदखण्डन, 'चरमगुरूनिर्णय', 'आराधनासंग्रह', 'अधिग्रहणचिन्तामणि', 'रहस्यत्रय', 'साराश संग्रह' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

इसके अतिरिक्त विशिष्टाद्वैती आचार्यो में पिल्लै लोकाचार्य, 'मेघनादारि' 'रामानुजदास' या 'महाचार्य', 'रङ्गरामानुजमुनि', 'परकालयति' या 'कुम्भकोनम ताताचार्य', 'श्रीनिवासवाद', 'श्रीनिवासाचार्य (यतीन्द्रमतदीपिका के लेखक)', 'श्रीशैलनिवास ताताचार्य',

---

1. द्रष्टव्य, भारतीय दर्शन का इतिहास – ३, पृष्ठ २४३–४४।
2. वही, पृ० १०१।

'सुदर्शनसूरि (श्रुतप्रकाशिका के लेखक)' आहोवलि रङ्नाथयति', 'दोड्याचार्य', 'नारायणमुनि', 'नृसिंहराज', 'नृसिंहसूरि', 'वस्तुवेदान्ताचार्य', 'पुरूषोत्तम', 'पेलपुरदेशिक (तत्तवभाष्कर के लेखक)', 'रङ्गराजरामानुजदास भिक्षु', 'आत्रेयवरद', 'वीरराघवदास', 'वेंकटसुधी (सिद्धान्तरत्नावली के लेखक)', 'वेकटदास', वेंकटाध्वरि', 'धर्मकुरेश', 'नीलमेघ ताताचार्य', 'रधुनाथाचार्य', 'राधवाचार्य', 'अण्णचार्य' आदि वैष्णव वेदान्तियों ने अपने–अपने साहित्य से विशिष्टाद्वैत वेदान्त को समृद्ध किया तथा उसकी परम्परा को आगे बढ़ाने में अपना योगदान दिया। है।

सोलवहीं सदी के 'अप्पयदीक्षित' ने रामानुज सम्मत ब्रह्मसूत्र की टीका की, जो 'न्यायमुखमालिका' कहलाती है। उन्नीसवीं शताब्दी के 'अनन्ताचार्य' ने भी अनेक ग्रन्थो की रचना करके विशिष्टाद्वैत वेदान्त को समृद्ध बनाया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशिष्टाद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त अत्यन्त व्यावहारिक तथा आचार्य परम्परा अत्यन्त समृद्ध है। इसीलिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त का इतना विकास हुआ और वह अद्वैत वेदान्त के मुख्य समालोचक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में आज भी अविचल खड़ा हैं।

द्वितीय – अध्याय

वेंकटनाथ का जीवन परिचय एवं उनकी कृतियाँ:– प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे वेंकटनाथ कृत न्याय सिद्धाञ्जन (जो कि एक अद्वैत खण्डन परकग्रन्थ है) के सभीक्षात्मक अध्ययन पर प्रकाश डालने के पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि वेंकटनाथ के द्वारा उल्लिखित संकेतों के आधार पर उनका सम्यक् जीवन परिचय प्राप्त किया जाय। तदनुसार वेंकटनाथ का जन्म विश्वामिश्र गोत्र में हुआ है।[1] उन्होंने इस वंश में जन्म प्राप्त करने का उल्लेख बड़े ही स्वाभिमान के साथ किया है।[2] क्योंकि विश्वामित्र ही सावित्री (गायत्री) मंत्र के दृष्टा है।[3] उनसे ही सावित्री का प्रादुर्भाव हुआ है। अतः सावित्री उनकी अनन्य गोत्रा सिंद्ध होती हैं।[4] उनके पितामह का नाम पुण्डरीकाक्ष था, सोमयाग के विशिष्ट सम्पादक के रूप में वे प्ररिाद्ध थे।[5] उनके पिताश्री अनन्तसूरि (अनन्ताचार्य) थे, जिन्हें वेंकटनाथ ने गुणों का भण्डार कहा है।[6] वेंकटनाथ ने स्वयं अपने को विष्णु घण्टावतार कहा है।[7] वेकटनाथ का जन्म स्थान कान्जीवरम् था। इनका जन्म उनके कुल के लिए एक महत्वपूर्ण घटना थी। इसी आधार पर इस विषय में एक ऐतिह्य है कि वेंकटनाथ के पिता ने स्वप्न देखा कि तिरुपति देवस्थापनम् के देव श्री वेंकटेश्वर ने पत्नी के साथ तिरुपति जाकर उपासना करने का आदेश दिया है। दम्पती ने तिरूपति के लिए प्रस्थान किया। वेंकटनाथ के जन्म के सम्बन्ध में उनके माता–पिता ने पृथक–पृथक स्वप्न देखा। उनके पिता (अनन्तसूरि) ने यह देखा कि तिरूपति मन्दिर के वेंकटेश्वर देवता हमारे सन्मुख प्रकट हुये और एक पुत्र प्राप्ति के लिए भाग्यवान् कहा। उनकी माता ने जो स्वप्न देखा कि, भगवान वेंकटेश्वर ने एक बालक के रूप में

---

1. संकल्प सूर्योदय १.२२ पूर्वगद्य।
2. सकल्प सूर्योदय १.१३ पूर्वगद्य।
3. साविज्ञया ऋृषिर्विश्वामित्र' विनियोग गायत्रीमंत्र।
4. सं० सू० १.१३.
5. सं० सू० १.१२. पूर्व गद्य।
6. स० सू० .१.१२. पूर्व गद्य।
7. स० सू० ११४. घण्टाहेर. समजनिष्टयदात्मनेति।

प्रकट होकर उन्हें एक घण्टा प्रदान किया और पुत्ररूप में उसके अवतरित होने का वरदान किया है। उनकी माता ने तेजोरूप में उसे अपने गर्भ में प्रवेश करते हुए देखा। दूसरे दिन प्रातः काल श्री वेंकटेश्वर मन्दिर में घण्टा नहीं था। दम्पती द्वारा स्वप्न को बतानें पर तथा प्रधान पुजारी को भी भगवत्–कृपा से इस वृत्त के ज्ञात होने के कारण अन्य पुजारियों या यात्रियों पर चोरी का सन्देह नहीं किया गया। श्री वेंकटेश्वर देवस्थानम् तिरूपति में आज भी घण्टें का न होना इस व्रतान्त का संकेत करता है। इसके बाद १२५६ ई० में वे तिरूपति से लौटे आये, वहां से आने के बाद इनकी माता बारह वर्ष तक गर्भ धारण किये रहीं। उसके बाद १२६८ ई० में उनका स्वप्न एक पुत्र लाभ के रूप में साकार हुआ। भगवान वेंकटेश्वर का कृपा प्रसूत मानकर माता पिता ने इनका नाम वेंकटनाथ रखा।[1] साथ ही साथ श्री वेंकटेश देवता के नाम पर तिरूपति मन्दिर का संस्थापन किया। इसके बाद वेदान्तचार्य और 'वेदान्तदेशिक' नाम से भी ख्याति प्राप्त की।

इस ऐतिह्य की सत्यता के विषय में तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता किन्तु स्वयं वेदान्तदेशिक तथा आचार्य परम्परा द्वारा सर्वमान्य स्वीकृति प्राप्त होने के कारण इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

इनके जन्म के बारे मे इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। बड़गलै गुरू परम्परा के आधार पर श्री वेंकटनाथ का जन्म भाद्रपद शुक्लपक्ष तिथि दशमी (आश्विन विजयादशमी) कलि संवत् ४३७१ शक्राब्द ११९० या १२६८ ई० में (कांजीवरम्) में हुआ था।[2] यही तिथि सर्वमान्य है। सभी साक्ष्यों के आधार पर इस तिथि की प्रमाणिकता भी असंदिग्ध है। परम्परा के अनुसार इनकी माता का नाम तोतारम्मा या तोताद्रयम्बां था।

---

1. वेदान्तचार्य जननी वर पुत्राभिलाषिणी।
   श्वप्ने श्री वेंकटेर्शन दत्तां घण्टां निगीर्यसा।।
   दधार गर्भमतुलं द्वादशाव्द पतिव्रता।
   ततौ जज्ञे गुरूपयं वेदान्ताचार्य शेखरः।।
   –ऐतिहय सं० सू० १–४ प्रभावली।
2. जे० आर० ए० एस० (वम्बई) संस्करण पेज २३०.

तोतारम्मा विशिष्टाद्वैत के महान तार्किक विद्वान आत्रेय रामानुज (१२२१–६०) की भागिनी तथा पद्म नाभाचार्य की पुत्री थीं। आत्रेय रामानुज को वादिहंसनवाम्बुद या बादिहंसाम्बुवाहाचार्य भी कहा जाता है जिन्होंने न्यायकुलिश नामक ग्रन्थ की रचना की। इस प्रकार वेंकटनाथ की मां प्रसिद्ध श्री वैष्णव सम्प्रदाय की थी। अतः वेदान्तदेशिक को जन्म देने वाले उभयकुल (मातृ–पितृ) विशिष्टाद्वैत दर्शन के लिए प्रख्यात थे। गुरू परम्परा के अनुसार महान् रामानुज विष्णु के शेष अवतार, वरदराज्यचार्य विष्णु के समुद्रवतार आत्रेय रामानुज विष्णु के गरुड़ावतार थे तथा वेंकटनाथ विष्णु के घष्टावतार थे। वेंकटेश्वर मन्दिर में आज भी घण्टान होने से घण्टे की कथा अमर हो गयी। इन सब साधनों के द्वारा बड़गलै एव तेङ्गलै वैष्णवों मे पीढ़ी दर पीढ़ी वेदान्तदेशिक के प्रार्दुन्याव का महत्व बताया गया। श्री वैष्णव परम्परा ने इसे आगे ही बढ़या तथा कर्त्तव्य और ईमानदारी से एक लक्ष्य और ज्ञान के प्रति अग्रिम पीढ़ी को मार्ग बताया। भविष्य में इस अग्रिम पीढ़ी ने इसे अपने गुणों से और अधिक समृद्ध किया।

बाल्याकालः– वेंकटनाथ की असाधारण प्रतिमा का दर्शन बाल्यकाल से ही होने लगा था। उनके बाल्यावस्था की एक घटना से इस पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। बेदान्त देशिक जब ५ वर्ष के ही थे तो एकबार अपने मामा के साथ एक सभा में गये। वहां पर वात्स्य वरदाचार्य का रामानुज दर्शन पर प्रवचन चल रहा था। वहां पर बड़े–बड़े, विद्वान् उपस्थित थे। जिसमें कृष्णपाद या वदाकुट्टीरुविधी पिल्लै, तैङ्गलै आचार्य सुदर्शनाचार्य जो श्रुत प्रकाशिका के लेखक है। आदि उपस्थित थे। इनके जाते ही सबका ध्यान इनकी (५ वर्ष का होने के कारण) और आकृष्ट हो गया। प्रवचन का क्रम भंग हो गया। फिर प्रवचन कर्त्ता सिंहासनदीप्ति वत्स्य वरदाचार्य जी अपने प्रवचन को न याद कर सके और न श्रोतागण ही स्मरण करा सके कि उन्होंने प्रवचन कहां तक किया था। श्री वैष्णव सभा के सारे लोग संकट पूर्ण अवस्था में थे तभी बालक वेंकटनाथ ने मुख्य विषय बिन्दु को बताया, वहां उपस्थित सारे विद्वान् आश्चर्य चकित रहे गये। प्रसन्न हुए बरदाचार्य ने वेंकटनाथ को धन्यवाद किया तथा अगला महान रामानुज सम्प्रदायाचार्य कौन होगा, उसके लिए भविष्य वाणी भी की।

प्रसन्न होकर वव्स्य वरदाचार्य मे वत्स,

"प्रतिष्ठापितवेदान्तः प्रतिक्षिप्तबर्हिमतः।

भूंयास्त्रैविद्यमान्यस्त्वं भूरि कल्याण भाजनम्"।।

इत्यादि कहकर मंगलाशासन किया। इस वृतान्त को वेंकटनाथ ने 'संकल्प सूर्योदय' नाटक में शिष्य के प्रति गुरू के आर्शीवाद के ब्याज से प्रगट किया है।[1]

बालक की इस विलक्षण प्रतिभा को देखकर उनके मामा आत्रेय रामानुजाचार्य ने इन्हें अन्य कलाओं के साथ रामानुज दर्शन के गूढ़ सूक्ष्म तत्त्वो तथा रहस्यों का ज्ञान कराया।

वेंकटनाथ ने अपना अध्ययन १२७३ ई० में प्रारम्भ किया और समापन १२८६ में। उन्होंने स्वयं ही इस समय को संकल्प सूर्योदय में बताया है कि उनका विद्यार्थी जीवन २० वर्ष तक रहा।[2] उनके जीवन का एक मात्र दृष्टिकोण रामानुज दर्शन का प्रचार और अध्यापन था। उन्होंने न्याय वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा आदि भारतीय दर्शन का सम्यक अध्ययन करके पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त किया था।[3] किसी शास्त्र की व्याख्या में वेदान्तदेशिक की स्मरण शक्ति स्थायी थी। वे मौलिकता के प्रति सचेत थे। उन्हें विद्वानों से वाद विवाद में आनन्द मिलता था। वे निष्पक्ष अन्वेषक के रूप में वाद–विवाद को क्षेत्र में प्रवेश करते थे। फिर भी वह अपने तर्क पर विजय पाने के लिए वाद–विवाद में लिप्त नहीं होते थे।

उन्होंने न्याय वैशषिक शास्त्र का गहन, अध्ययन किया। आचार्य गौतम, वात्स्यायन, उद्योतकर वाचस्पति मिश्र, उदयन आदि आचार्यो की कृतियॉ उनके अध्ययन का विषय रही। वेङ्कटनाथ ने न्याय परिशुद्धि की रचना की। तथा न्याय को अपना योगदान किया है।

---

1. सकल्प सूर्योदय २, १५.
2. विशव्यब्देविश्रुतः नानाविधांविद्यः – स० सू० १–१५.
3. स० सू० २–५०.

प्रारम्भिक अवस्था में ही वे विस्तृत विशिष्टाद्वैत दर्शन से परिचित हो गये थे। उन्होंने नाथमुनि के न्यायतत्त्व, यामुनमुनि का सिद्धित्रय पराशर भट्टारक के तत्त्वरत्नाकर, वत्स्य वरदाचार्य के तत्वरत्नाकर, आत्रेय रामानुज के न्याय कुलिश का गहन अध्ययन किया। कविता के प्रति उनमें भावात्मक प्रेम था। संस्कृत ज्ञान के साथ उन्होंने तमिल में भी महारत प्राप्त की। अध्ययन के सभ मार्गो में वे अपने तर्कों का ही प्रयोग करते थे। उनके ही कथन से ज्ञात होताहै कि उनके गुरु उनके मामा न्याय कुलिस के स्वनाकार आत्रेय रामानुज थे।[1] वेदान्तदेक्षिक के पिता का अपने पुत्र की शिक्षा में कोई योगदान नही था। वेंकटनाथ ने हमेशा वत्स्य वरदाचार्य को अपने गुरू के रूप में सम्मान दिया।[2] 'संकल्प सूर्योदय' की रचना के पूर्व वे ३० बार शारीरिक भाष्य का अध्ययन कर चुके थे।[3] सभाओं में चार्वाक बौद्धादि वाह्व वादियों को इन्होंने तृणवत् उड़ा दिये थे।[4] अपनी प्रतिभा के विषय में उन्होंने लिखा है कि गुरू–कृपा से एक बार जो सुन लेते थे, वह कभी विस्मृत नहीं होता था। कोई उस पर कितना भी तर्क वितर्क करे, क्षणभर में उसे परास्त कर देते थे।[5]

अध्ययन के बाद वेकटनाथ ने गृहस्थ आश्रय में प्रवेश किया। परम्परा से ज्ञात होता है कि उनका विवाह एक उच्चवंश की कन्या 'तिरूमंगलै' के साथ १२६५ ई० में हुआ। हम जानते हैं कि उनके मामा और गुरू आत्रेय रामानुज १२६५ ई० तक नहीं रहे। इनके वैवाहिक जीवन का छठा ही वर्ष था जोकि दो कारणों से उनके लिए स्मरणीय था'– पहला आघात उन्हें तब लगा जब उनके मामा और गुरू की मृत्यु हुई और दूसरा रामानुज के मृत्यु के बाद खाली हुए काञ्जीवर्मन् के सिहासन पर अभिषेक

1. न्याय परि० पेंज १३७, १८१
2. तत्त्व मुक्ता कलाप १/२.
3. त्रिशंद्वार श्रावितशारीरक भाष्य – श० सू० १–१५.
4. सं० सू० २–४२.
5. सं० सू० २–१६.

के कारण । इस प्रकार काञ्जी के सिद्धांसन पर तरुण विद्वान् वेंकटनाथ आसीन हुए जब कि श्रीरङ्म् के आचार्य पद पर प्रसिद्ध आचार्य सुदर्शनाचार्य का अधिकार था। उनका गृहस्थ जीवन बड़ा आनन्द पूर्ण था वे एक आदर्श गृहस्थ थे।

परम्परागत विवरण से यह ज्ञात होता है कि छिआलिस वर्ष की अवस्था में कलि सम्वत् ४४१७ के श्रावण मास में रोहिणी नक्षत्र (भाद्रपद कृष्णाष्टमी) सन् १३१७ ई० में इनके पुत्र वरदनाथ या कुमार वेदान्ताचार्य का जन्म हुआ तब उनका वैवाहिक जीवन सिद्धि को प्राप्त हुआ। अपने सम्मानजनक नाम वेदान्त देशिक अथवा वेदान्ताचार्य होकर तिरूवन्त प्रवास के दौरान वेदान्त का प्रचार करके अपने विशिष्टाद्वैत को ऋणी बनाया। हयग्रीवस्रोत एवं देवनायक पंचाशत के रचना काल तक जो वेंकटनाथ अथवा वेंकटेश कहलाते रहे वे अच्युत शतक की रचना के समय एक तिरूवन्तपुरम् एवं उसके पड़ोसियों द्वारा वेदान्ताचार्य कहलानें लगे।[1] तिरूवन्त पुरम में श्रोतागण उनकी कविता से मुग्ध हो गये थे। उस क्षेत्र के लोगों ने कवि कथ्थक घटा केशरी वेंकटेश और कवि कथ्चक सिद्ध अथवा कवितार्किक केशरी वेदान्ताचार्य कहा।[2] उन्होंने तिरूवन्तपुरम् में त्यागपूर्ण जीवन बिताया।

इस प्रकार का प्रकाण्ड पण्डित संसार मार्ग में गमनागमन से पीड़ित त्रिवर्गनिष्ठ, कोमल शेमुषीक प्राणियों के दुख निवारण के लिए दर्याद्रहोकर 'काव्यमुखेन' वेदान्तमृतकापान कराने के लिए प्रवृत्त होंतो क्या आश्चार्य।[3]

---

1. अच्युत शतक १०१.
2. अच्युत शतक १०१.
3. ललितमनसां प्रीत्यै..........जननपदवीजजड् घालतिच्छिदानुगुणीभवन्। –सं सूर्यो० (१–३)

कुछ दिनों तक वेंकटनाथ ने काञ्जीवरम् में निवास किया। जैसे उज्जयिनी कालिदास को प्रिय थी उसी प्रकार कांञ्ची वेंकटनाथ को प्रिय थी। विष्णु काञ्ची ने ऐसी बौद्धिक क्रियाएं ऐसा धार्मिक वातावरण ऐसा शिक्षण और उपदेश कमी नहीं देखा था जैसा कि वहां वेदान्त देशिक के निवास काल में उन्होंने देखा था। यदि विभिन्न श्री वैष्णव देवताओं की प्रार्थनाएं ही उनके कार्यो को द्रढ़ता प्रदान करती है अथवा उनके कार्यो में सम्मिलित हैं। तो ऐसा माना जाता है कि यह वही तीर्थ स्थल है जहां पर सर्वाधिक कृतियां लिखी गई। कांची ही अपनी इन महान् कृतिओं के लिए जिम्मेदार है। जैसा कि श्री भाष्य पर उनकी सर्व श्रेष्ठ टीका अथवा तत्त्वटीका, विशिष्टाद्वैत दर्शन की रूप रेखा अथवा तत्त्व मुक्ता कलाप, उनकी महान् कृति अर्थात् शतदूषणी इत्यादि हैं। श्री वैष्णवों का ब्रह्ममहोत्सव त्योहार जो आज मनाया जाता है, उसे वेंकटनाथ ने १३वीं १४वीं शताब्दी में जरूर मनाया होगा[1] ऐसा लगता है कि १३वीं १४वीं शताब्दी के काञ्जीवार्य वेदान्त देशिक के काव्यात्मक एवं दार्शनिक रचनाओं के पृष्वो में अंकित है।

वेंकटनाथ के समय मे अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफूर ने दक्षिण पर १३१० में आक्रमण किया। उसने वारंगल और द्वार समुद्र को सरलता से जीत लिया और दक्षिण सीमान्त तक बढ़ गया और लूटमार तथा तबाही फैला दी। १३२६ में मुसलमानों ने श्रीरंगम् पर आक्रमण किया और शहर तथा मन्दिर को लूटा। लगभग १३५१ में हिन्दू राजा बुक्का प्रथम ने विजयनगर राज्य बसाया। जब मुसलमानों ने श्रीरंगम् मंदिर को लूटा तो मदिर के पुजारी रंगनाथ की मूर्ति को लेकर मदुरा भाग गए। मूर्ति की प्रतिष्ठा तिरूपति में की गई और वहां उसकी पूजा होने लगी। वुक्का के पुत्र कॅम्पन ने सेनाध्यक्ष गोप्पन, रंगनाथ को श्रीरंगम् में वापस लाने में सफल हुए। यह प्रसंग वेंकटनाथ द्वारा एक पद्य में अमर किया गया है जो श्रीरंगम् के मंदिर की दीवार पर अब भी अंकित है। कुछ विद्वान् ऐसा सोचते हैं कि यह पद्य उन्होंने नहीं लिखा था किन्तु उनको आरोपित किया गया है। यह वार्ता तामिल ग्रन्थ 'कवि लोलोग' में कहीं गई और और १५वीं शताब्दी की वाङ्कलाई गुरू परम्परा में भी उल्लिखित है। श्रीरंगम् के आम मारकाट के समय के

---

1. वेदार्थ प्रकाश, पेज ४८.

सभय वेकटनाथ मुर्द्रो में छिप गए और अन्त मे मैसूर भाग गए। कुछ वर्ष वहां रहने के बाद वे कोइम्बतूर चले गए और वहां उन्होंने 'अभीति स्तव' लिखा जिसमें उन्होंने मुसलमानों के आक्रमण और श्रीरंगम् की दयाजनक स्थिति का वर्णन किया है। जब उन्होंने सुना कि गोप्पन के प्रयत्न से रंगनाथ श्रीरगम् में वापस आ गए तो उन्होंने उनके प्रयत्न की बहुत प्रशंसा करते हुए एक पद्य की रचना की।[1]

कुछ दिनों तक वेंकटनाथ काञ्ची में ही श्री भाष्यादि शारीरिक शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। फिरगारूड़ मत्र की सिद्धि प्राप्त करने के लिए वेंकटनाथ काञ्ची से अहीन्द्रपुर नामक स्थान पर चले गये। गारुडमन्त्र के निरन्तर जप से प्रसन्न गरुड द्वारा हयग्रीव मन्त्र का उपदेश किए जाने पर वे हयग्रीग मंत्र के अनुसन्धान में तत्पर हो गये। गरुड द्वारा प्रदत्त हयग्रीय भगवान की अर्चामूर्ति की अर्चना करते हुए उन्होंने कुछ समय बिताया। एक दिन प्रसन्न हयवदन ने उन्हें प्रतिपक्षी के सिद्धान्तों का खण्डन करने में समर्थ सकल शास्त्रों में पाण्डित्य एवं शास्त्रार्थ सभाओं मे विजयशील पराक्रम प्रदान करके अनुगृहीत किया। ऐसी परम्परा प्रसिद्ध है। इसी समय उन्होंने देवनायक पञ्चाशत् गोपाल विंशति तथा द्राविड प्रबन्धों की रचना की। अहीन्द्रपुर से काञ्ची आते समय मार्ग में देहलीश स्तुति एवं सच्चरित्र रक्षा की स्वना की। काञ्ची पंहुचकर वे वेदान्त के प्रवचन में सलग्न हो गये। कई वर्ष तक यहां सुखपूर्वक निवास करते हुए उन्होंने वरदराजपंचाशत् तथा अनेक संस्कृत द्राविड ग्रन्थों की रचना की।

परम्परागत विवरण से यह भी ज्ञात होता है कि वेंकटनाथ ने तिरुपति की यात्रा भी की थी। उन्होंने स्वयं ही अपने दयाशतक तथा भक्ति परक गीतों के द्वारा अमर तिरूपति की यात्रा वर्णन के बारे में बताया हैं। उनके तिरुपति की परिस्थिति एवं लोकप्रियता का प्रमाण हमें उनकी कृति हंस सन्देश से भी मिलता है।[2] तिरुपति में

---

1. आनीयानीलश्रृगद्युतिरचित–जगद्–रंतनादंजनाद्रेः।
   चेच्याम् आराध्य कंचित् रामयमथ निहत्योद्धगुष्काश्चतुष्कान्।।
   लक्ष्मी–भूम्यावुभाम्याम् सह निज नगरे स्थापयन् रंगनाथम्।
   राम्यग् वर्या सपर्या पुनराकृत यशो–दर्पणं गोप्पणार्य.।।
   –यह पद Epigraphica Indica मे पृ० ६, पृ० ३३० पर है।

2. हस सन्देह १.२१ तथा २२.

उन्होंने दयाशतक की रचना करके श्री निवास भगवान की सेवा की। तिरुपति एवं वहा के परिसर से ये बहुत प्रभावित थे वेंकटनाथ ने उन्हें विनम्रता की शिक्षादी और ईश्वर के अनुसेवा की शक्ति प्रदान की। प्रकृति की आभा में ही उन्होंने इंश्विर की आभा का दर्शन किया।[1] उन्होंने संकल्पसूर्योदय नाटक तथा हंस सन्देह में उत्तर भारत के अनेक स्थानों का नाम स्मरण किया है। उन्होंने अयोध्या को पाषण्डिमण्डल प्रचार-खण्डित कार्य युगधर्मे तथा निवृत्ति धर्म निष्ठ अनिष्ठुर वुद्धि वालों से परिव्यक्त कहा है।[2] वाराणसी को अवैदिक पवन तुरुण्कर्यभिन्नजातीयदेशाधिपति-संनिधानलुप्त शोचाचार[3] आदि कहा है। इसी प्रकार नेपाल, मथुरा, द्वारिका, अवन्ती आदि अनेक उत्तर भारतीय नगरों का वर्णन हमें मिलता है। अनेक नगरों एवं देशों का वर्णन जहां उनके भौगोलिक स्थिति का वर्णन, वेंकटनाथ के आवागमन को पुष्ट भी करता है। उन्होंने नेपाल[4] हिमालय के अतिरिक्त वदरिकाश्रम[5] का भी उल्लेख किया है। जिससे यह सिद्ध होता है कि उन्होनें समस्त उत्तर भारत के तीर्थ क्षत्रों की यात्रा अवश्य की होगी।

इसी प्रकार निश्चित रूप से वे प्रयाग भी गये होंगे तथा वहां गंगा और यमुना का संगम (सितासितनदी संभेद) देखा होगा जिसको उन्होंने स्वीकार किया की शान्ति एवं दया वेंकटनाथ के लिए सुखद एवं द्रढ़ आधार थे।[6] शायद वे गया की तरफ नहीं गये, वे इलाहाबाद अथवा बनारस में किसी योगी से मिले जो कि एक भुख्खड़ एवं लालची था।

इसी प्रकार उन्होंने दक्षिण भारत के तीर्थ क्षेत्रों की भी यात्रा की थी। अहीन्द्रपुर तिरुपति और श्री रङ्म् में तो उन्होंने निवास किया ही था। काञ्ची उनकी जन्म भूमि तथा कार्यस्थली रही है। इसके अतिरिक्त यादवांचल[7] मलयें[8], ताम्रपणी,[9]

---

1. स० सूर्योदय पृष्ठ ५५६
2. स० सूर्योदय पृष्ठ ५५७.
3. स० सूर्योदय पृष्ठ ५६४.
4. पृ० ६-१२-२१.
5. पृ० १०-८६
6. स० सूर्यो: पृष्ठ (२७)।
7. स० सूर्यो: पृ० ५३४
8. सं० सूर्यो: पृष्ठ ५७६.
9. स० सूर्यो: पृ० ६६०.

पाण्ड्यदेश[1], वेंकटाद्रि[2], वृषाचल[3] आदि का वर्णन किया हो। निश्चय ही वेदान्त में ख्याति इन स्थानों में आने के अनन्तर ही स्वाभाविक एवं मनोहारी वर्णन करने में सफल हुये है।

मैसूर राज्य ये अहीन्द्रपुरम् अथवा आधुनिक मेलकोटा ही उनका एक अधिकतम इण्ट आश्रय स्थल था। वह इस स्थल को अत्यधिक प्रसन्द करते थे, क्योंकि यहां का धार्मिक वातावरण निर्वात एवं परिस्थितियां अनुकूल थी। वह इसे दक्षिण वदरिकाश्रम और कर्नाटक देश के आभूषण के नाम से पुकारते थे।[4] वेंकटनाथ का दूसरा प्रवास स्थल दक्षिण भारतीय तीर्थो में ट्रेवलोर से १० मील दूर श्री परेम्बदूर था, यह रामानुज के जन्म स्थान के साथ ही साथ वेंकटनाथ के लिए अत्यधिक पुनीत स्थान था। यह वही स्थान है जहां उन्होंने यतिराज सप्तसती की रचना की और भाष्कर स्वामी के मूर्ति की पूजा करके उन्हीं के नाम से एक मन्दिर भी बनवाया गया था।

श्री रङ्गम् में इनकी जीवन चर्या बहुत अच्छी थी इनके साहित्यिक क्रिया कलाप सरलता से निरन्तर बढ़ रहे थे। शतदूषणी के समान ही। दूसरे महत्वपूर्ण कार्य जैसे अधिकरण सारावली तत्त्वटीका, तात्पर्य चन्द्रिका और बहुत से अन्य लेख वेंकटनाथ के द्वारा श्री रङ्म में ही लिखे गये।

कुछ समय के बाद कुछ अद्वैती विद्वानों ने श्री रङ्म में जाकर विशिष्टाद्वैत दर्शन पर आक्षेप किया। वहां पर उपस्थित विद्वतमण्डली ने आक्षेपों का समाधान नहीं किया। वेदान्त में ख्यातिलब्ध वेदान्त देशिक को पण्डितों ने काची से बुलाया। श्री वेदान्तदेशिक ने जाकर न केवल आक्षेपों का समाधान किया अपितु उनके सिद्वातों पर सौ आक्षेप लगाकर शतदूषणी ग्रन्थ का प्रणयन किया।

---

1 स० सूर्यो: पृ० ५८२.
2 सं० सूर्यो: पृ० ५६८.
3. स० सूर्यो: पृ० ६.६३.
4. स० सूर्यो पृ० ६. ५३.

इसके बाद उन्होंने पुनः श्री भाष्य एवं विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रचार में मन लगाया। उन्होंने संस्कृत तमिल एवं मणिप्रवाल शैली में अनेक ग्रन्थों की रचना की। विशिष्टद्वैत दर्शन के आचार्य के रूप में उनकी प्रसिद्धि चतुर्दिक फैल गयी।

भारतीय दर्शन के उतार चढ़ाव के साथ ही इन्हें भी कुछ परेशानी अवश्य उठानी पड़ी है। ईष्यालुक्षों ने उन्हे अनेकों बार अपमानित करने के अनेक प्रयास किए, किन्तु भगवान की कृपा से सब निष्फल होते गये। लक्ष्मणाचार्य के शिष्यों से उपच्युत होकर वेदान्तदेशिक श्री रङ्म से थोड़ी। दूर सत्याकाल (सत्यंमगलम्) नामक ग्राम में रहने लगे। बाद मे ईष्यालुक्षों को अपने–२ कृत्यों पर क्षोभ हुआ और वेदान्तदेशिक पुन: आकर श्री रङ्म में रहने लगे।

श्री रङ्म् में निवास के दौरान वेदान्तदेशिक का परम पद हो गया। उनके परम पद की परम्परा तिथि १४ नवम्बर १३६६ ई० मानी जाती है। इस तिथि के समर्थन में थोड़ी कठिनायी है, वह यह कि वेदान्त देशिक ने २ पद लिखे जो १३७१–७२ ई० के शिलालेख के लिए बनाये गये थे। अब यदि यह कहा जाय कि उनका देहान्त १३६९ में हुआ तो उन्हें उपर्युक्त २ श्लोंको का रचयिता कैसे माना जा सकता है। लेकिन यह परेशानी हल हो सकती है। यदि हम यह माने कि ये दोनों पद १३६६ के पूर्व विरचित है और वह लेख जिस पर ये अंकित है वह १३७१–७२ का है।

उनकी मृत्यु के वाद भगवान विष्णु का घण्टा या घंटे की घनघनती आवाज रूक गयी। आज भी एक वडगलै श्री वैष्णव, वेदान्तदेशिक के आर्शीवाद के लिए उनका आवाहन करता है। उसके जीवन का प्रत्येक शुभ अवसर वेदान्तदेशिक के नाम के जपमात्र से ही पवित्र हो जाता है।

हर वैष्णव मंदिर में आज भी श्री वेदानत देशिक की पवित्र मूर्ति रखी हुयी है और आज भी श्री वेदान्तदेशिक का नाम यशः शेष है।

वेदान्तदेशिक के लगभग १०० वर्ष से अधिक का जीवन काल एक व्यवस्थित और असाधारण काल था। उनकी महत्वाकांक्षा सत्तर्कतन्त्रपरिकर्मितशवीसच्छारीरक[1] प्रवचनव्रतम् उनके उपलब्धियों के अनुसार ही हैं:–

''यतीश्वरसरस्वतीरसभरेण नीवं वयः,

प्रफुल्लपलितं शिरः परमिह श्रमं प्रार्थये।

निरस्तरिपुसंभवे क्वचन रंग मुख्ये विभो

परस्थरद्वितैषिणं परिसरेपु मा भावय'।।[2]

उनकी कमियो जैसे अपने प्रतिस्पर्धी दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति सहृदय विचार की कमी और उनकी उच्च श्रेणी की रूढ़िवादिता के बावजूद वे अपने व्यक्तिव तथा कृतित्व की सुन्दरता के आलोक में सुन्दर प्रतीत होतें हैं।

श्री वेंकटनाथ की कृतियाँ:– वेंकटनाथ श्री वैष्णव लेखकों में अधिकतम बहुमुखी प्रतिभा के धनी एवं सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त लेखक हैं। इनकी रचनाओं को हम भाषा की दृष्टि से ४ भागों में तथा विषय की दृष्टि से छः भागों में विभक्त कर सकतें है। भाषा की दृष्टि से उनकी रचनायें संस्कृत, प्राकृत तमिल एवं मणिप्रवाल नाम से चार भागों में विभक्त की जाती है। इनके ग्रन्थों की संख्या देना कठिन है। फिर भी इनके परम्परा गत जीवन विवरण से हमें इनकी एक सौ पन्द्रह कृतियों की विलक्षण संख्या प्राप्ति होती है।[3]

सम्प्रति संस्कृत भाषा में लिखे गये उनके ग्रन्थों की संख्या ६२, प्राकृत में १ तमिल मे १८ तथा मणिप्रवाल शैली में रचित ग्रन्थों की संख्या ३४ मानी जाती है। विषय वस्तु की दृष्ट से उनके संस्कृत ग्रन्थों को अधोलिखित छः भागों में रखा जा सकता है।

---

1. सर्वतन्त्रस्वतंत्र– २–१०२.
2. अभीतिस्तव् पृष्ठ २८.
3. वैभव प्रकाशिका।

१. साहित्य, २. धार्मिक एवं अनुष्ठेय ग्रन्थ, ३. काव्य, ४. मौलिक दर्शन ग्रन्थ, ५. भाण्य या टीकाग्रन्थ, ६. अन्य।

१. स्तोत्र साहित्य— वेदान्तदेशिक ने कई भक्ति पूर्ण एवं शिक्षा प्रदकविताएं लिखी। ये कवितायें उनके सूक्ष्म धार्मिक भावनाओं तथा काव्यात्मक प्रगल्म्ता को दर्शाती है। ये कृतियां संस्कृत के श्री वैष्णव लेखकों की मन्दाकिनी में एक विशिष्ट स्थान रखती है। यह सत्य है कि श्री देशिक ने इन कृतियों की रचना आलवार सन्तों के भक्ति गीतों की प्रेरणा से ही किया लेकिन उनमें किसी प्रकार के मौलिकता की कमीं नहीं हैं, वे निम्न हैः—

१. **हयग्रीव स्तोत्रः**— वेंकटनाथ द्वारा रचित स्त्रोत में हयग्रीव भगवान को विद्या एवं प्रकाश का देवता माना जाता है लेखक ने ३२ श्लोकों के साथ उपजाति छन्द में भगवान् हयग्रीव की स्तुति की है। तैतीसवें श्लोक में उन्होंने स्त्रोत्र के प्रयोजन एवं अपनी कृति होने का उल्लेख किया है। सम्भवतः यह कृति उनके तिरुवन्तपुरम प्रवास के दौरान लिखी गई।

२. **दशावतार स्तोत्रः**— इसमें विष्णु के दश प्रमुख अवतारों की स्तुति की गयी है। भगवान् श्री रङ्नाथ को ही विशेष रूप से अवतरित होने का वर्णन किया गया है। इसकी रचना श्री रङ्म में हुई जो कि शार्दूलविक्रीडित छन्द में है। वेंकटनाथ ने श्रुत प्रकाशिका में कहा कि ईश्वर की कृपा पाने के लिए यह एक पवित्र निष्ठा है।[1]

३. **भगवद्ध्यानसोपानमः**— बारह श्लोकों से युक्त यह स्त्रोत मंन्दाक्रान्ता छन्द में है। जैसा कि नाम से ही ज्ञात होता है कि इसमें भगवान् रङ्नाथ की स्तुति की गयी है। रंगनाथ के भक्तों के अनुसार भावगत का अर्थ प्रव्यक्षतः रङ्नाथ ही है, कोई दूसरा श्री वैष्णव देवता नहीं। जिस प्रकार दयाशतकम् का अर्थ श्रीनिवास शतकम् होता है। उसी प्रकार भगवद् ध्यान सोपानम् का अर्थ रङ्नाथ सोपानम् होता है।

---

1. वैभव प्रकाशिका पेज ३०.

४. **गोपाल विंशतिः–** इसके २० श्लोको में भगवान् कृष्ण की स्तुति की गयी है। इक्कीसवें में स्वनामोल्लेख पूर्वक स्त्रोत की महिमा बता की गयी है। इसके कुछ परिष्कृत श्लोक लेखक ने अपने महाकाव्य यादवाम्युदय के XV सर्ग से लिया है। जिसका प्रथम श्लोक वन्देवृन्दावनचरम् है। अर्थात् वेंकटनाथ ने दर्शन एवं काव्य कला के तत्व को यादवाम्युदय के प्रस्तावना श्लोक से किया है।

५. **श्री स्तुतिः–** इसमें २६ श्लोकों में लक्ष्मी की स्तुति बतायी गयी, जो कि मन्दाक्रानता छन्द मे है। यह स्तुति लक्ष्मी की वन्दना के अवसर पर श्री देशिक श्री वैष्णव कवियों के द्वारा रचा गया। अन्तिम श्लोक में इस स्त्रोत के पाठ से सकल वैभवो की प्राप्ति बतायी गयी है। परम्परवा वैदान्तदेशिक ने इसे श्री रङ्यम् में लिखा था।

६. **अभीतिस्तवः–** इसमे भगवान् रङ्नाथ की स्तुति २६ श्लोगों में की गयी है। कवि ने रङ्नाथ के प्रति अपनी भक्ति व्यक्त की है। यह मानना होगा कि यह कृति सत्यमंगलम् के द्वारा कोयम्बदूर जिलें में लिखी गयी। शायद यह संस्कृत टीका नहीं है। यह श्री शैलसुमन रङ्नाथचार्य की तमिल टीका है। इस स्वोत्र के पाठ से प्राणी भव भय से मुक्त हो जाता है।[1]

७. **वरदराजपंचाशतः–** इस स्त्रोत में काञ्जीवरम् मे स्थित भगवान् वरदराज की स्तुति की गयी है। इसमें ५१ श्लोक हैं। इसे देवराज पंचाशत् भी कहते हैं। यह श्री वैष्णवो के द्वारा परिष्कृत ईश्वर के ज्ञान के वर्णन में पढ़ी ज़ाती है। यह काञ्चीवरम् के श्री वैष्णव पुजारी वरदराज के लिए प्रपत्ति काव्य है। इस पर श्री शैलनिवासाचार्य का टीका भाष्य है। अन्तिम श्लोक में वेंकटनाथ ने स्वरचित श्लोकों का समर्पण किया है।

---

1 अभीतिस्तव – पृ० २६

८. **वेगासेतु स्त्रोत्रः**– यह एक देव स्तुति है जो कि काञ्जीवरम् के यशोक्त कारीन मन्दिर मे सुरक्षित रखी है। इसका दूसरा नाम यथोक्तकारीन भी है। इसके स्त्रोत १० श्लोको में है। इसके पीछे एक कथानक है कि एक बार ब्रह्मायज्ञ कर रहे थे। सरस्वती ने उसमे भाग नहीं लिया। वह वेगवती धारा के रूप मे बहने लगी। रतुत यथोक्तकारिविष्णु ने धारा को रोक दिया, जिससे उनका नाम वेगासेतु पड़ गया। उन्हीं (वेगासेतु) की स्तुति इस स्तोत्र में हुई है।

९. **अष्ट भुजाष्टकः**– काञ्चीपुरम् मे स्थित यथोक्तकारिन मंदिर के अष्टभुजाधारी विष्णु के लक्ष्य करके यह स्त्रोत्र बनाया गया है। इसमें १०२ श्लोक है। कवि कहता है कि शरणागत की रक्षणत्वरा के कारण विष्णु ने दुगुनी (आठ) भुजाएं धारण कर रहीं है।[1] इस पर **आई० आर० [illegible]चार्य** की संस्कृत टीका है।

१०. **कामासिकाष्टकः**– काञ्ची के कामसिका मंदिर में स्थित नृसिंहरूपधारी विष्णु की इस स्त्रोत्र में स्तुति की गयी। इसमें ६ पद्याश तथा ६२ श्लोक हैं।

११. **परमार्थस्तुतिः**– काञ्ची से ७ मील तिरुपुथुली में रामरूप में स्थित अथवा विजय राधव व समर पुङ्गव नामक भगवान विष्णु की १०२ श्लोकों में स्तुति की गयी है इसे विजय राधव स्तुति अथवा समर पुङ्गव स्तुति भी कहते है।

१२. **शरणागति दीपिकाः**– इसमें रामानुज के दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। ६० श्लोकों से युक इस श्लोक में काञ्ची स्थिति दीपप्रकाश भगवान को लक्ष्य करके यह स्त्रोत्र बनाया गया है। वेदान्तदेशिक का यह एक महत्वपूर्ण कार्य क्षेत्र था। इस स्त्रोत्र का नाम दीप प्रकाश स्त्रोत भी है।

---

1. अष्टभुजाष्टक – १०.

१३. **देवनायक पञ्चाशत्:–** तिरुवहीन्द्रपुरम् में स्थित देव नायक, भगवान् की स्तुति इस स्तोत्र के ५३ श्लोकों में है। इसे उन्होंने अपने प्रवास के समय लिखा। यहा ५३ श्लोकों में से ५० तो वसन्ततिलकाछन्द में है। ब्रह्मोत्सव त्योहरों के समय प्रत्येक वर्ष इसे तिरुवन्धपुरम् के मन्दिर में गाया जाता था।

१४. **अच्युत शतकम्:–** यह एक भक्तिपरक स्तोत्र है जो कि प्राकृत में है। इसमें देवनायक या अच्युत भगवान् की स्तुति की गयी है। उक्त स्तोत्र में १०१ गाथायें है। कवि ने प्राकृत का वैसा ही सम्मान किया है जैसे कि सरस्वती की मधुर ध्वनि।

१५. **देहलीश स्तुतिः–** इस स्तोत्र में २८ श्लोक है। इसमें तिरूक्कोल्लूर में स्थित देहलीश भगवान् की स्तुति की गयी है।

१६. **न्यासतिलकम्:–** इसमे श्री रङ्गम मदिर के भगवान् श्री रङ्नाथ की ३२ श्लोकों में स्तुति की गयी है यहां पर वेंकटनाथ रहते थे और भगवान् रङ्नाथ की पूजा करते थे। जैसा कि न्यास शब्द से ही ज्ञात है कि कवि ने इसे ईश्वर की शरणागति माना है।

१७. **रघुवीर गद्यम्:–** यह भगवान् राम की गद्यमयी स्तुति है। इसकी रचनातिरुबन्धपुरम् में हुई है।[1] यह रामानुजीय रङ्गगद्य के सदृश प्रभावशाली है वाल्मीकि रामायण के सार हेतु यह एक सुन्दर कविता है। इसे महावीर वैभव भी कहते है।[2]

१८. **भू स्तुतिः–** इसमे भू पृथ्वी देवी की स्तुति की गयी है इसमें ३३ श्लोक है। भारतवर्ष की प्रतिष्ठा एवं गरिमा के लिए इसें कविता की तरह भी पढ़ा जाता है। श्री शैल तिरुमलानीनाम्बी राधवार्य ने इसपर संस्कृत में टीका लिखी और रङ्ं गोपलाचार्य द्वारा तमिल में।

---

1 वैभव प्रकाशिका, पृष्ठ ३२.

2 रङ्गद्य अन्तिम पंक्ति।

१६. **षोड़शायुध स्तोत्रः**— इसमें भगवान् विष्णु के सोलह अस्त्रों का स्तवान किया गया है। इसमें १६ श्लोक है। जिसके १८ श्लोक अनुण्टुप छंद में है। सम्भवतः ये १३१० ई० में श्री रङ्ग मे लिखी गयी है। इस पर तेनगरारि रङ्गोपालचार्य ने संस्कृत में तथा काञ्ची गोपालटाटाचार्य ने तमिल में टीका लिखी।

२०. **सुदर्शनाष्टकम्**— इसमें भगवान् विष्णु के चक्र सुदर्शन की स्तुति ८ श्लोको में की गयी है। यह कहा जाता है कि इसकी रचना तिरुवन्तपुरम् में हुई। लेकिन डोडाचार्य इसे काञ्ची में लिखी मानते है।[1] नवम् श्लोक में इस स्तोत्र का माहात्म्य बताया गया है। रङ्गोपालाचार्य ने इस पर संस्कृत टीका लिखी है।

२१. **गरुड् दण्डकः**— इस स्तोत्र में दण्डक छन्द के चार खण्डों में गरुड़ की स्तुति की गयी यह श्री वैष्णवों के द्वारा ब्रह्ममहोत्सव के समय गाया जाता है।

२२. **यतिराज सप्ततिः**— इसमें यतिराज श्री रामानुज स्वामी का स्तवन् किया गया है। इसमें ५२ श्लोक है। शायद यह कृति परेम्बुदूर में लिखी गयी थी। लेकिन डोडाचार्य इसे काञ्ची में होना मानते है। कवि यतिराज सप्तति को बहुत मानते है।[2] इस पर एक मात्र रामानुजाचार्य की टीका है।

२३. **पादुकसहस्रमः**— यह १००८ श्लोकों वाला विस्तृत स्तोत्र है। यह भगवान् रङ्गनाथ की पादुका को लक्ष्य करके बनाया गया है। इसमें ३२ पद्य या खण्ड है। यह श्री रड्म में लिखा गया था। इसकी उत्पति के बारे में एक ऐतिहय हैं। वेदान्तदेशिक को कवि तार्किकसिंह नामक शीर्षक पर ललकारा गया। और कहा कि एक रात्रि में जो १००० श्लोक भगवान् रङ्नाथ के

---

1. वैभव प्रकाशिका पृष्ठ ३५.
2. यतिराज सप्तति ७३.

विषय में बना लेगा वही कवितार्किकसिंह होगा। तब वादांङ्गली एवं तेलाङ्गलि दोनों कवियों ने श्लोक रचना शुरू कर दिया, तेलाङ्गलि कवियों ने एक रात्रि में मात्र ५०० श्लोक ही बना पायें जब कि वेदान्तदेशिक थोड़े ही समय में १००० श्लोकों को तैयार कर दिया ये बादङ्गलि समर्थक थे अतः यही १००० श्लोकों का यह ग्रन्थ पादुकासहस्र कहलाया।

२४. **दयाशतकम्ः–** यह एक सुन्दर प्रभावोत्पादक गेय कविता है, वेदान्तदेशिक ने इसे तिरुपति में लिखा था। यह ईश्वर के प्रेम और उनके दूरदर्शिता के सभी पहलुओं को स्वीकार करता है। इसमें १०८ श्लोक है इसमें श्री निवास भगवान् की दया को बड़े ही काव्यात्मक रूप से प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः दयाशतक १०० विलक्षण श्लोकों वाला है।[1]

२५. **गोदास्तुतिः–** इस स्तोत्र के २९ श्लोकों में गोदा (आण्डाल) की स्तुति की गयी है। श्री गोदा आलवारों में अन्यतम् है। यह श्री रङ्गम में लिखी गयी थी। डोडाचार्य इसे बहुत पसन्द करते है।[2] इसमें गोदा मीरा के समान गोपी भाव से कृष्ण प्रेम में निरन्तर लीन रहते है ये आलवार प्रभु को अपना प्रियतम् ही मानते है। इस पर श्री शैल तिरुमलानी नाम्वी राधवाचार्य की संस्कृत टीका है।

२६. **न्यासदशकम्ः–** इसमें कवि ने वरदराज भगवान की १० अनुण्टुप श्लोकों में शरणागति की है। उक्त श्लोकों की रचना काञ्ची में हुई। सम्भवतः वेदान्तदेशिक की यह कृति उनके प्रौढ़ावस्था की है। यहां पर सृजक भविष्य की महत्ता के बारे में प्रतिज्ञा करता है। कि[3]–

"मां मदीयं च निखिलं चेतनाचेतनात्मकम्।

स्वकैंकर्योपकरणं नरद! स्वीकुरु स्वयम्।।"

---

1. रङ्चारी, द वैशनेटिव री फार्मस् आफ इण्डिया।
2. वैभव प्रकाशिका पृष्ठ ६६.
3. न्याय दर्शन पृष्ठ ७.

मध्वाचार्य देशिक दर्शन के एक महान प्रवक्ता है, उनकी गुणवत्ता का विवेचन प्रस्तुत पंक्ति मे दृष्टव्य हैं।[1]

'तस्य (न्यासस्य) दशकं च यस्त
त्रैयन्तार्य समाश्रये सततम्।'

२७. **गरुडपंचाशत्:–** इसमें ५२ श्लोक हैं। इसमें स्रग्धरा छन्द में गरुड़ की स्तुति की गयी है। इस स्तोत्र को परव्यूह वर्णक अमृतहरण वर्णक, नागदमनवर्णक, परिष्कार वर्णक, अद्भुत वर्णक, नामक ५ खण्डों में बांटा गया है।

इस प्रकार वेदान्तदेशिक द्वारा विरचित उपर्युक्त २७ प्रबन्ध, स्तोत्रों के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि कि विद्वानों में संस्था को लेकर विवाद है, जैसे कि डा. सत्यव्रत सिंह ने अपने शोध प्रबन्धक में दयाशतक एवं गोदास्तुति को काव्य माना हैं। न्यायदशक को धार्मिक ग्रन्थों तथा घाटी पञ्चक, दिव्यदेश मङ्गला शासन पञ्चक एवं सुभाषित नीवी को स्त्रोतों के अन्तर्गत रखा है। घाटी पञ्चक वेदान्तदेशिक की रचना स्वीकार नहीं की जाती है। सुमाषितनीवी को ग्रन्थ नहीं माना जा सकता क्योंकि वह नीति ग्रन्थ है। उसमे किसी का स्तवन नहीं है। उसे काव्य मानना ही समीचीन है। दयाशतक एवं गोदास्तुति को काव्य न कहकर स्तोत्र कहना अधिक समीचीन है। यद्यपि उसमें काव्यत्व है किन्तु अन्य स्तोत्रों में काव्यता का अभाव है, यह नहीं कहा जा सकता है। काव्यता होते हुए भी देव विशेष की स्तुति ही स्तोत्र ग्रंथो का प्राणतत्व है। न्यायदशक को भी स्तोत्र साहित्य में रखना ठीक है। इसमें वरदराज भगवान की शरणागति भी की गई है। यदि व्यास तिलक को स्तोत्र स्वीकार किया गया है तो न्यास दशक थे स्तोत्र मानने में कोई कठिनाई नहीं है। श्री काञ्ची प्रतिवादि भयंकर अण्णंगराचार्य ने उपर्युक्त स्तोत्रों के अतिरिक्त वैराग्यपंचक द्रविड़ोपनिषन्तात्पर्य रत्नावली एवं द्रविडोपनिषत्सार को भी स्तोत्र ग्रन्थों के अन्तर्गत रखा है। वस्तुतः इन्हें अनुष्ठेय ग्रन्थों के अन्तर्गत रखना चाहिए, क्योंकि इनमें किसी भी स्तवन नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान अपर्याप्तामृत स्तुति, विंगृहेशस्तुति एवं लीला स्तुति को भी श्री वेदान्तदेशिक द्वारा रचित स्तोत्र प्रबन्ध स्वीकार करते है।[2]

---

1. वैभवप्रकाशिका पृ० ६६.
2. यादवाम्युदय प्रस्तावना, सर्ग १३–१८ मैसूर एडिशन १६४५ पृ० १०.

२. **अनुष्ठेयग्रन्थः**— इस स्तम्भ के अन्तर्गत वेदान्तदेशिक को एक श्री वैष्णव अध्यापक के रूप में, कई योगदान हैं। इनमें साम्प्रदायिक कृतियों से वेदान्तदेशिक रामानुज के सच्चे उत्तराधिकारी प्रतीत होते हैं। इस प्रबन्ध में वेदान्तदेशिक का उद्देश्य श्री वैष्णव धर्म एवं दर्शन की मुख्य विशेषताओ को प्रस्तुत करना है। इन ग्रन्थों की संख्या ११ मानी जाती है।

१. **सच्चरित्ररक्षाः**— उक्त ग्रन्थ के ३ अधिकरणों में श्री वैष्णव सम्प्रदाय प्रसिद्ध शंखचक्रधारण, द्वादशोर्ध्वपुण्ड धारण एवं भगवन्निवेदितोपयोग की वैधता निरवद्यता आदि का उपपादन किया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध १३२१ ई० में अथवा निक्षेपरक्षा के पूर्व लिखा गया।

२. **निक्षेप रक्षाः**— निक्षेप, प्रपत्ति, शरणागति न्यास इत्यादि एक ही अर्थ का वाचक है। इसमें प्रमाणों के आधार पर निक्षेप का ब्रह्मविद्यात्व स्थापित किया गया है। सम्भवत. यह गीताथार्थ संग्रह के पूर्व की कृति है। इस का एक रूप आर्न्त प्रपत्ति बताई गयी है जिसके द्वारा तत्काल मोक्ष की प्राद्विमानी गयी है।[1]

आनुकूल्यस्थ संकल्पः प्राति कूल्यस्य वर्जनकम्
रक्षिण्यतीति विश्वासः गोप्तृव्ववरणं तथा
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शारणागतिः।

३. **पांचरात्ररक्षाः**— इसमें श्री पांचरात्र की प्रमाणिकता स्थापित करते हुए उसका वेदाविरुद्धत्व प्रतिपादित किया गया है। इसमें सिद्धान्तव्यवस्थापन, निव्यानुष्ठानस्थापन, एवं नित्यग्रन्थव्याख्यान नामक तीन अधिकार है। प्रस्तुत प्रबन्ध में पांचरात्र संहिता की स्ववैधता और पांचरात्रधर्म की सार्वभौम नैतिकता ही इसका प्रमुख विचारणीय विषय है। यह १३२२ ई० में निक्षेप रक्षा के बाद लिखी गयी।

---

1. भारतीय दर्शन की रूप रेखा, डा० एम० हिरियन्ना, पेज ४१०.

४. **न्यायविंशतिः–** इसमें २२ श्लोक हैं। २० श्लोकों में प्रपत्ति के पर्याय वाचक न्यास का अनुष्ठान प्रकार, उसके उपर्युक्त शिष्य और आचार्यदि के लक्षण, भक्ति एवं प्रपति में अधिकारी भेद इत्यादि विषयो का निरूपम किया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध स्रग्धराछन्द में है। वेदान्तदेशिक ने स्वयं इस पर "न्यासविंशति" की व्याख्या भी लिखी है। ऐसा लगता है कि उनके शिष्यों ने प्रपत्ति सिद्धान्त की व्याख्या करने का अनुरोध उनसे किया था।[1] एक नादादुर वेंकटारामाचार्य की तमिलकम् संस्कृत व्याख्या भी उपलब्ध होती है।[2]

५. **द्रमिडोपनिषन्तात्पर्यरत्नावलीः–** प्रस्तुत प्रबन्ध का सांराश १३० स्रग्धरा छन्द और १० उप अनुभागों में निगत है। पूरा छन्द महान नामालवार पर ही आश्रित है, तमिल साधुओं के गीत की तरह वेदान्त देशिक ने पूरा आत्मसमर्पण का सार माना है। यह ग्रन्थ श्री शष्कोपिसूरि के गाथात्मक दिव्य प्रबन्ध का अर्थ संग्रह रूप है।

६. **द्रमिडोपनिषत्सारः–** प्रस्तुत प्रबन्ध संस्कृत में स्रग्धरा और शिखरणी छन्दों में है तथा नामालवार सन्तों की गाथा है। वेदान्तदेशिक की यह एक महान् कृति है। २६ श्लोकों वाला यह प्रबन्ध पद्य में है।

७. **वैराग्यपंचकः–** वैराग्यपंचकम् पारम्परिक रूप से उनके ५ श्लोकों में से एक है। जिसे उन्होंने विज्ञाननगर कोर्ट के शाही बुलावें पर लिखित उत्तर के रूप में दिया था। प्रस्तुत श्लोकों में संसार की विभिन्न स्मृद्धियों पर पूर्ण रूप से सिद्धहस्तता कही है। वे सर्वाधिक संतोष जनक एवं समर्पित जीवन के बारे में कहते हैं–[3]

नास्ति पित्रार्जित किञ्चिन्न मयाकिञ्चिदर्जितम्।
अस्ति में हस्ति शैलाग्रे वस्तु पैतामहं धनम्।।

इस पर वीर राधवाचार्य की तमिल व्याख्या है।[4]

---

1. न्यासविंशति, टीका।
2. Kumba Konam Edn - कुम्भ कोनम, एडिशन।
3. · कुम्भ कोनम, एडिशन–६
4. देशिक सम्प्रदाय विवर्धिनीसभा प्रकाशन।

८. **हरिदिन तिलकः**— प्रस्तुत प्रबन्ध १७ श्लोको वाला तथा स्रग्धरा छन्द में है। जिसमें श्री वैष्णवों द्वारा अनुष्ठेय एकादशीव्रत की प्रथा या रीति पर प्रकाश डाला गया है। यही वेदान्तदेशिक की विशेषता है।

९. **आराधना कारिकाः**— इसमें २ साधारण पद्य है जिनके द्वारा ईश्वर की उपासना स्वयं प्रकार व उपासना के मार्ग बताये गये है।

१०. **यज्ञोपवीतप्रतिष्ठा**— प्रस्तुत ग्रन्थ ६ श्लोकों वाला स्रग्धरा छन्द में है। इसमें यज्ञोपवीत धारण करने की आवश्यकता तथा उसके धार्मिक महत्व के बारे में बताया गया है इसमें कुछ दुसरे श्री वैष्णवों के धार्मिक कृत्य सम्बन्धी और साहित्यिक सम्बन्धों के बारे में भी कहा गया है।

११. **वैश्वदेवकारिकाः**— इसमें ६ श्लोक है। श्री वैष्णवों द्वारा अनुष्ठेय पंचकालकृत्य के अनतर्गत वैश्वदेवयाग पर इसमें विचार किया गया है। उक्त प्रबन्ध सग्धरा छन्द में है।

३. काव्यः— श्री वेदान्तदेशिक के काव्यों का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि वे एक दार्शनिक के साथ ही सहृदय कवि भी थे। अधोलिखित ६ काव्य ग्रन्थ उनके लिखे हुए कहे जाते है।

१. **यादवाम्युदयः**— कालिदास के रधुवंश एवं कुमार सम्भव की ही भांति यह भी महाकाव्य की पंक्ति में आता है। इसे यदुवंश और कृष्णाम्युदय भी कहते है। २४ सर्गो वाला यह महाकझवय श्री कृष्ण के जन्म से लेकर महाभारत युद्ध समाप्त पर्यन्त की कथा इसमें है। सम्भवतः यह एक ही स्थान पर नहीं लिखा गया, इसका कुछ भाग, काञ्ची, तिरुपति तथा श्री रङ्म में भी लिखा गया। इसका समय १३२५ ई० माना जाता है।

२. संकल्प सूर्योदयः— १० अंकों में लिखित यह एक प्रतीक नाटक है। जिसमें श्री वैष्णव दर्शन की महत्ता स्थापित की गयी है। सम्भवतः वेदान्तदेशिक ने स्वयं ही १३२५ में इसे लिखा तब तक वे श्री भाष्य का ३० बार अध्ययन कर चुके थे।

३. **हंस सन्देशः**– यह एक देवीय प्रेमपरक गीत है तथा सन्देश या दूत खण्डकाव्य के रूप में भी जाना जाता है। यह कालिदास के मेघदूत की तरह ही २ खण्डो में विभक्त है। प्रथम में ६० एवं द्वितीय में ५० पद्य हैं प्रथम खण्ड में राम ने लंका स्थित जानकी के लिए हंस द्वारा सन्देश भेजा है, और दूसरे भाग में राम और सीता के गम्भीर प्रेम का वर्णन है। सम्भवतः यह १३३८–३६ में लिखा गया।

४. **सुमाषित नीवीः**– यह सुभाषितों का भण्डार है। यह एक शिक्षाप्रद एवं सूत्रवत् संग्रह है। १४४ श्लोकों का यह संग्रह १२ अध्यायों में हैं इसमें राजाओं की आवश्यक नीतियों के बारे में कहा गया है। **डोडाचार्य** इसे श्री रङ्म् में लिखा मानते है।[1] श्री वैष्णव के अनुसार **'रत्न पेटिका'** नामक इसकी संस्कृत टीका है। इसकी रचना प्रायः १३२६–३० के सन्निकट हुई।

५. **समास्यासहस्रः**– जैसा कि नाम से ही निदित है इसमें एक सहस्र समस्याएं रहीं होंगी। शायद वेदान्तदेशिक की यह कृति समस्यासाहस्री की तरह ही प्रसिद्ध थी लेकिन वेदान्तदेशिक ने ऐसा कुछ नहीं लिखा जिसका कि अकारण समर्थन किया जा सके। अपनी पादुकासहस्र नामक कृति के प्रभाव से उन्होंने स्वयं उसे समस्या साहसी होने का उल्लेख किया है।[2] सम्प्रति यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

६. **यमक रत्नाकरः**– वेदान्तदेशिक के यादवाम्युदय को पढ़ने से ही ज्ञात होता है कि वे यमक के प्रयोग में काफी दक्ष थे। ग्रन्थ सुलभ न होने के कारण कुछ भी निर्णय करना कठिन है।[3] इस ग्रन्थ के कृतित्व के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है।

---

1 वैभव प्रकाशिता पृष्ठ ११०

2. स्तोत्र रत्न भाष्य पृष्ठ ६५

3. वेदान्त देशिक, भाग–२ पृष्ठ ७२

४. मौलिक दर्शन ग्रन्थः– इस स्तम्भ के अन्तर्गत वेदान्तदेशिक की सबसे महत्त्वपूर्ण कृतियां आती है। इसका मतलब यह नहीं; कि उनकी कृतियां मौलिक है। इसी लिए वे किसी भी प्रकार से रामानुजीय व्यवस्था से अलग नहीं है। इनकी मौलिकता इरा बात मे है कि ये रामानुज दर्शन को इदमित्थं रूप से प्रस्तुत करती है। वास्तव में ये वहीं कृतियां है जिससे देशिक दर्शन का निर्माण हुआ है। ये कृतियां हैः–

१. **न्यायपरिशुद्धिः–** न्याय परिशुद्धि का रामानुज दर्शन में वही स्थान है जो कि न्यायदर्शन में न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका का है। वेदान्तदेशिक स्वयं यह मानते है कि उनकी यह टीका महान् पाडिण्य पूर्व हैं। यह ग्रन्थ प्रत्यक्ष अनुमान शब्द स्मृति और प्रमेय नामक ५ भागों में विभक्त है। यह सर्वार्थसिद्धि के पूर्व और पाञ्चरात्ररक्षा के बाद लिखी गयी।

२. **न्यासिद्धाञ्जनः–** न्यायपरिशुद्धि के अन्तिम परिच्छेद में संक्षेप में निर्दिष्ट प्रमेयतत्व पर इसमें विचार हुआ है। इसमें जड्द्रव्य, जीव, ईश्वर, निव्यविभूति, वुद्धि एवं अद्रव्यसंज्ञक ६ पच्छिेद हैं। यह अद्वैत खण्डन परक ग्रन्थ है। यह कृति निश्चित रूप से न्यायपरिशुद्धि (१३२४ ई० में) और सर्वार्थसिद्धि के बाद ही लिखी गयी जिसकी तिथि १३३६ ई० हैं।

३. **तत्त्वमुक्ताकलापः–** ५०० श्लोकों वला यह ग्रन्थ सग्धरा छन्द मे है वेदान्तदेशिक की यह एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक कृति है। सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य ने इसे भी उदृधत किया है।[1] रामानुज दर्शन का यह एक सारभूत सारांश है जिसका उल्लेख माधवाचार्य ने तत्मुक्तावली में किया है।[2] इसमें जङद्रव्य, जीव, नायक बुद्धि और अद्रव्य नामक ५ शर है।

४. **सर्वार्थ सिद्धिः–** प्रस्तुत कृति वेदान्तदेशिक के तत्वयुक्ता कलाप की व्याख्या है। जो सर्वार्थसिद्धि दर्शन के विस्तृत अध्ययन की ओर संकेत करता है। यह

---

1. सर्वदर्शन सग्रह पुष्ठ १०५ व ११२ अभयकर एडीशन।
2. सर्वदर्शन संग्रह पृ० १०४–अभयंकर एडीशन।

वेदान्तदेशिक के समालोचनात्मक मन की शक्ति तथा प्रसन्न स्वभाव और काव्य सम्बन्धी दार्शनिक प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। इसका समय १३३६–४० के आस–पास माना जाता है।

५. **शतदूषणीः–** इमसें १०० वादों में निर्विशेष ब्रहमाद्वैतमत का निरास किया गया है परन्तु इस समय इसमे ६६ वाद ही प्राप्त होते है। शेष नष्ट हो गये हैं। यह अद्वैत की एक शक्तिशाली आलोचना है। इसकी रचना तत्त्वटीका के पूर्व १३२२ में लिखी गयी।

६. **सेश्वर मीमांसाः–** जैमिनि के पूर्व मीमांसा दर्शन की विशिष्टद्वैतसिद्धान्तनुसारी व्याख्या करके वेदान्तदेशिक ने उसे सेश्वर सिद्ध किया है। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में केवल प्रथम एवं द्वितीय पाद ही उपलब्ध होते है।

७. **मीमांसा पादुकाः–** प्रस्तुत पादुका में १७३२ श्लोक है जो कि स्रग्धरा छन्द मे है। यह सेश्वर मीमांसा द्वारा प्रति पादित विषयो का पद्यात्मक संग्रह है।

८. **अधिकरण सारावलीः–** इसमें ४ अध्याय और ५६२ श्लोक है यह श्री भाष्यानुसारी ब्रहमसूत्राधिकरणों का विषय संग्रह रूप ग्रंथ है वेदान्तदेशिक इसे अपने गुरू आत्रेय रामानुज से भी प्राचीन मानते है।[1] शायद तत्त्व टीका के पूर्व यह प्रकल्पनीय ग्रन्थ लिखा गया था। ऐसा माना जाता है कि इसका उद्देश्य तत्वटीका के काव्य सम्बन्धी संक्षेपीकरण की आवश्यकता पूर्ति करना था।[2]

९. **अधिकरण दर्पणः–** यह ब्रह्म सूत्र के अधिकरणों का संग्रह रूप रहा होगा। वेदान्त देशिक स्वयं इसका उल्लेख करते है कि यह ब्रह्म सूत्र के अधिकरण सारावली से सम्बन्धित है। लेकिन यह ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है।

---

1. अधिकरण सारावली पुष्ठ ५६२.
2. अधिकरण सारावली पुष्ठ ४.

१०. **वादित्रय खण्डनम्**:– श्री शंकर, भास्कर एवं यादव प्रकाश के मतों का खण्डन रूप यह ग्रन्थ है, यह अतिसंक्षिप्त एवं सन्तुलित है।

११. **चकार समर्थनः**– यह ग्रन्थ लुप्त है। श्री विद्याख्य द्वारा शतदूषणी में किसी 'च' शब्द के अनावश्यक बताये जाने पर चकार के समर्थन में वेदान्तदेशिक ने इसे लिखा। ऐसा द्राविड़ वैभवप्रकाशिका आदि में लिखा है।

इसके अतिरिक्त 'परमत भङ्ग' भी श्री वेंकटनाथ का मौलिक दार्शनिक ग्रन्थ है। वह मणि प्रवाल शैली में लिखा गया है। अतः उसका परिचय आगे दिया जायेगा।

५. भाण्य या टीका ग्रन्थः– वेदान्तदेशिक की व्याख्याएं विशिष्टद्वैत साहित्य मे महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यें मूल रचनाओं की प्रमाणित टीकायें है। तथा पूर्णतः समालोचनात्मक है। वेदान्तदेशिक की व्याख्याओं में आदर्श मीमांसा के आचार्य कुमारिल भट्ट हैं। इन व्याख्याओं के उद्देश्य यातों पूर्व व्याख्याकारों से भिन्नता लाने का है या फिर मूल रचनाओं की दार्शनिक या धार्मिक अथवा नैतिक समस्याओं की गुरूता को हल करना है।

१. **तत्त्वटीकाः**– श्रीभाष्य का विवरण रूप यह ग्रन्थ है। श्रीभाष्य में स्थित जिन विषयों पर श्रुतप्रकाशिका में विचार नहीं किया गया था, उनपर श्री भाष्यकाराशयानुरूप विचार व्यक्त किया गया है। दुर्भाग्य से जिज्ञासाधिकरण समाप्ति पर्यन्त ही यह ग्रन्थ मिलता है, शेष कालकवलित हो गया है। सम्भवतः इसकी रचना १३२२–२३ ई० में उनके विद्यार्थी जीवन के अन्तिम चरण में हुयी थी। तब तक उन्होंने श्री भाष्य को २८ बार पढ़ा लिखा था।

२. **तात्पर्य चिन्द्रिकाः**– रामानुज के गीता भाष्य पर यह एक उत्तम कोटि की टीका है। यह एक बहुत ही समालोचनात्मक व्याख्या है।

३. **गीतार्थ संग्रहरक्षाः**– श्री यामुनाचार्य ने गीता के अर्थ को सुरक्षित रखने के लिए ३२ श्लोकों में गीतार्थ संग्रह नामक एक ग्रंथ लिखा था उसी की रक्षा

के लिए श्री वेंकटनाथ ने व्याख्या रूप ग्रन्थ लिखा जो **गीतार्थ संग्रह रक्षा** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। गीतार्थ संग्रह रक्षा का मनोरंजक वर्णन ही गीता के १८ रहों अध्यायों में वार्जित है।

४. **रहस्य रक्षाः–** श्री वैष्णव सिद्धान्तानुरूप प्रपत्ति का स्वरूप, महिमा, यज्ञ अनुष्ठानावश्यकता आदि विषय इसमें वर्णित हुयें है। इसमें ३ अधिकरण है। वास्तव में ये अधिकरण गद्यत्रय, स्तोत्र रत्न और चतुःश्लोकी के भाष्य है। इसे गद्यत्रय भाष्य भी कहते है। जिसमें शरणागति गद्य, श्री रंग गद्य, और रामानुज का बैकुण्ठनाथ गद्य महत्वपूर्ण है।

५. **ईशावास्योपनिषद् भाष्यंः–** ईशावस्योपनिषद् के अर्थ अधिक स्पष्ट नहीं थे, इसीलिए श्री वेंकटनाथ ने इस पर भाष्य लिखा।

६. **वेदार्थ संग्रह रक्षाः–** सम्प्रति यह ग्रंथ लुप्त है, रामानुजस्वामी के वेदार्थ संग्रहपर व्याख्या रूप यह ग्रंथ था।

इसके अतिरिक्त तमिल में उन्होंने गीतार्थसंग्रहगाथा नामक व्याख्या श्री यामुनाचार्य के गीतार्थ संग्रहग्रन्थ पर लिखी है तथा 'निगमपरिमलम्' व्याख्या श्री शठेकस्वामी की सूक्तियों पर लिखी गयी है, जो इस समय उपलब्ध नहीं है।

६. अन्य ग्रन्थः–

१. **भूगोल निर्णयः–** यह ६ श्लोकों की एक छोटी सी रचना हैं इसमें पुराणानुसार भूमण्डल के समस्त भागों का वर्णन किया गया है।

२. **शिल्पार्थ सारः–** यह ग्रंथ लुप्त है। वैभव प्रकाशिक में महाचार्य ने इसे वेदान्तदेशिक की रचना माना है।[1] यह ग्रन्थ सम्भवतः तमिल में लिखा गया है।

---

1. वैभव प्रकाशिक पृ० ७०.

अन्य कृतियां:– उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त मणिप्रवाल शैली में तथा तमिल मे श्री देशिक की अनेक रचनाएं है। मणिप्रवाल शैली संस्कृत एवं तमिल के मिश्रण से निर्मित एक नई भाषा है। इसमें लिपि तमिल की रहती है तथा शब्द प्रायः संस्कृत भाषा के ही रहते हैं किन्तु उनके अन्त में विभक्तियां तमिल की ही जोड़ की जाती है। मणिप्रवाल शैली में रचित श्री देशिक के ग्रन्थों को रहस्य ग्रन्थ कहते है। इनकी संख्या ३४ है। इनमें ६ गंथ तथा २८ ग्रन्थ लघु रहस्य कहे जाते हैं लघु रहस्य ग्रन्थों में भी अमृतरजंनी एवं अमृतस्वादिनी नामक २ भेद है। प्रथम में १७ एवं द्वितीय में ११ रचनाएं है जिनके नाम अधोलिखित हैं:–

१. **रहस्य ग्रन्थः–** इसमें श्री वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध मूल ग्रंथ, द्वयमन्त्र और चरम श्लोक की विस्तृत व्याख्या है। यह ग्रंथ ४ भागों में हैं– तथा इसमें ३२ अध्याय हैं।

२. **परमतभंगः–** यह एक मौलिक दार्शनिक ग्रंथ है इसमें स्वसिद्धान्त स्थापन पूर्वक लोकायत, वौद्ध, शंकर, भाष्करीय, यादवप्रकाशकीय वेयाक[illegible], वैशेषिक, नैयायिक, कुमारिल, प्रभाकर, कपिल, योग, पाशुपत आदि मतों का सविस्तार निरास किया गया है।

३. **गुरूपरम्परासारः–** इसमें श्रीवैष्णव गुरू परम्पारा का क्रम, प्रतिदिन उसके अनुसन्धान की आवश्यकता आदि संक्षेप में वर्णित है।

४. **[illegible]सोपानम्ः–** इसमें ब्रह्मज्ञानियों के परमपद प्राप्ति का क्रम बताया गया है। इसमें विवेक निर्वेद, विरक्ति, भीति, प्रसाद, हेतु उत्क्रमण, अर्चिशदि मार्ग, दिव्यदेश प्राप्ति, मोक्षानुभव नामक नवपर्व है।

५. **हस्तगिरिमाहात्म्यम्ः–** यह तमिलकम संस्कृत में है। इसमें ब्रह्माण्ड़पुराण में कहे गये रूप में कांञ्ची नगरीय हस्त गिरि का माहात्म्य तथा वहां पर ब्रह्मा द्वारा अश्वमेध याग एवं भगवान् वरदराज का आर्विभावादि वार्णित है।

६. **स्तेया विरोधः**– यह ग्रन्थ इस समय लुप्त है। भक्ताग्रेसर श्री परकाल ने दूसरों के धन का अपहरण करके देवालय–निर्माण कराया था। इस ऐतिह्य के समर्थन मे यह ग्रन्थ लिखा गया था।

लघु रहस्य ग्रन्थ

अमृतरञ्जनी–

१. सम्प्रदाय परिशुद्धि
२. तत्व पद्रवी
३. रहस्य पद्रवी
४. तत्वनवनीतम्
५. रहस्यनवनीतम्
६ तत्वमातृका
७. रहस्य मातृका
८. तत्व सन्देश
९. रहस्य सन्देश
१०. रहस्य सन्देश विवरणम्
११. तत्वरत्नावली
१२. तत्व रत्नावली विषय संग्रह
१३. रहस्य रत्नावली
१४. रहस्य रत्नावली हृदयम्
१५. तत्वत्रय चुलुकम्
१६. रहस्यत्रयचुलुकम्
१७. सारदीप।

अमृतस्वादनी–

१. सारसारः
२. अभयप्रदानसारः
३. तत्व शिखामणिः (लुप्त)
४. रहस्य शिखमणि
५. अजलि वैभवम्
६. प्रधानशतकम्
७. उपकार संग्रह
८. सार संग्रह
९. मधुर कवि हृदयम्
१०. मुनिवाहन भोगम्
११. विरोध परिहारः।

वेदान्तदेशिक द्वारा रचित द्रामिड़गाथा रूप प्राप्त ग्रन्थों की संख्या १८ है। इन्हें देशिक प्रबन्ध भी कहते हैं। उनके नाम यह प्रकार है।

१. मुभिणी कोवै (मणित्रयमाला)
२. पन्दुप्पा (कन्दुक गाथा)
३. कज्ल्पा
४. अम्मानेप्पा
५ अशल्पा
६. एशल्पा
७. अहैवक्लप्यतु
८. अर्थ पंचकम्
९. श्री वैण्णव दिनचर्या
१०. पन्निरुनामम्
११. तिरुचिन्नमालै
१२. नवरत्न माला
१३. आहार नियमः
१४. तिरुमन्त्रत्त्चुरुवकु
१५. द्वयच्चुरुक्कु
१६. चरमश्लोकच्चुरुक्कु
१७. प्रबन्ध सार
१८. गीतार्थ संग्रह पदु (भाष्यरुप)

इसके अतिरिक्त अधोलिखित ६ ग्रन्थ भी श्री वेंकटनाथ द्वारा रचित बताये जाते हैं, जो सम्प्रति लुप्त हैं[1]:-

१. निगम परिमलम्
२. रस भूमाम्रतम्
३. शिल्प सारः
४. गुरुरत्नावली
५. वृक्ष भूमामृतम्
६. प्राकृतविशद संग्रह

---

1 यादवाम्युदय् प्रस्तावना, पृ० १३ सर्ग १३-१८, मैसूर प्रकाशन, १९४५.

तृतीय – अध्याय

<u>न्यायसिद्धाञ्जन का वर्ण्य विषयः–</u>

समय और परिस्थिति का अनुसार, मनुष्य के विचारों में परिवर्तन होता रहता है। दर्शन शास्त्र भी इस नियम से मुक्त नहीं है। आपातृदृष्टया भारतीय दर्शन इस नियम के अपवाद जैसे प्रतीत होते है। भारतीय दर्शनों की यह विशेषता अवश्य रही हैं कि उनकी एक लम्बी परम्परा रही है और जो अब भी सुरक्षित है, किन्तु ऐसी बात नहीं है कि उस निश्चित रेखा पर चलने के कारण ही उनमें कोई विकास न हुआ हो, कोई नवीनता न आयी हो। भारतीय चिन्ताकों ने अपने पूर्ववती आचार्यो के मतों का उनके परस्पर मत भेदों का 'सयूध्यवाद' के नाम से उल्लेख किया है। यदि किसी विशिष्ट आचार्य के मत से वे सहमत नही हैं तो उसका अनादर नहीं करते, किन्तु ऐसे स्थलों पर वे **'प्रौढ़िवाद'** पद का प्रयोग करते है। कणाद गौतम, कपिल, पतञ्जलि, जौमिनी और बादरायण के द्वारा छः दशनों की प्रवृत्ति हुई और इन दर्शनों का स्वतंत्र विकास हुआ।

परवर्ती काल में ब्रह्मसूत्रों पर अनेक भाष्यों की रचना हुई, किन्तु प्रमाण और प्रमेय मीमांसा पर न्याय वैशेषिक दर्शन की प्रक्रिया की छाप अधिक स्पष्ट है। पूर्वमीमांसा की समान्ता आज शंकर वेदान्त की है। 'व्यवहारे भाट्टनयः कहकर शाकर वेदान्तियों ने इसकी स्पष्ट मान्यता दी है।

महाभारत और जैंन साहित्य से भी उस काल में प्रचलित अनेक दृष्टियों का परिचय मिलता है।

षडदर्शनसमुच्चय[1] की गुणरत्नकृत टीका में ३६२ दृष्टियों का उल्लेख है। सूत्रकाल में भारतीय दर्शन ने नवीन परिवेश धारण किया। काल स्वभाव एवं नियति और यदृच्छा तक को जगत् का कारण मानने वाली दृष्टियों का उल्लेख उपनिषदों[2] में मिलता है।

---

1. सूत्रकृदाख्ये द्वितीयेऽङ्गे पर प्रावादुकानात्रीणि शतानित्रिषष्टयधिकानि परिसख्यायन्ते तदर्थ सग्रह गाथेयम्:–
   आशीत्यधिक शतक्रियावादिनामक्रियावादिना भवन्ति चतुर शीति.
   अज्ञानिनां सप्तषष्ठिर्वैनयिकानां च द्वात्रिशत्।। –**(षड्दर्शनसमुच्चय)**
2. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि. पुरुष इतिचिन्त्या **(श्वेताश्वतरोपनिषद् १/२)**

भारतीय मनीषियों में व्यक्तिगत यशोलिप्सा की प्रवृत्ति नहीं रही है। अधिकांश भारतीय वाङ्मय में उसके यथार्थ रचयिता का नाम भी उपलब्ध नहीं होता। भारतीय साहित्य में व्यक्ति को महत्व न देकर परम्परा की महत्ता स्वीकार की गयी है। भारतीय दर्शन की सभी प्रवृतिओं एवं धाराओं का वर्गीकरण करने के लिए इनका आस्तिक और नास्तिक भेद से किया गया विभाग अपर्याप्त है। ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी भेद से भी भारतीय दर्शनों का विभाग माना गया है। नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं तो मीमांसक नित्य। इस प्रकार अनेक विषय है जिन पर एक दार्शनिक से दूसरे दार्शनिक का मत भिन्न है। वस्तुतः खण्डन मण्डन की प्रक्रिया से ही भारतीय दर्शनों का विकास हुआ है।

पाञ्चरात्र और पाशुपत आगम महाभारत काल से सुपरिचित थे। इनका अपना दर्शन था। भेद के समान ही ये भी स्वतः प्रमाण थे। इनके अनुयायी इन शास्त्रों का वेद से अधिक आदर करते थे। शैव शक्ति और वैष्णव सभी आगमों में प्रायः यह मान्यता देखने को मिलती है। तथा इन दर्शनों के विकास में प्रमुख स्थान इन्हीं शास्त्रो का रहा। प्रस्थानत्रयी, वेद, उपनिषद और भगवद्गीता का सर्वोपरि प्रामाण्य शंकराचार्य ने स्थापित किया संभवतः इनकी स्थापना का आधार उनसे कुछ पहले ही बन चुका था।

वैष्णव आचार्यो को भी अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए इसको स्वीकार करना पड़ा। ब्रह्म सूत्र की बोधायन वृत्ति, द्रमिळभाण्य और श्रीवत्सांक मिश्र का विवरण सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रेरणा स्रोत्र ये ही ग्रन्थ थे। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थान त्रयी को अवश्य अंगीकार किया किन्तु शांकर वेदान्त और वैष्णव वेदान्त के सिद्धान्तों में मौलिक अन्तर है। शांकर वेदान्त व्यवहारे भाट्टनयः कहकर कुमारिल भट्ट की प्रमाण मीमांसा को ही स्वीकार कर लेता है। इसके विपरीत वैष्णव प्रमाण प्रमेय मीमांसा का आधार पाञ्चरात्र संहिताएं है। यहां आगम सम्मत इन्हीं को प्रमाण माना गया है। पच्चीश तत्वों का निरूपण पाञ्चरात्र संहिताओं के अनुकूल ही है।

रामानुज और मध्वदर्शन के तत्वों के प्रतिपादन की शैली पर न्याय वैशेषिक प्रक्रिया का प्रभाव दिखाई पडता है। नाथमुनि का न्यायतत्वंआज उपलब्ध नहीं है। वेदान्तदेशिक ने वस्तुतः ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर इसको उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि न्यायसिद्धाञ्जन की तत्वप्रक्रिया का मूल आधार यही ग्रन्थ था। न्यायमुनि और श्री देशिक के बीच के काल मे अनेक आचार्य[1] हुए है।

यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि न्यायतत्व की रचना में यद्यपि पाञ्चरात्र आगम संमत तत्व प्रक्रिया को प्रधान स्थान दिया गया है। तथापि न्याय वैशेषिक भाट्ट एवं प्रभाकर मीमासा का भी उसमें कम योगदान नहीं हैं।

ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में सांख्य, योग, कणाद, बौद्ध और जैन दर्शन के साथ पाशुपत और पाम्चरात्र दर्शन का भी खण्डन किया गया है। यामुनमुनि ने आगम प्रामाण्य मे पाञ्चरात्र के प्राभाष्य की स्थापना का प्रयत्न किया है। रामानुजाचार्य ने श्री भाष्य के पञ्चरात्राधिकरण की व्याख्या खण्डन परक न करके मण्डन परक ही की है। और शंकराचार्य के द्वारा पाञ्चरात्र आगम में उद्भावित दोषों का परिहार किया है।

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में नास्तिक धारा धीरे–धीरे शुष्क होने लगी। आस्तिक धारा में भी स्वतंत्र चिन्तन के स्थान पर प्रस्थानत्रयी का प्रामाण्य सर्वोपरि स्वीकार कर लिया गया। इसके बाद वे भारतीय दर्शन का विकास प्रस्थानत्रयी के घेरे में हुआ। जिज्ञासुओं के ज्ञान के विकास के लिए उसकी बौद्धिक स्थिति के आधार पर दर्शनों की श्रेणियां बना दी गयी। उदयन जैसा प्रसिद्ध नैयायिक भी आलमार्द्रक वणिजोवहित्रचिन्तया[2] (अदरख बचेनें वाला वनिया सामुदिक व्यापार की चिन्ता क्या करें) कहकर वेदान्ती के सामने नैययिक को छोटा मानने लगा था। इस परिस्थिति में यह स्वामाविक ही था कि वेद को गौण प्रामाण्य स्वीकार करने वाले आगम ग्रन्थों की स्थिति सन्देह में पड़ जाय। वेदाविरोधी स्मृतिवचन ही प्रमाण माने गये है। आवश्यकता के अनुसार वेदानुकूल व्यवस्था भी कर ली गयी है।

---

1. वेदान्त देशिक एस्टडी पृष्ठ ११४.१३६.
2. द्रष्टव्य– आत्मतत्वविवेक पृ० २२३.

वेदान्तदेशिक के सामने दक्षिण भारत के सन्त आलवारों तथा उनके अनुयायिओं की भक्तिभाव से पूरित तमिल रचनाओं और पाञ्चरात्र संहिताओं का विशाल साहित्य एक ओर था तो बादरायण के ब्रह्मसूत्र के बौधायन एवं द्रमिणाचार्य प्रभृति भक्तिपरक व्याख्याओं के परिवेश में उपस्थित सम्पूर्ण वैदिकवाङ्मय जिनमें कि उपनिषदों का प्राधान्य था, दूसरी ओर था श्री वैष्णव सम्प्रदाय में आलवारों के उपदेशों का भी वेदो के समान ही आदर है। ये द्रमिलोपनिषद् अथवा तमिल वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं। द्रमिलोपनिषद् और वैदिक उपनिषदों में समन्वय स्थापित करने के कारण ही वेदान्तदेशिक को उभय वेदान्ताचार्य कहा गया है।

न्यायपरिशुद्धि मे विशिष्टद्वैत सम्मत प्रमाण मीमांसा का प्रतिपादन किया गया है इस ग्रन्थ के प्रमेयाध्याय में ग्रन्थकार ने संक्षेप में प्रमेय मीमांसा भी की है। प्रमेय मीमांसा का विस्तार से निरूपण करने के लिए ग्रन्थकार ने न्यायसिद्धाञ्जन[1] की रचना की। तत्वमुक्ता कलाप भी प्रमेय मीमांसा प्रधान ग्रन्थ है। वेदान्तदेशिक ने इस ग्रन्थ मे विशिष्टाद्वैत के आचार्यो और उनके ग्रन्थों एवम् उनके मतों की एक लम्बी परम्परा सुरक्षित की है। अन्यथा वह विस्मृति के गर्भ में बिलीन हो गयी होती।

प्रस्तुत कृति 'न्याय सिद्धाञ्जन' न्यायपरिशुद्धि का दूसरा भाग कहीं जा सकती है क्यों कि इसमें न्यायपरिशुद्धि के अन्तिम विषय का अन्तिम भाग जिसे अद्रव्य परिच्छेद कहा जाता है, वह नष्ट हो चुका है। इसे तर्क सिद्धाञ्जन भी कहते हैं।[2] वेदान्त देशिक स्वयं इसे न्यायपरिशुद्धि का पूरकग्रन्थ मानते हैं।[3]

प्रमेय मीमांसा का विस्तार से विवेचन करने के लिए न्याय सिद्धाञ्जन की रचना की गयी। तत्व मुक्ताकलाप भी प्रमेय मीमांसा प्रधान है किन्तु इन दोनों ग्रन्थों के आपसी विचारों में अन्तर है। रंग रामानुज ने न्यायसिद्धाञ्जन पर न्यायसिद्धाञ्जन व्याख्या टीका लिखी।

---

1 यन्न्यायपरिशद्धयन्तेसग्रहेण प्रदर्शितम्।
पुरस्तद्विस्तरेणात्र प्रमेयभिदध्महे।। (पृ० २)

2. न्याय सिद्धाञ्जन पृष्ठ १८५.

3. न्याय सिद्धाञ्जन पृष्ठ १८५.

न्यायसिद्धाञ्जन में ६ परिच्छेद जो निम्नलिखित हैं:–

१. जडद्रव्य परिच्छेद।

२ जीव परिच्छेद।

३. ईश्वर परिच्छेद।

४. नित्यविभूति परिच्छेद।

५. बुद्धि परिच्छेद।

६. अद्रव्य परिच्छेद।

संक्षेप में इन परिच्छेद में वर्णित विषय निम्नवत् है–

१. जड़द्रव्यपरिच्छेदः– प्रत्येक भौतिक विकास आध्यात्मिक विकास का एक साधन है। प्रकृति जड़ या द्रव्य विश्व के भौतिक विकास के प्रमुख सिद्धान्त हैं। लेकिन यह अपने सिद्धान्तों से कार्य नहीं करते। यह वास्तव में दैवीय शक्ति के द्वारा नियंत्रित होता है। यही विशिष्टाद्वैत की प्रकृति या जड़ द्रव्य है, जो भौतिक विकास के सिद्धान्त के रूप में वर्णित है।

सम्पूर्ण चेतन (चित्) और अचेतन (अचित्) विशेषणों से विशिष्ट ब्रह्म ही केवल एक तत्व है तत्व पुनः द्रव्य और अद्रव्य के भेद से दो प्रकार का होता है। द्रव्य ६ प्रकार का है। १. त्रिगुण अर्थात् प्रकृति, २. काल, ३. जीव, ४. ईश्वर, ५. नित्यविभूति और, ६. धर्म भूतज्ञान।

कतिपय विद्वान द्रव्य का तीन प्रकार से विभाजन करते हैं:–

१. त्रिगुण, २. जीव, ३. ईश्वर। जो द्रव्य दूसरे से प्रकाशित होता है, वह जड़ है। प्रकृति और काल जड़ द्रव्य है क्योंकि ये धर्म भूत ज्ञान से प्रकाशित होते हैं। अजड़

द्रव्य मे जीव ईश्वर नित्य विभूति और धर्म भूतज्ञान का अन्तर्भाव होता है, क्योंकि ये चारों स्वयं प्रकाश पदार्थ हैं।

इस परिच्छेद में **'प्रकृति और काल'** का विस्तार से निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने बताया कि बौद्ध दार्शनिक द्रव्य, अद्रव्य आदि विभागों को स्वीकार नही करते। इसी प्रकार शंकराचार्य के मत में निर्विशेष ब्रह्म ही एक मात्र तत्व है, जगत् भ्रान्ति स्वरूप है इन दोनों मतो का खण्डन कर ग्रन्थकार ने द्रव्यों की स्थिरता को स्थापित किया है। इसी प्रसंग मे प्रवल युक्तियों के आधार पर क्षणभंगवाद और शून्यवाद का निराकरण किया गया है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही माया और अविद्या के नाम से भी जानी जाती है। प्रकृति ही अवस्था भेंद से २४ तत्वो के रूप में परिणत होती है वेंकटनाथ अचित्जड के स्वभाव का वर्णन करते हुए, न्याय वैशेषिक के परमाणुवाद का भी खण्डन करते है। यहां प्रश्न उठता है कि प्रकृति तो निखयव है, उसका परिणाम कैसे सम्भव है, यह कल्पना तो विवर्त्तवाद का स्मरण दिलाती है, किन्तु ऐसी बात नही है। जिस प्रकार निखंयव अणु एवं विभु द्रव्यों के प्रदेश विशेष में संयोग और शब्द इत्यादि की उत्पत्ति मानी जाती है, उसी प्रकार निखयव प्रकृति मे भी प्रदेश विशेष में विकार उत्पन्न हो सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः वेदान्ती प्रकृति को सावयव मानतें है। सांख्य सम्मत प्रकृति से इनकी प्रकृति का स्वभाव भिन्न है। इस सावयव प्रकृति से ही निखिल जगत की सृष्टि होती है। अतः इसके लिए परमाणु के उपादान की आवश्यकता नहीं है।

शंकराचार्य ने प्रतिपादित किया हैं कि इस परमाणु जो अखण्ड है वे दूसरे परमाणु के संयोग में नहीं आ सकता और न कोई पूरी इकाई बना सकते हैं या परमाणु का परिणाण्डल्य परिणाम द्वयणुक में दूसरा नवीन परिमाण उत्पन्न नहीं कर सकता। यह संसार त्रसरेणु के संयोग से उत्पन्न होता है यह नहीं स्वीकारा जा सकता।

सत्व, रजस् और तमोगुणात्मक प्रकृति को ही एक मूल द्रव्य मानना पड़ेगा। तीनों की साम्यावस्था ही मूल प्रकृति की स्वल्प अन्तरालीय अवस्थायें होती हैं। जिन्हें

अव्यक्त, अक्षर, विभक्ततम, और अविमक्ततम् के रूप में भी जाना जाता है। अहंकार की अभिव्यक्ति के पूर्व और उसके बाद की स्थिति (साम्यावस्था जिसमें कोई विकार पैदा नहीं होते) महत् कहलाती है। महत् के बाद और इन्द्रियों के उत्पन्न होने से पहले की स्थिति अहंकार कहलाती है। महत् और अहकार बुद्धि या अहं की आत्मगत् अवस्था नही है जैसा कि कुछ सांख्यवादी सोचते है किन्तु वें प्रकृति के मूल द्रव्य की जगद्विषयक अवस्थायें हैं।

अंहकार तीन प्रकार है– सात्विक राजसिक, तामसिक। मनस् की अवस्थाऐं संकल्प कल्पना इत्यादि भिन्न नामो से कहीं गयी है।

महत् अहंकार इन्द्रिय आदि का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने एतत् सम्बन्धी सांख्य और शैवागम के मन्तव्यों की आलोचना की। यह ईश्वर का क्रीड़ास्थान है। यह प्रकृति कहीं जाती है। क्योंकि समस्त परिणाम यहां होते हैं। इसे अविद्या भी कहते है क्योंकि यह सत्य ज्ञान की विरोधिनी है और माया भी कहलाती है क्योंकि समस्त नानात्व को उत्पन्न करती है वेंकटनाथ काल को ईश्वर के स्वरूप में उनको एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति के रूप मे मानते है। दिक् आकाश से भिन्न तत्व नही है जो पदार्थो को गति का अवकाश देता है। आकाश केवल खालीपन या शून्यता नहीं है, किन्तु यह भाव पदार्थ है।

वरदविष्णु मिश्र भट्टपराशर, के तत्वरत्नाकर तथा नाथ मुनि के नयायतत्व के आधार पर यहां प्राकृत मन एव प्राकृत श्रोत्रेन्द्रिय की स्थापना की गयी है, तथा वैशेषिकों के इस सिद्धान्त का खण्डन किया गया है कि इन्द्रियां भौतिक है। वैशेषिक कर्मेन्द्रियों की सत्ता नहीं मानते। इसी प्रकार आचार्य यादवप्रकाश मानते है कि कर्मेन्द्रियों का प्रत्येक शरीर में उत्पत्ति एवं विनाश होता है। इन मतों के खण्डन के बाद सौगत चार्वाक आदि के द्वारा प्रस्तुत इन्द्रिय सम्बन्धी मतों की आलोचना की गई।

पन्चतन्मात्रा और पंच महाभूत की सृष्टि के प्रसंग में सांख्य और वैशेषिक मत का खण्डन कर इनका विशिष्टाद्वैत समेत स्वरूप स्पष्ट किया गया है प्रसंग वश आकाश

आवरणाभाव है इस बौद्ध मत की भी आलोचना की गयी। पृथ्वी के निरूपण के अवसर पर तम् को पार्थिक द्रव्य माना गया है। यहां पर न्याय वैशेषिक तथा प्रभाकर मत की युक्तियों का खण्डन कर ग्रन्थकर यह दिखलाया है कि तम् का द्रव्यत्व आगम से भी सिद्ध है।

प्रकृति और प्राकृत तत्वों का निरूपण करने के बाद ग्रन्थकार ने शैवागम सम्मत् षटत्रिंशतत्ववाद का खण्डन करते हुए शुद्ध तत्वों का ईश्वर में तथा अन्य तत्वों का प्राकृत तत्वों में ही अन्तरभाव दिखाया है।

शैवागम और वैशेषिक सम्मत काल स्वरूप का खण्डन करके विशिष्टाद्वैत संमत काल स्वरूप का निरूपण करने के बाद ग्रन्थकार ने पुनः तत्वों की संख्या के सम्बन्ध में महाभारत का प्रमाण प्रस्तुत किया है। पञ्चीकरणप्रक्रिया और ब्रह्माण्ड का निरूपण करने के बाद दिक्तत्व का निरूपण किया गया है। विशिष्टाद्वैत संमत् पंचीकरण प्रक्रिया में नैयायिक जाति शङ्कर दोष की उद्भावना करते है। इसके परिहार के प्रंसग में नैयायिक सम्मत् अवयविवाद का खण्डन किया गया है।

अन्त में पुनः ब्रह्माण्ड के निरूपम के प्रसंग में नैयायिक सम्मत् शरीर लक्षण का खण्डन कर शरीर के भेदोपभेद का वर्णन किया गया है। व्यष्टि जीवों के शरीर में ईश्वर शरीरता किस प्रकार निष्पन्न होती है। इस सम्बन्ध में कई मतों का उल्लेख कर यह परिच्छेद समाप्त किया गया है।

२. जीव परिच्छेदः–

प्रस्तुत परिच्छेद के प्रारम्भ में जीव का लक्षण दिया गया है। वेंकटनाथ ने यह माना है कि जीव व्यवहारिक स्थिति में ज्ञान का विस्तार पाता है और संकुचित होता है। मुक्तावस्था में वह विकास की चरमावस्था पर पहुँचता है तब वह समस्त जगत में व्याप्त हो जाता है। विशाल और संकुचित होना कर्मो के कारण है जो अविद्या भी कहलाती है। रामानुज ने जीवों को केवल ईश्वर की देह माना है, किन्तु बरबर और

अपने विकारों के सम्बन्ध में वह एक उपादान कारण है। और अन्य सभी के सम्बन्ध में निमित्त कारण है। ईश्वर सर्व व्यापी है। यह शास्त्र कथन की संगति काल का ईश्वर के साथ सह अस्त्तिव मानकर, काल के सर्वव्यापी गुण से साधीजा सकती है।

सत्त्व गुण, रजोगुण एवम् तमोगुण इन तीनों गुणों से रहित जड़द्रव्य विशेष को 'काल' कहते हैं।[1] वह काल नित्य तथा व्यापक द्रव्य है। वह काल भूत, वर्तमान एवम् भविष्यत् के भेद से तीन प्रकार को होता हैं। उस काल को ही लेकर युगपत् (एकसाथ), शीघ्र तथा देर से इत्यादि व्यपदेश होते हैं। काल के द्वारा निमेष, काष्ठा, कला, घटी, मुहूर्त, दिन, मास, ऋतु, अयन एवं वर्ष आदि व्यवहार होते हैं। मनुष्यों के एक माह का पितरों का एक दिन होता है। अमावस्या के दिन ही पितरों का मध्याह्न होता है। मनुष्यों के एक वर्ष का देवताओं का एक दिन होता है। उत्तरायण ही देवताओं का दिन होता है। दक्षिणायन ही देवताओं की रात्रि होती है। इस प्रकार देवताओं के प्रमाण से १२ हजार वर्षो का एक चतुर्युग होता है। उसमें चार हजार वर्षो का एक सत्य युग होता है। इस युग में धर्म पूर्णरूप से रहता है। तीन हजार वर्षों का त्रेतायुग होता है। इस युग में धर्म के तीन पाद होते हैं। दो हजार वर्षों का द्वापर युग होता है। युग में धर्म के दो पाद रहते हैं। एक हजार वर्षों का कलियुग होता है। कलियुग में धर्म एक पाद वाला रहता है। इन युगों की सन्धि दो हजार वर्षो की होती है। इस तरह के एक हजार चतुर्युग का ब्रह्मा क एक दिन होता है। इतनी ही बड़ी ब्रह्मा की रात्रि होती है। लीलाविभूति मे काल की सबसे बड़ी सीमा ब्रह्मा की आयु है। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु, चौदह इन्द्र तथा चौदह सप्तर्षि मण्डल होते हैं। इनमें से प्रत्येक मनु की आयु इकहत्तर चतुर्युग है। ब्रह्मा भी काल के वशवर्ती है। उनकी भी अपनी सौ वर्ष की आयु समाप्त होने पर मृत्यु हो जाती है।

काल का नित्यत्वः– शैवों ने कहा है कि काल माया से उत्पन्न होता है। किन्तु वेदान्तदेशिक[2] शैवों के मत को असिद्ध करने के लिए शास्त्र प्रमाण देतें हैं– "अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते" अर्थात् काल और भगवान् अनादि सिद्ध

---

1. कालो नाम गुणत्रयरहितो जडद्रव्यविशेष। यतीन्द्रमतदीपिका, पृष्ठ १००.
2. द्रष्टव्य, न्यायसिद्धाञ्जन, पृष्ठ १५१

है, उनका अन्त नहीं होता है। यह काल शरीरक भगवान् का वर्णन है। काल के अनादि एवम् अनन्त होने से ही कालशरीरक भगवान् को अनादि एवम् अनन्त कहा गया है। इस वचन से काल का नित्यत्व सिद्ध होता है।

अन्य वैष्णव आचार्यो के मत में काल का स्वरूप वैष्णव आचार्य— वैष्णव धर्म के चार प्रसिद्ध सम्प्रदाय है। **श्री वैष्णव सम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, रूद्र सम्प्रदाय, सनकसम्प्रदाय** श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के प्रधान आचार्च रामानुज। विशिष्टाद्वैत श्री सम्प्रदाय एवं ब्रह्म सम्प्रदाय के आनन्दतीर्थ (मध्व) द्वैत के, रूद्रसम्प्रदाय के आचार्य विष्णुस्वामी तथा तनुयादी आचार्य बल्लभ शुद्धाद्वैत के, सनक सम्प्रदाय के आचार्य निम्बार्क द्वैताद्वैत के प्रचारक है।

(क) आचार्य रामानुज के अनुसार काल का स्वरूपः— रामानुज ने ब्रह्ण सूत्र की अपनी टीका वेदान्तदीप और 'वेदान्तसार में' में काल को एक पृथक तत्व के रूप मे निराकृत किया है। काल का विचार सूर्य के पृथ्वी के सम्बन्ध में राशि चक्र के आपेक्षिक स्थान से उत्पन्न होता है। सूर्य की अपेक्षित स्थिति से मर्यादित पृथ्वी के देश की परिवर्तित अवस्था ही काल है।[1] यह मत वेंकटनाथ के मत से पूर्ण रूपेण भिन्न है। बारबार कहते है कि काल सत्वगुण रहित प्रकृति है। वेंकटनाथ के अनुसार काल ईश्वर के स्वरूप में उसकी एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति है। इसे (काल को) अवतेन, जड़ या माया के नाम से भी जाना जाता है यह एक प्रकार का अचित् तत्व भी हैं क्योंकि ब्रह्म् में चित् और अचित् दोनों तत्व विद्यमान रहते हैं इनमें चित् जीव का द्योतक है तथा अचित् जड़ तत्व या प्रकृति का द्योतक है, जो काल के रूप में भी जाना जाता है।

(ख) माध्वदर्शन के अनुसार काल— माध्व का दर्शन सभी धारणओं को स्वीकार करता है। द्रव्य की परिभाषा उपादान कारण के रूप में की जाती है।[2] एक द्रव्य परिणाम एवं अभिव्यक्ति अथवा इन दोनों की दृष्टि से उपादान कारण होता है इस प्रकार जगत परिणाम के अधीन है। जबकि ईश्वर अथवा जीवों की केवल अभिव्यक्ति ही हो सकती है अथवा ज्ञात किए जा सकते है किन्तु परिणाम परिवर्तन नहीं हो सकता।

---

1. सूर्यादि सम्बन्ध विशेषोपधित पृथिव्यादि देशनामेव कालसंज्ञा। —नयद्युमणि पृ० १६८.
2. ईश्वरः प्रकृति जीवो जड़ चेति चतुण्टयम्।
   पदार्थोनां सन्निधाना तु तमेषो विष्णुरुच्यते।। (तत्वसंख्यान) पृ० १०.

अविधा के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसके परिणामों परिवर्तन भी होते हैं और वह अभिव्यक्ति का विषय नहीं बनती। द्रव्य २० कहे गये है। अर्थात् परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकश प्रकृति, तीन गुण महत् अंहकार बृद्धि मनस् इन्द्रिया, भूत, मात्र, अविद्या, वर्ण अंधकार वासना, काल एवं प्रतिविम्ब उपादान कारणता जिसमें हो यह द्रत्य है। सम्पूर्ण जगत के उपादान कारण के रूप में प्रकृति को ही मान गया है जो काल के अन्तर्गत है।[1] ईश्वर में विद्यमान सृष्टि प्रलय आदि के कार्यनित्य होते हैं और उसके स्वरूप भूत होते हैं, उसमें सृष्टि एवं प्रलय के विरोधी कर्म स्थित रह सकते हैं पर शर्त यह है कि जब एक व्यक रूप में तब दूसरा अव्यक्त रूप में।[2] माध्व प्रकृति को भौतिक जगत का उपादान कारण मानते है। काल उसकी प्रत्यक्ष उपज है तथा अन्य सभी वस्तुओं की उत्पत्ति उसके उनक्रमिक परिवर्तन के द्वारा होती है जो महत् आदि पदार्थों से प्रारम्भ होते हैं। यह प्रकृति ही काल रूप से जगत के लिए सर्व बन्धनों का कारण होती है। (जगबन्धात्मिका)[3] काल का सर्वव्यापी आकाश से सहअस्तित्व होता है तथा वह प्रकृति के उपादान से सीधा उत्पन्न होता है, अतः प्रकृति से व्युत्पन्न अन्य पदार्थों से अधिक प्राथमिक अस्त्तिव रहता है।[4]

निम्बार्क दर्शन में काल– चेतन की विजातीय तत्व है अचते् है। अप्राकृत, प्राकृत और काल, ये तीन अचेतन तत्व है। तीसरा अचेतन् तत्व काल जो नित्य और विभु है। सब प्राकृत अचेतन तत्व काल के अधीन होते है। स्वरूपतः काल अरकण्ड एवं नित्य है किन्तु काल रूप से अनित्य है उसका कार्य औपाधिक है उपाधि है सूर्य का परिभ्रमण रूप किया। चेतना हीन पदार्थ ही उचित् है जो निम्न है।[5] ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध सर्व उसकी जैसा है। सर्वश्री कुण्डलवस्था उससे भिन्न है और व अभिन्न। इस प्रकार ईश्वर और जीव का सम्बन्ध दीप और प्रमय जैसी भी है। (प्रभातद्वतोखि) या सूर्य और उसके प्रकाश जैसा ही ईश्वर अपने में अपरिणामी रहता है। और केवल अपनी शक्ति से ही चित् अचित् शक्ति के रूप में परिणत होता है।[6]

बल्लभ दर्शन में काल– बल्लभ मत में जीव ज्ञाता ज्ञान स्वरूप तथा अजुरूप है भगवान् के अविकृत अंश से जड़ का निर्गमन और अविकृत सदंश से जीव का निर्गमन और अविकृत चिदेश से जीव का निर्गमन, जड़ के निर्गमन काल में चिदेश तथा आतन्दांश दोनों कातिरोधान रहता है परन्तु जीव के निर्गमन काल में केवल आनन्दांश का ही तिरोभाव रहता है। यह परिणामवाद को स्वीकार करते हैं।

---

1. द्रव्य तु द्रवण प्राप्य द्वयोर्विवदमानयो. पूर्व वेगाभिराम्बन्धादाकाशस्तु प्रदेशतः।। मध्व सिद्धात्तसम्।
2. सृष्टिकाले सृष्टि–क्रिया व्यक्त्यात्मना वर्तते, अन्यदा तु शक्त्यात्मना एव संहार कियापि।
   –मध्वसिद्धान्तसार पृ. ४.
3. भागवत् तात्पर्य, ३, १०, ६ (पृ० २६)।
4. सर्जन व्यात्पानां कतिपय प्रकृति सूक्ष्माणि कालेपादनत्वपम् कतिपयानां महद् आद्य उपादानत्वां कतिपयानां च मूल रूपेण अवस्थानम्। मध्वसिद्धान्तसम् पृ० ६४.
5. अप्राकृतं प्राकृत रूपक च काल स्वरूपं तदचेतनं मताम्। मायाप्रधानादिपद प्रवाच्य शुक्लादि भेदाश्च समेऽपितत्र।। (दशश्लोकी ३)
6. देखें वेदान्तकौस्तुभ प्रभा ३/२/२६।

यह कार्य एवं कारण का शुद्ध अद्वैत है। चूंकि ब्रह्म् विरूद्ध धर्मायि माना गया है। अतः जड़ जगत एवं जीव में परिणत हो कर ही स्वतः अविकृत हुआ इस प्रकार बल्लभ ने अविकृत परिणामवाद स्वीकार किया। इस वेदान्त में प्रमा अंतः कारण का सात्विक परिणाम जो सत्व गुण के बढ़ाने वाली कहीं गयी है।[1] ब्रह्म ही कारण कार्य एवं स्वरूप भेद से तीन कोटियों में पाया जाता है। वही ज्ञान आनन्द, काल इच्छा क्रिया माया प्रकृति के रूप से पहले होता है।[2] वह सभी विरुद्ध धर्मो का आश्रय है अतः स्वरूपतः अविकृत रहकर भी अपने को ही रचता है।[3] ब्रह्म अपने आनन्द अंश को तिरोहित कर लेता है तो चिदंश की व्यामोहिका माया जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होने देती। वही जगत् की उत्पत्तिका हुते है माया का ही रूप अविद्या है और माया उपादान प्रकृति है। इस प्रकार दो प्रकृतियां है व्यामोहिका माया और प्रकृति या मूल प्रकृति।[4] सिद्धान्त मुक्तावली के लेखक के मत में माया शक्ति यथार्थ उपादान कारण है न कि ब्रह्मन,। ब्रह्मन् कारण एवं कार्य से अतीत होता है।[5]

काल भी एक ईश्वर का रूप माना जाता है, काल के प्रत्यय में कर्म एवं स्वभाव का समावेश होता है। काल का स्वरूप लक्षण सत् चित् व आनन्द हैं यद्यपि व्यवहार में वह सत्वाशही प्रगट होता है।[6] काल गुणों की साम्यावस्था को विक्षुब्ध करने वाला प्रथम कारण होता है। सूर्य एवं परमाणु के गुजरने में जितना समय लगता है उसे काल परमाणु कहते है।

इस प्रकार वह अत्यधिक लघु होने के कारण आगे विभाजित नहीं किया जा सकता। लघुतम् काल की इकाइयों के संघात से ही काल के दीर्घ विस्तार की उत्पत्ति होती है क्योंकि काल एक ऐसा सर्वव्यापी स्वरूप का अंशी नहीं है जिसका अंश लघुतर काल की इकइया होती है।

---

1. प्रस्थान रत्नाकर पृष्ठ ५–६ देखें।
2. प्रस्थान रत्नाकर पृ० १५६.
3. अविक्रियमाण एवात्मानं करोतीति वेदान्तार्थाः संगतो, भवति विरुद्ध सर्वधर्माश्रयत्वं तु ब्रह्मयों भूषणाय्। अणुभाष्य– १/१/३.
4. तत्रद्रव्य माया प्रकृति ह्रदस्योंपादानम् इति (प्रस्थान रत्नाकर १६३.)
5 सिद्धान्तलेश, (लैजारस का संस्करण १८९०) पृ० १२–१३.
6. एतस्यैव रूपान्तरं कालं–कर्म–स्वभावाः कालस्यांश–भूतौ कर्म स्वभवौ तत्र अन्तः सच्चिदानन्दे, व्यवहारे ईशत्वसत्वाशेन प्रकटः कालइत्तिकालस्य रूवरूपं लक्षणं – अनुभाष्यपर टीका पृ० १६५.

अन्य दार्शनिकों के अनुसार काल

चार्वाक दर्शन के अनुसार काल– इनके अनुसार काल ही संसार के समस्त पदार्थो का मूल कारण है। काल के अभाव में अनेक सामग्रियों को होते हुए भी संसार का अस्तित्व असंभव है। वरदराज मिश्र के अनुसार सभी सामग्रियों के होते हुए भी किसी भी कार्य की उत्पत्ति तब तक नहीं होती जब तक उसका निश्चित समय नहीं आ जाता। अतएव काल ही सृष्टि का एक मात्र कारण है। इस प्रकरण में प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है अतः हम केवल उन्हीं का अस्तित्व मानते है जिनका प्रत्यक्ष होता है। हमें केवल जड़ द्रव्य का ही प्रत्यक्ष होता है। अतः हम केवल उन्हीं को मान सकते हैं। इस प्रकार जड़वाद का प्रतिपादपन काल से मिलकर ही करते है यही मात्र एक तत्व है। आचार्य शकर ने अपने श्वेताश्वतर उपनिषद् में काल का अर्थ स्वभाव बतलाया है जिसके अनुसार पदार्थो की उत्पत्ति का कारण उनकी स्वाभाविक शक्ति ही है। यहां पर काल के कारण शक्ति मानना ठीक नहीं है, क्योंकि इस सम्बन्ध में पदार्थ संकर है ओर दोनों भिन्न पदार्थ है।[1]

जैन दर्शन में काल का स्वरूप– समस्त द्रव्यों के उत्पादादि परिणामन में सहकारी काल द्रव्य माना गया है काल परिवर्तन का कारण है। स्वयं परिवर्तन करते हुए अन्य द्रव्यों के परिवर्तन में यह सहकारी होता है। व्यावहारिक दृष्टि से इसे परिणामों का कारण माना जाता है, और पारमार्थिक दृष्टि से इसे वर्तना का कारण मानते हैं। वर्तना, परिणाम, क्रिया परत्व और अपरत्व ये पांचों काल के उपकार माने जाते है। काल के विना पदार्थो की स्थिति अकल्पनीय है। काल के अवयवों को बिना माने स्थिति की कल्पना निराधार ही है। किसी वस्तु का परिणाम काल की सत्ता पर ही अवलम्बित है। कच्चे आम का पक जाना काल जन्य ही है। लोकाकाश के एक–एक प्रदेश में अणुरूप काल की सत्ता श्लोकी राशि के समान है। रत्नों के ढेर होने पर जिस प्रकार प्रत्येक रत्न पृथक रूप से विद्यमान रहता है। उसी प्रकार लोकाकाश में काल अणुरूप से पृथक

---

1. श्वेताश्वतर उपनिषद् १,२, पर शङ्कर भाष्य।

स्थित रहता है।[1] द्रव्यसंग्रह में काल के २ भेद माने गये– व्यावहारिक काल, पारमार्थिक काल। काल के क्रमिक पर्यायों से अतीत वर्तमान एवं भविष्य का व्यवहार होता है। ध्यातव्य है कि जैन परम्परा के कुछ लोग काल को स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानते।[2]

पुद्गलों तथा उनके गुणों के परिणाम का कारण काल ही है। बिना काल के जड़ पदार्थों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। नवीनत्व आदि का कारण भी काल ही है। काल किसी इन्द्रिय का विषय नहीं केवल अनुमान गम्य है। जैन में अस्तिकाय द्रव्य न मानकर यह एक अखण्ड विश्वव्यापी द्रव्य माना गया क्योंकि काल एक निरवयवद्रव्य है अतएव आकाश में उसकी अखण्ड व्याप्ति माननें में कोई दोष नहीं।[3] समस्त विश्व में एक ही काल युगपत है।[4] द्रव्यों का परिवर्तन काल से ही संभव है।[5]

बौद्ध दर्शन में काल का स्वरूपः– बौद्ध में काल को प्रज्ञाप्ति मात्र माना गया है। जो केवल व्यवहार के लिए कल्पित है।[6] बौद्ध का क्षणभङ्ग्य काल के स्वरूप को ही बताता है। बुद्ध कहते है कि संसार अनित्य है नाशवान है परिवर्तन शील है परिवर्तना है विश्वसत्ता का स्वाभाविक गुण है जो बिना काल के असंम्भव है। प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्धसम्मत कारणवाद है। काल को वास्तविक मान लेने का प्रयत्न गुणों एवं सम्बन्ध विषयक कठिनाइयों में लगता है। कार्य परिमित अनुभव का एक अनिवार्य पहलू है। ये मूलभूत प्रत्यक्ष में एक दूसरे से पृथक् नहीं रहते किन्तु अवधान के गति वैविध्य के परिणाम स्वरूप एक दूसरे से पृथक अवश्य किए जा सकते है। काल का प्रत्यक्ष केवल विस्तार अविध मात्रात्मक ही नहीं होता काल भूत एवं भविष्य दोनों में अनन्त रूपेण जाता है। काल के अनन्तता की सुपरिचित कल्पना हमारे सामने प्रस्तुत कर देती है।

---

1. देखें – सं० का पृ० २३.
2. कालश्चेत्येक। तत्वार्थसूत्र ५/३८।
3. पंचास्तिकाय–७–६ पर तात्पर्यवृत्ति।
4. षड् दर्शन समुच्चय – गुणरत्न की टीका – पृ० १६३.
5. वर्त्तना – परिमाणक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य–तत्वार्थाधिगमसूत्र ५–२२.
6. देखें–मैनुअल आफ साइकोलाजी–खण्ड ३ भाग २, अध्याय २–५ खण्ड–४, अध्याय–६.

न्यायवैशेषिक दर्शन में काल का स्वरूप-- न्याय के जगत् सम्बनधी विचारों मे हम प्रमेय के बारे विचार करते हैं। सभी प्रमेय जड़ जगत् में ही नहीं हो सकते हैं। इसमे तो केवल भूतों से निर्मितद्रव्य और उनके सम्बन्धी विषय ही रहते है। आत्मा ज्ञान और मन भौतिक नहीं है। काल और दिक भी भौतिक नहीं है लेकिन सब भौतिक द्रव्य काल में ही रहते हैं काल एक नित्य एवं विभु पदार्थ है ये परमाणु के बने नहीं होते। अतः यह सम्पूर्ण जगत् परमाणु का संघात ही है जिसमें काल का प्रमुख योगदान है। इसी तरह ईश्वर एवं जगत् के अस्तित्व का समर्थन होता है।[1]

काल वैशेषिक दर्शन का एक नित्य तथा व्यापक द्रव्य है। यह रूप तथा स्पर्श आदि गुणों से सम्पन्न न होने के कारण हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो पाता है। अत काल की सत्ता अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। दिन रात्रि मास ऋतु आदि के व्यवहारो को भी काल का अनुमापक माना गया है। भूत, भविष्य, वर्तमान का असाधारण कारण काल ही है। किसी कार्य के पूर्व या बाद में भी होने का असाधारण कारण काल ही है। दिक और काल एक दूसरे के पूरक है। इनके बिना भौतिक द्रव्यों की व्याख्या असम्भव हो जाती है। इसी लिए वैशेषिक ने काल को एक द्रव्य माना है। दिक् काल से भिन्न है। इसका कारण यह है कि दिक् का विस्तार होता है। जब कि काल विस्तार हीन है।

वैशेषिक दर्शन में पंच महाभूत प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त इसमें दो प्रकार के अभौतिक एवं विभु प्रव्यों का प्रतिपादन है जो क्रमशः काल और दिक् है। काल का अस्तित्व संसार में पूर्वापरत्व के अनुभव पर आधारित है। काल नित्य एवं अतीन्द्रिय है। काल सर्वव्यापी होने पर भी उपाधि के कारण सीमित रूपों उपलब्ध होता है।[2] जिस प्रकार एक ही आकाश घटसे परिच्छिन्न होने पर घटाकाश होता है उसी प्रकार काल अपने क्षणादि रूप में प्रतीत होता है।

---

1. मुक्तावली, कारिका, न्याय का पृ० ३२२, ३२४.
2. वैशेषिक सूत्र–५, २, २६.

सांख्य व योग दर्शन में काल– प्राय. संसार के विचारको ने विश्व के मूल कारण को देश और काल में रहने वाला माना है। सांख्य की प्रकृति देश और काल की सीमा के बाहर है या यो कहिए, कि देश और काल प्रकृति के ही दूरवर्ती परिणाम है। प्रकृति देश, काल को जन्म देती है वह स्वयं काल के अधीन नहीं हैं। सांख्य की प्रकृति ही साख्य का काल है। प्रकृति के परिणाम या काल के समय परिवर्तन में जितने पदार्थ उत्पन्न होते है। वे सब अव्यक्त रूप से प्रकृति में वर्तमान थे। प्रकृति को अनेक नामों से पुकारा गया है। जिसमें उसे अदृष्य, अव्यक्त, अचेतन, माया एवं जड़ रूप में बताया गया है जो काल से साम्य रखता है। काल के रूप परिवर्तन एवं उसके अपने प्रभाव का वर्णन "वाहयान्तरयोंकरणर्योविशषान्तरम्"[1] अन्तः करण त्रिकाल विषयक होते है। अतः सांख्य, काल को २५ तत्वों के अन्तर्गत ही मानता है। सत्व रजस् और तमस् तीनों ही गुण प्रकृति में आश्रित रहते है एक दूसरे में नहीं इसका प्रभाव परोक्ष रूप से काल पर भी दिखता है। ये परस्पर युग्म या मिथुन भाव में रहते है।[2]

योग में अण्टाङ् योग भी काल के पर्याय है। वह ईश्वरवाद की स्थापना करता है। जियये वह सेश्वर सांख्य के नाम से भी जाना जाता है। योग में मोछ विवेकज्ञान से ही सम्भव है। जो योगाभ्याससे ही सम्भव है। योग विश्व का निर्माता प्रकृति को बताता है। सांख्य की तरह योग भी सत्कार्यवाद को मानता है। यहा ईश्वर विश्व का निमित्त कारण है। जब कि प्रकृति विश्व का उपादान कारण है। अतः पुरुष एवं प्रकृति के संयोग से सृष्टि होती है। यहां ईश्वर को एक विशेष प्रकार का पुरुष कहा गया है।[3] योग को एकेश्वरवादी कहा गया है।[4] चूंकिकाल को अविद्या भी कहा गया है। अतः जड़ चेतन के अभेद निबन्धनक संसार को घटित करने की शक्ति अविद्या में है जो काल ही है।t[5] यर्थार्थ ज्ञान का अभाव ही दुख का मूल है। अतः योग में अविद्या को क्लेश से व्यक्त किया गया है। योग की जड़ प्रकृति परिणाम शीला है अर्थात् एक अवस्था से दूसरे अवस्था को प्राप्त करना ही परिणामी का परिणाम है। सत्व, रज एवं तम् प्रकृति के घटक है। इनके अतिरिक्त प्रकृति नहीं है।

---

1. अन्य विशेषो भेदइति विशेषान्तरम्– सारव्य कारिका पेज १६१.
2. यदा स्त्री पुरुषश्चै.व मिथुन च परस्परम्। तथा गुणाः कालः इव समायान्ति युग्मभावं परस्परम्– गौडपादभाष्य, जाठरवृत्तिः।
3. देखिएं योग–सूत्र (६, २८)
4. देखिएं योग–भाष्य १, २४।
5. तस्यहेतुरऽविद्या – योगसूत्र २, २४.

मीमांसा दर्शन में काल का स्वरूप– भाट्ट मत में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, शक्ति, अभाव, छह पदार्थ (प्रमेय) बताये गये है।[1] इन्हीं के अन्तर्गत ही ग्यारह प्रकार के द्रव्यो की चर्चा की गई है। जिसमे काल भी एक है। जो सबका आधार हो उसे काल कहते हैं। यह विभु एवं एक है। तथापि कला, काष्ठादि के भेद से औपाधिक भिन्नता उसमे पायी जाती है। आठरह निमेषो की एक काष्ठा, तीस काष्ठा एक कला, तीस कलाओं का एक मुहूर्त, पन्द्रह मुहूर्तों का एक अहोरात्र, तीस अरोहरात्र का एक मास और बारह महीनो एक वर्ष (संवत्सर) होता है। जबकि काल का प्रत्यक्ष नहीं होता है।[2]

अद्वैत वेदान्त में काल– अद्वैत वेदान्त का केन्द्रगत सम्प्रत्यय आत्माया ब्रह्म् है। इस प्रकार को ठीक से समझे बिना हम वेदान्त की ज्ञान मीमांसा को सही रूप से नहीं प्राप्त कर सकते और न उसके मोक्ष सिद्धान्त को। अद्वैत अपनी आत्मा या ब्रह्म की धारण सीधे उपनिषदों से लेता है। अद्वैत मत में आत्मा और ब्रह्म में अभेद है। इस अभेद के पक्ष में आचार्य शंकर ने निम्न श्रुतियां उद्धृत की हैं– १. **अहं ब्रह्मास्मि, तत्वमसि, अयमात्मा ब्रह्मा,**[3] ।

अद्वैत के अनुसार केवल ब्रह्म या आत्मा तात्विक पदार्थ है जो कि इनके वेदान्त का कालचक्र तय करते हैं। श्रुति यह भी कहती है कि एक को जानने से सब कुछ जान लिया जाता है यह तभी सम्भव है जब एक मात्र ब्रह्म ही जो जगत् का कारण है सत् पदार्थ हो। कहीं–कहीं ब्रह्म को अपरोक्ष या साक्षात्कार रूप कहा गया है।[4]

खण्डन– काल की ज्ञापक योगपद्यादि विषयक प्रतीतियाँ सभी कालों में समान रूप से है अतः काल एक ही है। काल में अनेकत्व का ज्ञापक कोई प्रमाण नहीं हैं। काल में एकत्व की सिद्धि से प्रथकत्व की सिद्धि समझनी चाहिए। काल का प्रत्यक्ष नहीं होता इनकी सत्ता में अनुमान को प्रमाण रूप से उपस्थित करने की आवश्यकता

---

1. त० सि० र० म० भ० चिन्नस्वामिशास्त्रिसम्पादित, पृ० ३८.
2. गणनापरपर्यायसंख्यानवाचित्वेन स्मृतात कालयतेः धातोः भनि कृो काल शब्द व्युत्पत्तिः। देखे न्याय सुधा पृ० ६७०–७१.
3. देखे –बृह० उप० १/४/१०, छांदोग्य उपनिषद् ६/८/७/, बृ० उ० २/५/६.
4. यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मः – बृहदारण्यक उपनिषद– ३/४/१.

होती है। किसी की सत्ता को अनुमान के द्वारा स्थापित करना होता है वहां थोड़ा कौशल का अवलम्बन आवश्यक होता है क्योंकि सीधे विवादस्पद वस्तु को पक्ष बना कर अनुमान को उपस्थिति नहीं किया जा सकता क्योंकि पक्ष को अपने स्वरूप से युक्त होकर पहले से ही सिद्ध होना चाहिए। काल वस्तुतः एक ही है। काल के द्वारा ही नये एवं पुराने का व्यवहार, ज्येष्ठ, कनिष्ठ, का व्यवहार, अर्थात् (जो) कालिक परत्व एवं कालिक अपरत्व का भी व्यवहार माना जाता है। "**कारणे कालः**"[1] (७–२–२५) सूत्र के अनुसार यौगपद्यादि विषयक प्रतीतियों के असाधारण कारण का नाम ही काल है। चूंकि ये प्रतीतियाँ सभी स्थान पर होती है अतः यह समझना चाहिए कि काल व्यापक है।

एक कालिकत्व और विभिन्न कालिकत्व इन दोनों की प्रतीतियां भी काल की ज्ञापक हेतु है चूंकि काल का प्रव्यक्ष नहीं होता है लेकिन द्रव्यादि विषयों में परत्व एवं अपरत्व की प्रतीतियों होती है। उनके कारण वे द्रव्य नहीं है क्योंकि केवल द्रव्यादि आदि विषयक प्रतीतियों से परत्वादि विषयक प्रतीति विलक्षण आकार की समझी जाती है। निमित्त के बिना कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है इन विलक्षण प्रतीतियों के कारण ही काल है। यह प्रतीति अपने सहकरी कारण काल से उत्पन्न होती है।[2] बहुत सी वस्तुओं के उत्पादन आदि व्यवहारों के एक ज्ञान का सहकारिकारणीभूत काल से युगपत् प्रत्यय होता है। बालक और बृद्ध के शरीर की विभिन्न अवस्थाओं से शरीर भेद का अनुमान होता है। इस विभिन्न शरीरता के कारण रूप से काल का अनुमान है। उन शरीरों में काल के विशिष्टता की प्रतीति होती है।

विभिन्नता से एक ही काल में नानात्व का व्यवहार होता है जैसा एक मणि स्फटिक आदि नीलादि उपाधियों से कभी नील है और कभी पीत होती है वैसे ही उपाधियों के भेद से एक ही काल कभी आरम्भ काल की क्रिया, कभी अभिव्यक्ति काल,

---

1. प्रशस्तपाद भाष्य का पृष्ठ १६०.
2. प्रशस्तपाद भाष्य का पृष्ठ १६४.

कभी निरोध काल, इत्यादि नाना रूपों से व्यवह्नत होता हैं। किन्तु काल और क्रिया का सम्बन्ध वास्तविक है। संख्या, परिणाम, पृथकत्व संयोग और विभाग ये ही पाँच गुण काल में बने रहते है। ये पांच गुण काल के उत्पत्तिशील पदार्थों का निमित्तकारण एवं साधर्म्य भी है। काल का कार्य सर्जन काल में पुरुष एवं प्रकृति को एक साथ रखना और प्रलय में अलग रखना हैं। इन्द्रियगम्य वस्तुओं का काल ही कारण है इस प्रकार काल के सत्ता मूलक संयोग और वियोग की क्रियाओं का उल्लेख हैं।[1] आरम्भ में ये चार तत्व होते है– ब्रह्म, प्रधान, पुरुष और काल ये सब त्रिकालिक विष्णु से भिन्न हैं।[2] प्रधान पुरुष व्यक्त और काल का मूल कारण विष्णु की परम अवस्था को माना गया है यहां हम विष्णु ब्रह्म को पाते हैं।[3]

---

1. विष्णोः स्वरूपात्परतो हि तेन्येरूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र।
   तस्यैव तेन्येन धृते वियुक्ते रूपादि येत्तद् द्विज काल संज्ञाम् विषणु पुराण–१/२/१८.
2. देखें विष्णुपुराण – १/२/२३.
3. ब्रह्म को स्रष्टा भी माना है हरि, पाता (रक्षक) और माहेश्वर–संहर्ता के रूप में माने गये है।
   आपोनारा इतिप्रोक्ता, आपोवै नरसूनवः।
   अयनंतस्यताः पूर्वम् तेन् नारायणः स्मृतः।। मनुस्मृति– १/१०.

पञ्चम् – अध्याय
'जीव' परिच्छे

अजड़द्रव्य–

'अजड़द्रव्य' स्वयंप्रकाश है।[1] स्वयंप्रकाश का तात्पर्य है– प्रकाशकान्तर की अपेक्षा न रखकर स्वतः प्रकाशित होना। इस प्रकार, जो द्रव्य किसी दूसरे के द्वारा प्रकाशित न होकर स्वयं प्रकाशित होते हैं, वे अजड़द्रव्य कहे जाते हैं। अजड़द्रव्य दो प्रकार का है– १. प्रत्यक् तथा २. पराक्। प्रत्थक्[2] द्रव्य उसे कहते हैं जो अपने लिए तथा स्वयं प्रकाशित होते हैं (आत्मानं प्रति अञ्चति इति प्रत्यक्)। जीव तथा ईश्वर प्रत्यक् द्रव्य है। पराक् द्रव्य स्वयं प्रकाश तो होते हैं, किन्तु वे अपने लिए प्रकाशित नहीं होते हैं।[3] (परस्मै अञ्चति इति पराक्) नित्यविभूति तथा धर्मभूतज्ञान ये पराक् द्रव्य है।

प्रत्यक् द्रव्य–

जीव तथा ईश्वर प्रत्यक् द्रव्य है।

जीव (न्यायसिद्धाञ्जन के अनुसार)– जो अल्पपरिणाम वाला हो तथा ज्ञाता हो वह जीव है। ईश्वर में अतिव्याप्ति दोष को दूर करने के लिये अल्पपरिमाण वाला कहा गया है तथा जड़ परमाणु आदि में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये ज्ञाता रूप में कहा गया है।[4] जो शेष अर्थात् दूसरे के लिये होता हुआ ज्ञाता हो वह जीव है। जीव ईश्वर के लिए होता है। तथा ज्ञाता है। इसमें अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये शेषत्व् का निवेष किया गया है। तथा अचेतन पदार्थ में अतिव्यप्ति को दूर करने के लिये ज्ञातृत्व का निवेश हुआ है। प्रकृव्यादि पदार्थ ईश्वर का शेष होने पर भी ज्ञाता वही है अतः अतिव्यप्ति दूर होती है कारण यह है कि शेष और शेषी में भेद होने पर ही शेष शेषी भाव संगत होता है।

---

1. अजडत्वं नाम स्वयंप्रकाशत्वम् यतीन्द्रमतदीपिका, पृ० १०४.
2. प्रत्यक्त्वं नाम स्वस्यैस्वयमेव भासमानत्वम् वही, पृ० १५६.
3. तन्तु स्वयंप्रकाशत्वे सति परस्मा एवं भासमानत्वम्, वही, पृ० १०४.
4. अल्पपरिमाण सत्त्वे सति ज्ञातृत्वम्, शेषत्वेसति ज्ञातृत्वमित्यादितल्लक्षणम्।
   – न्यायसिद्धाञ्जन का पृष्ठ–२२६.

बौद्ध एवं अद्वैत वेदान्ती लोक प्रसिद्ध को ज्ञान की आत्मा मानते है इसके खण्डन मे यह कहा गया है कि ज्ञान रूपी धर्म एवं ज्ञान का आश्रय अहमर्थ रूपीधर्मी भिन्न–२ पदार्थ हैं परन्तु ज्ञानात्मवादी ज्ञान भिन्न ज्ञाता अहमर्थ की कल्पना नहीं करते है क्योकि यह प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है। बौद्ध के ज्ञानात्मवाद को वेदान्ती ने वैदिक रूप देकर अपनाया है अतएव अद्वैत वेदान्ती बौद्ध गान्धि वेदान्ती कहे गये है। अद्वैती स्थिर ज्ञान को आत्मा मानते है जबकि बौद्ध क्षणिक ज्ञान को आत्मा मानते है अद्वैती यह मानते है कि ज्ञान विषय और आश्रय से शून्य है वह स्थिर है तथा आत्मा है। आत्मा, प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण ऐसे तीन रूपों से युक्त ज्ञान प्रमा एवं प्रमेय है ज्ञान, ज्ञानान्तर का विषय है। अतः उसका प्रमेयत्व मान्य है।[1] अणु से जीवात्मा का अर्थ बोधित होता है।[2]

जीव का स्वरूप (वेंकटनाथ के अनुसार)–

जीव स्वयं ही अपने लिए प्रकाशित होता है, अतः इसे प्रत्यक् द्रव्य कहते हैं। प्रत्यक्त्व, चेतनत्व, आत्मेत्व और कर्तृत्वादि जीव के साधारण लक्षण हैं। स्वयं प्रकाशक होना ही प्रत्यकत्व है। ज्ञान का आश्रय होना चेतनत्व है। शरीर का प्रति सम्बन्धी होना ही आत्मत्व है तथा संकल्प और ज्ञान का आश्रय होना कर्तृत्व है। यह जीव का सामान्य लक्षण है। अणुपरिमाणक होते हुए भी चेतन होना, परमात्मा का शेष होते हुए चेतन होना, ईश्वर का आधेय विधेय होना, पराधीन कर्त्ता होना और परमात्मा का परतंत्र होना आदि जीव के विशेष लक्षण हैं।

आचार्य ने पहले जीव की शरीर से भिन्नता प्रतिपादन करने की कोशिश करते है और इस सम्बन्ध में सुविख्यात चार्वाक, के तर्कों का खण्डन करते है जिनके अनुसार जीव को शरीर से भिन्न नहीं माना जाता है। वेंकटनाथ के अनुसार तर्कों का मुख्य बल हमारे उस अनुभव के साक्षी पर निर्भर है जिसमें हमें हमारा सारा शरीर और उसके अंग 'मैं' के अधीन है ऐसा अनुभव होता है जैसे जब हम कहते हैं मेरा शरीर, मेरा

---

1. न्यायसिद्धाञ्जन का पृ० २६२.
2. विष्णुपुराण – १/२/३१.

सर इत्यादि। यद्यपि हमारे शरीर के अनेक अंग है उनमें से कुछ से नष्ट भी हो जाये तो भी इन परिवर्तनों के होते हुये वे एक नित्य इकाई, आत्मा के अधीन माने जाते हैं जो सभी काल में स्थाई रहता है। इसके अतिरिक्त हृदय और मस्तिष्क में संस्कारों का अनवरत संग्रह होता है ऐसा संघात प्रत्येक क्षण में, घटक रूप संस्कारों के क्षय और संग्रह के कारण भिन्न होगा। इसीलिए ऐसे परिवर्तनशील तत्व द्वारा स्मृति को समझना असम्भव हो जायेगा।[1]

व्यक्ति का एकीकृत आचरण चेतना के व्यक्तिगत इकाई की संख्या के सहयोग से है ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि कि ऐसे प्रसंग में प्रत्येक का विशिष्ट हेतु होना चाहिए, जो संघर्ष उत्पन्न करेगा, यदि हेतु नहीं है तो वे आपस में क्यों सहयोग दे। यदि ऐसा माना जाता है कि ये व्यक्तिगत चेतन घटक तत्व, स्वभाव से ही ऐसे हैं कि बिना संघर्ष उत्पन्न किए एक दूसरे का अर्थ साधन करते हो तो अधिक सामान्य सम्भात्यता यह होगी कि उसमें स्वभाविक राग और द्वेष न होने से वे कार्य न करेंगे और इसके परिणाम स्वरूप पूर्ण व्यक्ति के सारे कार्य बन्द हो जायेगें। पुनः जब कभी पशु जन्मता है तो ऐसा देखा जाता है कि उसमें कर्म के प्रति कुछ सहज प्रवृत्ति होती है जैसे, स्तनपान करना जो उस दिशा में राग सिद्ध करता है और पूर्व जन्म के ऐसे अनुभव की मान्यता स्थापित करती है, और इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मा देह और उसके अंगों से भिक्षु और विविक्त है। पूर्ण जन्म के अनुभव और संस्कार बौद्विक शक्ति की विभिन्नता, अभिरूचि और प्रवत्ति को समझाते है।[2] यह भी नहीं माना जा सकता कि शरीर के भिन्न अंगों के चेतना की इकाइयां इतनी सूक्ष्य और अव्यक्त है कि वे अपने व्यक्तिगत सामर्थ्य से व्यक्त्त नहीं हो सकती है। तो भी वे पूर्ण व्यक्ति की चेतना को अभिव्यक्त करने में मिलकर सहयोग दे सकती है क्योंकि छोटे से छोटे अुण जीव में भी कर्म प्रवृत्ति पायी जाती है। इसके अतिरिक्त यदि शरीर के भिन्न अंगों से उद्भूत चेतन इकाइयाँ केवल अव्यक्त ही मानी जाती है तो यह मानना अनर्थक होगा की

---

1. सार्वबोधैश्चे हृत्कोशे संस्काराधानमित्यापि, न दृष्टं न च [illegible] [illegible] लिङ्गंकिमपि दृश्यते। न च सस्कार कोशस्ते सघातात्मा प्रतिक्षण [illegible] [illegible] भिन्नमतीत्र को भवेत्। देखे– सर्वार्थ–सिद्धि–पृष्ठ–१५३.
2. एव मनुष्यादि–शरीर–प्राप्ति दशायामदृष्ट–विशेषात्तपूर्वजन्मानुभव–सस्कार भेदैरेवमभिरूचि–भेदास्च युज्यन्ते। –सर्वार्थ सिद्धि पृ० १५३, १५४.

वे सगत रूप होने पर ही सचमुच चेतना उत्पन्न कर सकेगी। पुनः चेतना एक ऐसा गुण है जिसे किसी आधार पर की आवश्यकता होती है जिसमें वह रह सकें, किन्तु जिस मत में चेतना को भौतिक माना जाता है वहां द्रव्य और गुण का मूल भेद नहीं देखा जाता है।[1] यह भी नही माना जा सकता है कि चैतन्य कुछ शरीरिक तत्वों का विशिष्ट विकार मात्र है क्योंकि यह तो केवल एक मत ही है जो किसी भी अनुभव से प्रमाणित नहीं हो सकता। आत्मा को देह से संकीर्ण करता सामान्य भ्रम कई प्रकार से समझया जा सकता है। आक्षेप करने वाला यह कह सकता है कि यदि **'मेरा शरीर मेरा हाथ'** इन विचारों से यह तर्क किया जाय की आत्मा शरीर से भिन्न है तो **'मैं स्वयं'** इस अभिव्यक्ति से यह तर्क भी किया जा सकता है कि आत्मा की कोई और आत्मा है। इसपर आचार्य का उत्तर है कि 'मेरा हाथ मेरा सर' ये कथन उसी प्रकार के है जैसा कि **"मेरा घर"** और मेरी लकड़ी जहां दो वस्तुओं के भेद का स्पशट ग्रहण होता है मैं स्वयं ऐसस कथन एक भाषा प्रयोग हैं जिसमें षष्ठी का प्रयोग से कल्पना से ही समझाया जा सकता है। यह द्रष्टा के चित्त में उस समय कहीं दो वस्तुओं के बीच काल्पनिक भेद प्रकट करता है जिस पर यह उपाधि ग्रस्त दृष्टिकोण से बल देता है। वेंकटनाथ मानते है कि चार्वाक और भी तर्क कर सकते है। जिसका उपुयक्त उत्तर दिया जा सकता हैं।[2] तर्क और प्रतितर्को की परम्परा देने के बजाय अतिफलदायक मार्ग शास्त्र प्रमाण को स्वीकारना होगा जो अपने स्वतः प्रामाण्य में निश्चित रूप से अर्थापत्ति द्वारा शरीर से भिन्न नित्य आत्मा की सत्ता का प्रतिपादन करता है शास्त्र की प्रमाणता केवल कल्पित तर्क द्वारा खण्डित नहीं हो सकती है।

वैष्णव आचार्यों के मत में जीव का स्वरूपः–

१. रामानुज के अनुसार जीवः– वह देह इन्द्रिया मन, प्राण और बुद्धि से विलक्षण, अनन्त आनन्द रूप नित्य अणु, अव्यक्त, अचिन्तय, निरवयण, निर्विकार और ज्ञानाश्रय है ज्ञान के बिना स्वयमेव प्रकाशित होने से वह अजड़ है। सुषुक्ति के अनन्तर

---

1. ननु चैतन्यमिति न कश्चिद् गुणः यस्याधारोपेक्षः किन्तु या सौ युष्माक चैतन्य सामग्री सैव चैतन्य पदार्थः स्यात्। – सर्वार्थ सिद्धि पृ० १५४
2. अनयाधिष्ठित स्वयं–वाहक–यत्रन्यायात् विचित्र भूतपरिणति–विशेष सम्भवोऽयं देहयंत्रः देखें–सर्वार्थ सिद्धि पृ० १५७.

जागने पर सुखपूर्वक निद्रित होने का लौकिक अनुभव जीव को आनन्द रूप सिद्ध करता है। हत्प्रदेश में निवास करने के कारण वह अणु है। मुण्डक उपनिषद ओर श्वेताश्वतर के आधार पर समग्र वैष्णव सम्प्रदाय जीव को अणु मानते है।[1] जीव ईश्वर के द्वारा नियमित किया जाता है जीव में एक विशेष गुण 'शेषत्व' विद्यमान है, अर्थात् वह अपने कार्य कलापों के लिए ईश्वर पर सर्वतोभावेन अवलम्बित है ईश्वरानुग्रह के बिना अपने कर्तव्यों का सुचारू ढंग से सम्पादन नही कर राकता है। जीव की विशिष्टाद्वैत वादी कल्पानाएं अद्वैती लोगों से अनेक बातों में नितान्त भिन्न ठहरती है। जहां अद्वैती आत्मा को विभु बतलाते है वहां विशिष्टाद्वैत उसे अणु मानते है। अद्वैत मत में जीव स्वभावतः एक है परन्तु देहादि उपाधियों से भिन्न है। रामानुज के मत में जीव अनेक है और वे एक दूसरे से नितान्त पृथक है। ब्रह्म से जीव नितान्त भिन्न है, जीव दुखत्रय से नितरां पीड़ित है ऐसी दशा में ब्रह्म के साथ उसकी अभिन्नता कैरो मानी जाय। ब्रह्म जगत् का कारण तथा करूणाधिप (जीव) का अधिपति है जो आत्मा के भीतर संचरण करता है वही अर्न्तयामी आप्त तुम्हारी आत्मा है। "दोनों अज है– एक ईश है, दूसरा अनीशः एकप्राज्ञ है दूसरा अज्ञ" दोनों अज है– आदि भेद मूलक श्रुतियाँ जीव को ब्रह्म से नितान्त प्रथक एवं स्वतंत्र बतलाती है।[2]

जीव तथा ईश्वर का सम्बन्ध रामानुजा मत में अभेद सूचक एकता नहीं है। जीव अल्पज्ञ तथा अनन्त है और ईश्वर सर्वज्ञ है अतः एक ही दशा में अभेद कैसे? इसके उत्तर में रामानुज कहते हैं कि ईश्वर प्रत्येक जीव में व्याप्त है और अन्दर से उसका नियमन करता हुआ अर्न्तयामी है अतः अभेदसिद्ध है। जीव ईश्वर के इस सम्बन्ध में निर्णय से यह स्पष्ट है कि रामानुज के अनुसार प्रपत्ति (शरणागति) ही जीव की आध्यात्मिक उन्नति का सर्वश्रेष्ठ साधन् है। इस प्रंसङ्ग में तत् त्वमासि वाक्य की रामानुजीय व्याख्या भी ध्यान देने योग्य है। 'त्वं' पदार्थ साधारणतया जीव का का प्रतीक माना जाता है पर विशिष्टाद्वैत मत में 'त्वं' का अर्थ– अचिद् विशिष्ट जीव शरीरी ब्रह्म।

---

1. जीव का अणुत्व– बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।। –श्वेताश्वतर उप० ५/६.
2. भेद मूलक श्रुतियाँ
   क. "स कारण करणाधिराधिपः" – श्वेताश्वतर उप० ६/६.
   ख. "य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तार्यामृतः।" ब्रहदारण्यक उप० ३/६/३.
   ग. "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ"– श्वेताश्वतर उप० १/६.

तत् पद से अभिप्राय सर्वज्ञ सत्यसंकल्प जगत कारण ईश्वर से है। अतः एकता विशिष्ट ईश्वर ही है (निधानयोरैक्यम्)। इसी कारण से रामानुज के सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत संज्ञा दी गई है।[1]

(ख) माध्व दर्शन में जीव का स्वरूप— अज्ञान, मोह, दुख भयादि, दोषों से मुक्त तथा संसारशील होते है। ये प्रधानतया तीन प्रकार के होते हैं—मुक्तियोग्य नित्यससारी, और तमोयोग्य। मुक्तिप्राप्त करने के अधिकारी जीव देव ऋषि, पितृ चक्रवर्ती तथा उत्तम मनुष्य रूप से पांच प्रकार से होते है। नित्यसंसारी जीव सदा सुख दुःख के साथ मिश्रित रहता है और स्वीयकर्मानुसार ऊँच नीच गति को प्राप्त कर स्वर्ग, नरक भूलोक में विचरण करता है इस कोटि के जीव 'माध्यम मनुष्य कहे जाते हैं।[2] वे कभी मुक्ति नहीं पाते। तमोयोग्य जीव चार प्रकार के होते है। जिसमें दैत्य, राक्षस पिशाचो के साथ अधम्मनुष्यों की गणना होती है। संसार में प्रत्येक जीव अपना व्यक्तित्व प्रथक बनाये रहता है वह अन्य जीवों से भिन्न है तथा सर्वज्ञ परमात्मा से सुतरां भिन्न है। संसार दशा में ही जीवों में तारतम्य नहीं है, प्रत्युत मुक्तावस्था में भी वह भिन्नता विद्यमान रहती है।[3] मुक्त पुरुष आनन्द का अनुभव अवश्य करता है परन्तु माध्व मत में आनन्दानुभूति में भी परस्पर तारतम्य होता है।[4] मुक्त जीवों के ज्ञानादि गुणों के समान उसके आनन्द में भी भेद है। यह सिद्धान्त माध्व मत की विशेषता है। मुक्तावस्था में जीव परमसाध्य को प्राप्त कर लेता है।[5] भगवान् के साथ चैतन्यांश को लेकर ही जीव की एकता प्रतिपादित की जाती है। समस्तगुणों पर दृष्टिपति करने से दोनों का पृथकत्व भी प्रमाण सिद्ध है।[6]

---

1. "तत्पदं हि सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं जगत्करणं ब्रह्म परामृशति। तदैक्षत बहुस्याम् छान्दोग्योपनिषद ६/२/३ इत्यादिषु तस्यैव प्रकृतत्वात्। सामानाधिकरत्वंपद् च अचितविशिष्टजीवशरीरकः ब्रह्म प्रतिपादयति। प्रकार द्वयावस्थितैकवस्तुपरत्वात् सामानाधिकरण्यम्। देखें—श्रीभाष्य पृ० ८०.
2. मध्यमा मानुषा ये तु सृतियोग्या. सदैव हि। देखें (भागवत् तात्पर्य निर्णय)।
3. 'मानुषादि विरिञ्चान्तं तारतम्यं विमुक्तिगम्' देखें—(ईशावास्यभाष्य)।
4. मुक्ताः प्राप्य परं विष्णुं तद्देहं संश्रिता अपि। तारतम्येव तिष्ठन्ति गुणैरान्दपूर्वकैः। देखें गीतामाध्य भाष्ये
   दुःखाभाव परानन्दो लिङ्गभेद समागताः।
   तथापि परमानन्दो ज्ञानभेदात्तु भिद्यते।। (म० सिद्धान्त सार पृ० ३२)
5. निरंजनः परमं साम्यमुपैति— देखें मुण्डक उप० ३/१/३.
6. जीवस्य तादृशत्वं च चित्त्वमांत्र न चापरम्।
   तावन्मात्रेण चाभासो रूपमेषा चिदात्मनाम।। देखें—मध्व सिद्धान्त सार पृ० ३०.

प्रकृति साक्षात् या परम्परया विश्व का उपादान कारण है या जड़ रूपानित्या, व्याप्ता, सर्वजीवलिंड्ग, शरीररूपा है। रमा इसकी अभिभामिनी देवता है। इस प्रकार द्वैतवादी माध्वों के मत में इस जगत के जन्मादि व्यापार में परमात्मा केवल निमित्त कारण है। और प्रकृति उपादान कारण अर्थात् गुणत्रय प्रसिद्ध है।

निम्बार्क मत में जीव का स्वरूपः– निम्वार्क के मतानुसार जीव, चित् या ज्ञानस्वरूप है, उसका स्वरूप ज्ञानमय है इन्द्रियों की सहायता के बिना इन्द्रिय निरपेक्ष जीव विषय का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है। जीव के विषय में **"प्रज्ञानधर्मः स्वयंज्योतिः तथा ज्ञानमयः"** आदि शब्दों का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया। जीव ज्ञान का आश्रय और ज्ञाता भी है। अतः वह ज्ञान स्वरूप और ज्ञानाश्रय दोनों एक ही काल में उसी प्रकार है जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय है तथा प्रकाश का आश्रय भी है।[1] जीव का स्वरूप भूत ज्ञान तथा गुणभूतज्ञान यद्यपि ज्ञानाकारतया अभिन्न है फिर भी इन दोनों के धर्मधर्मिभाव से भिन्नता है। जीव कर्ता है प्रत्येक दशा में जीव कर्ता ही रहता है। संसार दशा में जीव का कर्ता होना अनुभव गम्य है परन्तु मुक्त हो जाने पर भी जीव में कर्तृत्व का होना श्रुतिपतिपादित है। श्रुंतियाँ मुक्तावस्था में ही उपासना करने की प्रतिपादन करती हैं और मुक्त आत्मा को कर्त्ता बतलाती हैं।[2] जीव इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करता है। इसलिए वह भोक्ता भी है। जीव कर्ता तथा भोक्ता दोनों होता है।

जीव परिमाण में अणु तथा संख्या में नाना है वह **हरि** का **अंश** रूप है। अन्श शब्द का अर्थ अवयव–विभाग नहीं हैं, **"प्रत्युत कौस्तुभ"** के अनुसार अंश का अर्थ शक्ति रूप है।[3] ईश्वर शक्तिमान है अतः वह अंशी है जीव उसका शक्ति रूप है अतः वह अंश रूप है। अघटन घटनापटीयसी गुणमयी प्रकृति रूपिणी माया से आवृत होने के कारण जीव का धर्मभूतज्ञान संकुचित हो जाता है। भगवान के प्रसाद से ही जीव के सच्चे रूवरूप का ज्ञान हो सकता है।[4] मुमुक्ष तथा बुभुक्ष भेद से वद्ध जीव दो प्रकार का होता है। क्लेशों से पीड़ित होने पर विरक्त तथा मुक्ति चाहने वाला जीव मुमुक्ष कहलाता

---

1. ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनंशरीरसंयोगवियोगयोग्यम।
   अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहु.। (देखें– **दशश्लोकी १**)
2. कर्ता शास्त्रार्थत्वात् – (ब्रह्मसूत्र–२/३/३२) पर **पारिजात सौरभ देखिए।**
3. अंशो हि शक्तिरूपी ग्राह्याः – (२/३/४२ पर **कौस्तुम**) अंश का अर्थ
4. अनादिमायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात् देखें–**दशश्लोकी–२.**

है परन्तु विषय आनन्द का इच्छुक जीव बुभुक्ष कहा जाता है। वद्ध जीवों के दो भेदों के समान मुक्त जीव भी दो प्रकार का होता है। १. (नित्यमुक्त तथा), २. मुक्त– जो जीव गर्भ, जन्म, जरा मरण आदि प्राकृत दुखों के अनुभव से शून्य है वह नित्य भगवान के स्वरूप का दर्शन करता हुआ भजनानन्द में मरत रहता है। वह नित्यमुक्त माना जाता है। भगवान के पार्षद, विश्वक्सेन, तथा गरुड़ आदि इसी श्रेणी के जीव है जो जीव अविद्या से उत्पन्न दुखों के अनुभव से रहित होते हैं वह केवल मुक्त कहलाते है। इनकी अनेक श्रेणियाँ है। कुछ निरतिशयभगवान को प्राप्त करते है। कुछ अपने आत्मा ज्ञान से स्वरूपानन्द की प्राप्ति करते हैं।

बल्लभ दर्शन में जीव का स्वरूप– भगवान को जब रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब वे अपने आनन्दादि गुण के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीव रूप ग्रहण कर लेते है। इस व्यापार में क्रीड़ा की इच्छा ही प्रधान कारण है। माया का सम्बन्ध तनिक भी नहीं रहता। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता उत्पन्न होती है, और यश के तिरोधान से हीनता। श्री के तिरोधान से वह समरत विपत्तियों का आस्पद होता है। ज्ञान के तिरोधान से देहादिको में आत्मबुद्धि रखता है तथा आनन्द के तिरोधान से दुख प्राप्त करता है।[1] ब्रह्म से जीव का उदय अग्निस्फुलिङ्वत् है। यह व्युच्चरण उत्पत्ति नहीं है। अतः व्युच्चरण होने पर भी जीव की नित्यता का ह्रास नहीं होता है। बल्लभव मत में जीव ज्ञाता, ज्ञान स्वरूप तथा अणुरूप है। भगवान के अविकृत सदंश से जड़ का निंर्गमन और अविकृत चिदंश से जीव का निर्गमन होता है। जड़ के निर्गमन काल में चिदंश तथा आनन्दांश दोनों का तिरोधान रहता है परन्तु जीव के निर्गमन काल में केवल आनन्दांश का ही तिरोधाव रहता है।[2] जीव नित्य है। जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियां छिटक कर निकलती हैं उसी प्रकार जीव ईश्वर से निकलता है इस निकलने से

---

1. ज्ञान तथा आनन्द तिरोधान– 'पराभिध्यानात्तु' ब्रह्म सू० ३/२/५ पर अणु भाष्य।
2. देखें – (प्रमेय रत्नार्णव, पृ० ७–६)।

(व्युच्चरण से) जीव की नित्यता में किसी प्रकार की कमी नहीं होती है। वह उसी प्रकार नित्य बना रहता है। अग्नि स्फुलिङ् का दृष्टान्त जीव के निर्गमन के लिए श्रुति तथा भागवत् पुराण दोनों में उपलब्ध होता है। बल्लभाचार्य परिणामवाद को मानते हैं। इनकी दृष्टि से जीव तथा जगत् दोनों परब्रह्म के परिणाम रूप हैं, परन्तु परिणाम होने से ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नही होता है। ब्रह्म के अविकृत सत अंश से भौतिक पदार्थों का उदय होता है ओर अवकृित 'चित्' अंश से जीवों का आविर्भाव होता है। जीव के उदय काल में ब्रह्म में केवल आनन्द अंश ही तिरोहित रहता है अन्य दो अंश विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार ब्रह्म से सृष्टिप्रक्रिया सम्पन्न होती है।

जीव अनेक प्रकार का होता है १. शुद्ध, २. मुक्त, ३. संसारी। स्फुलिङ्गवत् व्युच्चरण के समय आंनन्दांश का तिरोधान होने से अविद्या से संबंध होने के कारण पूर्ण जीव शुद्ध कहलाता है। अविद्या के साथ सम्बन्ध रखने वाला जीव संसारी कहलाता है। यह दो प्रकार के होते हैं– दैव और आसुर। दैव जीव भी मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय भेद से भिन्न–२ होता है। दैव जीव भी मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय भेद से भिन्न–भिन्न होता है। मुक्त जीवों में भी कतिपय जीवन्मुक्त होते हैं और कतिपय मुक्त। जीव सच्चिदानन्द भगवान् से नितान्त अभिन्न है। संसारी दशा में जब पुष्टिंमार्ग के सेवन से भगवान् का नैसर्गिक अनुग्रह जीवों पर होता है तब उसमें तिरोहित आनन्द के अंशों का पुनः प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः मुक्त अवस्था में जीव आनन्द अंशों को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानन्द बन जाता है। और भगवान से अभेद प्राप्त कर लेता है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य इसी अद्वैत सत्ता को प्रतिपादित करता है। जिस प्रकार सुर्वण के कटक कुण्डलादि अंश सुवर्ण से अभिन्न है, उसी प्रकार चिदंश जीव भी ब्रह्म से अभिन्न है।

अन्य दाशनिक सम्प्रदाय में जीव् का स्वरूप

चार्वाक दर्शन के अनुसार जीव का स्वरूप– पृथिवी आदि चारों भूतों के सम्मिश्रण से शरीर की सृष्टि होती है और इस शरीर के अतिरिक्त आत्मा नामक अन्य कोई पदार्थ है ही नहीं। चैतन्य आत्मा का धर्म है पर इस चैतन्य का सम्बन्ध शरीर से होने के कारण शरीर को ही आत्मा मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। चैतन्य तथा शरीर का सम्बन्ध तीन प्रकार से पुष्ट किया जा सकता है–

(क) **नैयायिकपद्धति से**– शरीर रहने पर ही चैतन्य का उदय होता है और शरीर का नाश हो जाने पर चैतन्य का भी नाश सिद्ध है। अन्नपान के उपभोग से शरीर में प्रकृष्ट चेतना का उदय होता है तथा उसके न होने से चेतना को ह्रास हो जाता है। अतः चैतन्य रुपीलक्षण शरीर का सिद्ध है आत्मा का नहीं।

(ख) **अनुभव से**– मैं स्थूल हूँ मैं कृश हूँ मैं श्रांत हूँ मैं प्रसन्न हूँ आदि अनुभवों का ज्ञान हमें जगत में पद–पद पर प्राप्त होता है। यहां पर स्थूलता कृशता श्रान्ति तथा प्रसन्नता का सम्बन्ध चैतन्य के साथ शरीर में निष्पन्न है।

(ग) **बैद्यक शास्त्र के प्रमाण से**– चैतन्य का भौतिक पदार्थ के साथ सम्बन्ध सत्य प्रतीत होता है।[1] ब्राह्मी धृत के उपयोग से संस्कृत कुमार शरीर में प्रज्ञा की पटुता उत्पन्न होती है। "**चैतन्यविशिष्टःकायःपुरुषः**" यह बृहस्पति का सूत्र युक्ति–युक्त है यही है चार्वाकों का सुप्रसिद्ध भूतचैतन्यवाद। भूतों में चैतन्य की उत्पत्ति के प्रकरण में चार्वाक लोकसिद्ध अनुभव के आधार पर बल देते है। किन्हीं पदार्थों को एक विशेष प्रकार या मात्रा में सम्मिलित करने से अवस्था विशेष में नये धर्म का उदय स्वतः हो जाता है।[2] भूत की एक विशेष ढङ्ग या परिणाम में समष्टि होने पर चैतन्य की उत्पत्ति स्वयं सिद्ध हो जाती है। इसी प्रकार चैतन्य के उदय की घटना भी अनुभव की आधार शिला पर समझायी जा सकती है।[3] अतः चैतन्य भी उत्पत्ति ओर विनाश के

---

1. देखे– **न्यायमञ्जरी** (चौखम्भा संस्करण) द्वितीय भाग पृष्ठ १३.
2. द्रण्टव्य "किष्वादिभ्योंमदशक्तिवद्विज्ञानम्" (ध० सू०) 'किण्व' एक प्रकार का बीज होता है इसका प्रयोग शराब बनाने के काम में आता है।
3. जड़ भूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
   ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम् (सं० सि० सं० २/७)

साधन तथा आधार होने के कारण इस शरीर को ही चार्वाक लोग आत्मा कहते हैं। चार्वाकों में आत्म तत्व के विवेक के विषय में अनेक मत थे। सदानन्द ने इन मतों का उल्लेख किया है। कुछ चार्वाक लोग एक देशीय श्रुति तथा अनुभव के आधार पर **इन्द्रियों** को, कुछ लोग **प्राण** को, और अन्य लोग **मन** को आत्मा मानते हैं।[1]

२. जैन दर्शन में जीवः— जैनी आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं। आत्मा चेतन स्वभाव है वह सर्वज्ञ कर्त्ता एवं भोक्ता है। आत्मा की सत्ता अवश्य स्वीकार्य है। यह साक्षात् प्रत्यक्ष का विषय है। यद्यपि इसमें जीव की व्याख्या अधिकतर प्राण के अर्थ में की गयी है। जैन दर्शन में जीव के स्वरूप एवं लक्षण का विचार दो विभिन्न द्रष्टिकोणों से किया गया है। एक तो शुद्ध निश्चयनय के आधार पर और दूसरा व्यवहार नय का प्रश्रय लेकर। किन्तु दोनों ही दृष्टिकोणों पर आधारित जीव स्वरूप की व्याख्या समन्वयात्मक है विरोधात्मक नहीं। निश्चयन का आश्रय लेकर जैन दार्शनिक जीव को अनेक न मानकर केवल एक मानते हैं जो आस्रव बन्ध संवरा, निर्जरा मोक्ष इन सभी में स्थित भाव कर्मो पर स्तंत्रता से शासन करता है इस शासन के कारण ही जीव को **'प्रभु'** कहा जाता है। व्यवहार नय से उसे राग, द्वेष, जड़त्व आदि का आधार बतलाया जाता है निश्चयनय के अनुसार जीव में सर्वोतम एवं निरतिशय आनन्द की संप्राप्ति होती है। जीव भाव रूप है, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश एवं काल के समान जीव भी एक पदार्थ का सद्भाव पदार्थ है। जन्म एवं मरणजीव स्वरूप के गुण नहीं वरन् मनुव्यादि विशेष योनियों के गुण है।[2] जीव की किसी भी काल में न तो उत्पत्ति होती है और न नाश होता है जैन दर्शन का यह सिद्धान्त सद्भाववाद के नाम से विख्यात है।

---

1. द्रष्टव्य **वेंदातसार** पृ० २६–२७। इन मतों के खण्डन के लिये लिए देखिये **न्यायमञ्जरी**, द्वितीय भाग पृ० १३/१४ तथा न्यायकुसुमाञ्जलि—५

   नान्यदृष्टं स्मरत्ययों नैकभूतमपक्रमात्।
   वासनासकमों नास्ति न च गत्यन्तरंस्थिरे।।

2. देखे— पंचास्तिकाय श्लोक १७१.

जीव दो प्रकार के है मुक्त एवं बद्ध। जो संसार चक्र से छुटकारा पा चुके है वे मुक्त जीव है। जो बन्धन में है वे बद्धजीव है यह दो प्रकार के होते हैं स्थावर एवं त्रस। त्रस जीव जंगम अर्थात् गतिमान होते हैं स्थावर जीवों में किसी प्रकार से गति नहीं होती ये स्थावर जीव पृथ्वी जल तेज, वायु और वनस्पति ये पांच प्रकार से शरीर धारण करते हैं।[1]

त्रस जीवों में वनस्पति आदि स्थावर जीवों की अपेक्षा चेतना की अधिक अभिव्यक्ति होती हे। स्थावर जीवों में केवल स्पर्शेन्द्रिय ही होती है लेकिन त्रस जीवों में क्रमश. दो तीन, चार और पांच इन्द्रियाँ होती है। दो इन्द्रियो वाले त्रस जीवों में सीपी घोंघा आदि है, जिन्हें केवल त्वचा और जिह्वा ये दो इन्द्रियां ही होती है। तीन इन्द्रियों वाले जीवों में पिपीलका मुख्य है जिसे त्वचा, जिह्वा, नासिका ये तीन इन्द्रियां होती है। मक्खी, मच्छर आदि में त्वचा, जिह्वा, नासिका चक्षु ये चार इन्द्रियां होती है। पंचेन्द्रिय वाले त्रस जीवों में पशु एवं मनुष्य की गणना होती है इन जीवों को त्वचा, जिहवा, नासिका, चक्षु एवं कर्ण ये पांच इन्द्रियां होती है इस प्रकार जैन दर्शन में पृथ्वी, अप, तेज, वायु वनस्पति एवं त्रस इन छः प्रकार के अनन्तसंख्यक जीवों के अस्तित्व का समर्थन मिलता है।[2] चेतन द्रव्य जीव को कहते है चैतन्य जीव का सामान्य लक्षण है।[3]

प्रदीप की तरह जीव भी संकोच एवं विकासशील होता है।[4] तात्विक दृष्टि से अरूणी होने के कारण उसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता पर स्वंसवेदन प्रत्यक्ष तथा अनुमान के बलपर उसका ज्ञान किया जा सकता है। मात्रा भेद से जीवो में तारतम्य है जिसमें सिद्ध आत्माओं का स्थान सबसे ऊँचा है। सिद्ध वे है जो सब कर्मो पर विजय पा लेते है। सबसे नीचे स्थान में ऐसे एकेन्द्रिय जीव है जो क्षिति जल अग्निवायु या वनस्पति में वास करते हैं।[5] यह ठीक है कि वस्तुतः ज्ञान या चैतन्य कर्म

---

1. स्याद्वादमंजरी पृ० १७१।
2. षऽजीवकायं त्वमनन्तसंख्यमाख्यस्तथा नाथ यथा न दोषः।
   अन्योगव्ययच्छेद द्वात्रिंशिका, श्लोक २६।
3 चैतन्य लक्षणो जीवः— (षऽदर्शनसमुच्च कारिका ४९) गुणरत्न की टीका।
4. प्रदेश संहार विसर्गाम्याम् प्रदीपवत् (त० सू० ५/१६)
5. 'वनस्पत्यन्तानाम् एकम्' – तत्वार्थाधिगम – सूत्र (२–२२)

जनित बाधाओं के कारण अत्यन्त सीमित एवं अस्पष्ट रहता है।[1] जिन्हें दो से पांच तक इन्द्रियों होती है उनका स्थान जीवों में मध्यम् है। जैसे कृमि पिपीलिका भ्रमर मनुष्यादि।[2] आत्मा की अवस्थाए बदलती रहती है वह नित्य है। यह शरीर से भिन्न है इसका अस्तित्व आत्मुनभूति से ही प्रमाणित हो जाता है।[1]

बौद्ध दर्शन में जीव– संसार की सभी वस्तुएं क्षणिक है। आत्मा भी अन्य वस्तुओं की तरह परिवर्तन शील है आत्मा का अस्तित्व व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त एवं मृत्यु के पूर्व भी रहता है इस प्रकार आत्मा की सत्ता पुर्नजन्म के विचार को जीवित रखती है। बुद्ध ने कहा है किन आत्मा है और न आत्मा की तरह कोई वस्तु। यह एक अनित्य वस्तु है जो अस्थाई शरीर और मन का संकल्प मात्र है। उन्होंने आत्मा को एक नित्य द्रव्य नहीं माना तथा पुर्नजन्म को द्वढ़ किया जिसका अर्थ विज्ञान प्रवाह की अविच्छिन्नता है। एक शरीर के नष्ट होने दूसरे शरीर में इसका प्रवेश होता है किन्तु प्रतीत्यसमुत्पात के कारण बुद्ध परिवर्तनशील दृष्य धर्मो के अतिरिक्त किसी भी अदृष्ट स्थाई द्रव्य को नहीं मानते जिसमें आत्मा भी हैं। यही अनात्मवाद ही बौद्ध का जीववाद है। आत्मा के प्रति अनुराग रखना मानों एक ऐसे प्रासादपर चढ़ने के लिये सीढ़ी तैयार करना है। जिस प्रसाद को किसी ने कभी नहीं देखा है।[4]

न्याय दर्शन में जीव– नैयायिको के मत में आत्मा एक प्रमेय पदार्थ है। हमारे ज्ञान सुख–दुख ईर्ष्या द्वेष तथा प्रयत्न होते है ये हमारे आन्तर प्रत्यक्ष के विषय है। ज्ञान सुख दुख के आधार के रूप में जो द्रव्य विद्यमान हैं उसको हम आत्मा या जीव कहते है। आत्मा एक नित्य अपरितर्वनीय द्रव्य है न्याय सूत्र में १/१/६ में द्वादश भेद प्रमेय के बताए गये हैं।

---

1. षड्दर्शनसमुच्चय पर गुणरत्न की टीका देखिये।
2. कृमि–पिपीलिका–भ्रमर–मनुष्यादीनाम् एकैकवृद्धानि। तत्वार्थाधिगम सूत्र २–२३
3. न्यायावतार, श्लोक ३२ और द्रव्यसंग्रह श्लोक २.
4. पोट्ठवादसुत्त।

१. **आत्मा**– सब वस्तुओं को देखने वाला भोग करने वाला जानने वाला।, २. **शरीर**– भोगों का आयतन या आधार, ३. **इन्द्रिय**– जिनके द्वारा आत्मा वाह्य वस्तुओं का भोग करता है।, ४. **अर्थ**– भोग की जाने वाली वस्तुओं का समूह, ५. **बुद्धि**– भोग ज्ञान, ६. **मन**– सुख–दुख आदि आन्तर भोगों की साधन भूत इन्द्रियां, ७. **प्रवित्त**– मन, वचन तथा शरीर का व्यापार, ८. **दोष**– जिसके कारण अच्छे बुरे कार्यो में प्रवृत्ति होती है।, ६. **प्रेत्यभाव**– पुर्नजन्म, १०. **फल**– सुख–दुख का संवेदन या अनुभव, ११. **दुख**– इच्छा विधात जन्य क्लेश या पीड़ा, १२. **अपवर्ग**– दुख से आत्यन्तिक निवृत्ति। यही सब प्रमेय है। आत्मा का नैययिक रूप वैशेषिकों को भी मान्य है। न्याय दर्शन विशेषतः आत्मा को अनुमान से सिद्ध करता है आत्मा में जो छः गुण है वे सभी आत्मा को सिद्ध करने वाले लिंग या हेतु है अतः आत्मा के सिद्ध कर्त्ता छः अनुमान है यदि दो कर्त्ताओं के दो पृथक–२ व्यापार होते तो इन दोनों व्यापारों का एक जगह होना संभव न होता। अतः ये व्यापार सिद्ध करते हैं कि आत्मा है।[1] स्मृति आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है।[2] वास्तव में कोई गुण बिना किसी द्रव्य या गुणों के हो नही सकता। इसलिए ज्ञानादि गुणो को भी गुणी होना चाहिए और वह गुणी आत्मा है।[3] उद्योतकर कहते है कि आत्मा के अस्त्तिव का ज्ञान प्रत्यक्ष से भी होता है।[4] तर्क भाषा में केशव मिश्र ने कहा कि आत्मा मानस प्रत्क्षय है।[5]

आत्मा एक द्रव्य है जो गुण के रूप में विद्यमान है। भिन्न–भिनन शरीर में भिन्न–भिन्न आत्मा है क्योंकि उनके अनुभव एक दूसरे से पृथक् है। आत्मा की न उत्पत्ति है, न नाश, अतः वह नित्य है, यह विभु है क्योंकि यह काल और दिक् दोनों दृष्टि से असीम है।[6]

---

1. न्यायभाष्य १/१/१०.
2. न्यायभाष्य ३/१/१४.
3. गुणश्च गुण्याश्रित एवं। तर्कभाषा, प्रमेय निरूपणम्।
4. न्यायवार्तिक ३/१/१४.
5. तर्कभाषा, प्रमेयनिरूपणम्।
6. न्यायभाष्य १/१/१०. पदार्थ धर्म संग्रह ३० तर्कभाषा १८–१६.

आत्मा ही वह द्रव्य है चैतन्य उसका एक गुण है आत्मा ज्ञान हीं है बल्कि एक ज्ञाता है जो अहंकार का आश्रय तथा भोक्ता भी है।[1] यद्यपि ज्ञान आत्मा का गुण है फिर भी हम उसे आत्मा का स्वरूप नहीं मानते, आत्मा में चेतना का संचार तभी होता है जब आत्मा का मन के साथ संपर्क होता है यदि ऐसा संपर्क न होतो आत्मा में चैतन्यता नही आ उसकी अतः आत्मा जब शरीर युक्त होता है तब उसमें ज्ञान का अभाव रहता है। इस तरह हम देखतें है कि आत्मा का एक आगन्तुक गुण है।[2] कुछ प्राचीन नैयायिक यह मानते है कि आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं हो सकती है उनके अनुसार आत्मा का ज्ञान या तो आप्त वचनों से होता है या उनके प्रारब्ध गुणों या इच्छा द्वैष, प्रयत्न, सुख–दुख एवं बुद्धि के अनुमान से होता है। हम लोगों में राग द्वेष वर्तमान है इसमें कोई सन्देह नही है।[3] बुद्धि चलित कार्यो का कारण यह अचेतन शरीर नहीं हो सकता उसके लिए चेतन आत्मा की ही आवश्यकता है।[4]

प्रत्येक जीव के शरीर, सुख–दुख आदि विभिन्न हैं इसलिए आत्मा बहु है। "**प्रति शरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।**" आत्मा सनातन एवं विभु है इसका जन्म तथा मृत्यु नहीं होता है नैयायिक जन्मानतरवाद में विश्वास करते है। आत्मा धर्माधर्म का आश्रय है। धर्माधर्म के अनुसार जीव कर्मफल भोग के लिए एक देह के विनष्ट होने पर अन्य देह धारण करता है।

वैशेषिक दर्शन में जीव– आत्मा एक द्रव्य है जिसमें ज्ञान गुण रूप में वर्तमान रहता है यद्यपि उसका यह गुण स्वाभाविक न होकर विभिन्न सामग्रियों के संयोग से उत्पन्न होने के कारण आगन्तुक माना गया है। जिससे वैशेषिक में आत्मा का लक्षण "**ज्ञानाधि·[illegible]**" कहा गया है।[5]

---

1 भाषापरिच्छेद और मुक्तावली, ४८–५०, न्यायसूत्र और भाष्य ३/१/४.
2. वार्तिक २–१–१२. न्यायमजरी पृ० ४३२.
3. न्यायभाष्य १/१/६/१०.
4 तर्क भाषा पृ० ६ तर्क कौमुदी पृ० ८ भाषा परिच्छेद और मुक्तावली ४६–५०.
5. तर्क सङ्ग्रह पृष्ठ ३६.

यही ज्ञान सुख, दुख, इच्छा आदि गुणों का आधार है इसकी सत्ता अनुमान की सहायता से प्रमाणित होती है। ज्ञान, दुख आदि अन्तर प्रत्यक्ष के विषय है, जो गुण ही है। किन्तु जब कोई गुण द्रव्य बिना नहीं रह सकता तब ज्ञान सुख दुख आदि गुण किसका आश्रय ग्रहण करके रहते हैं। ये जिसका आश्रय लेकर रहते है वही आत्मा है। यह एक नित्य द्रव्य है इसी लिए हमारे मन तथा देह के नाना परिवर्तनों में भी हम एक ही रहते है। वैशेषिकों ने २ प्रकार की आत्मा को माना है। १. जीवत्मा, २. परमात्मा–जीवात्मा की चेतना सीमित है जब कि परमात्मा की चेतना असीमित है जीवात्मा अनेक है परमात्मा एक है परमात्मा ईश्वर का ही दूसरा नाम है प्रत्येक जीवात्मा में मन का निवास रहता है जिसके कारण उसकी विशिष्टता विद्यमान रहती है। यहां आत्मा को अमर माना गया है। यह आत्मा अनादि और अनन्त है। चैतन्य आत्मा का स्वरूप गुण नही है अपितु यह उसका आगन्तुक गुण है। आत्मा में चैतन्य का आविर्भाव तब होता है जब आत्मा का संपर्क शरीर इन्द्रिय और मन से होता है शरीर के सभी सचल अंगों की उपभोक्ता आत्मा ही है सुख–दुख आत्मा के विशेष गुण है परमात्मा को ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर की चेतना असीमित है जब कि जीव की चेतना सीमित है ईश्वर जीवात्मा को उनके कर्मो के अनुसार कर्म फल देता है। ईश्वर अदृष्य नियम का सचालक है।

प्रत्येक शरीर में आत्मा निवास करता है और वह स्वयं नित्य है। जैसे शरीर के भीतर किसी चेतन पदार्थ की सत्ता का संकेत मिलता है वैसे ही रथ के व्यापार से रथ के अन्दर सारथी रूप चेतन पदार्थ का अनुमान होता है। वैसे ही शरीर के व्यापार के जिस चेतन पदार्थ का अनुमान किया जाता है वही आत्मा है। मन को प्रेरित करने वाला आत्मा ही है। प्राणापान निमेषोन्मेष, जीवन एवं मनोगति ये सब आत्मा के द्वारा ही उत्प्रेरित होते है। अनुभव एवं स्मृति का आश्रय एक ही होना चाहिए। सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता एक ही चेतन है और वही आत्मा है चेतन गुणो के आश्रय से आत्मा की सिद्धि होती है।[1] इन्द्रियों को आत्मा मानना नितान्त आसिद्ध है।[2] क्योंकि आत्मा इन्द्रियों

---

1. 'प्राणपान[1] निमेषोन्मेष[2] जीवन[3] मनोगति[4] इन्द्रियान्तर[5] विकार सुखदुख इच्छाप्रयत्नाश्चात्मनो[6] लिङ्नि–वैशेषिकसूत्र ३/२रु४–विशेष के लिए देखिए · प्रशस्त पादभाष्य।
2. तस्मान्मुखविकाशस्य हर्षो हर्षस्य च स्मृतेः। स्मृतेरनुभवो हेतु स च जन्मान्तरे शिशोः।।
जयन्तभट्ट कृत न्यायमंञ्जरी, पृ० ४७०.

से भिन्न है। कर्ता तथा करण भिन्नता अनुभव सिद्ध है। लेखनी तथा लेखक दोनों भिन्न–२ हैं। इसी प्रकार अनुभव का कर्त्ता आत्मा तथा अनुभव के साधन इन्द्रियों की भी भिन्नता सिद्ध है अभिन्नता नहीं। इच्छा, सुख, प्रवत्ति और ज्ञान आदि की विभिन्नता के कारण आत्मा के अनेकता सिद्ध है।[1] जयन्त भट्ट के अनुसार, मानस, प्रत्यक्ष पर अनुमेय मानना युक्ति संगत है।[2]

सांख्य दर्शन में जीव– सांख्य दर्शन में जीव या आत्मा पुरुष नाम से अभिहित होता है, यही अन्य दर्शन में आत्मा माना गया है। पुरुष, आत्मा, जीव, वस्तुतः एक ही तत्व के विभिन्न नाम हैं। सांख्य चैतन्य को आत्मा का स्वरूप मानता है। वह चेतन तत्व पुरुष ही है जो प्रकृति, महत्, अहंकार मन आदि अचेतन पदार्थो का पथ प्रदर्शक है यह ही समस्त विषयों का अधिष्ठाता है। यहां आत्मा का अस्तित्व स्वयं सिद्ध है यह सांसारिक विषय नहीं है। आत्मा वह शुद्ध चैतन्य का स्वरूप है जो सर्वदा ज्ञाता के रूप में रहता है कभी ज्ञान का विषय नहीं होता। आत्मा में कोई क्रिया नहीं होती वह निष्क्रिय अनिकारी होता है वह स्वयंभू नित्य और सर्वव्यापी सत्ता है जो सभी विषयों में असंपृक्त और रागद्वैस से रहित है। आत्मा चित्शक्ति को छोड़कर संसार के सभी भाव प्रतिक्षण में परिणाम शाली है। वही केवल ऐसा है जो इसी परिणाम के चक्कर के बाहर है। आत्मा की कूटस्तथा स्वयं सिद्ध है।[3] आत्मा की सत्ता में निम्न प्रमाण है।

(क) जो कई उपादानों से रन्ति है वह दूसरे की उद्देश्यपूर्ति के लिए होता है। **"संघात परार्थत्वात्"**। संघात या यौगिक पदार्थ दूसरे के उद्देश्य की पूर्ति करता है उसका अपना कोई उद्देश्य नहीं होता। यह अतिरिक्त सत्ता ही पुरुष–सचेतन आत्मा है, संचेतन पुरुष का ही उद्देश्य हो सकता है। जड़ को प्रयोजन का कोई ज्ञान नहीं होता। जब त्रिगुणात्मक जगत विद्यमान है, इस लिए दृष्टा के रूप में असंहत विशुद्ध सचेतन सत्ता भी रहेगी– पुरुष या आत्मा ही यह असंहत द्रष्टा है। जैसे सचेतन रथ के न रहने पर जड़ रथ शक्टादि निर्दिष्ट पथपर **"त्रिगुणादि वियर्पयात्"** चलने पर असमर्थ रहते है वैसे ही संचेतन पुरुष के न रहने पर प्रकृति की क्रिया श्रृङ्ख्ला सहित घटित नहीं हो

---

1. न्यायभाष्य १/१/१०.
2. "अनुमेयत्वमेवास्तुलिंगेनेच्छादिनाऽऽत्मनः" (न्यायमंञ्जरी पृ० ४३४.)
3. पुरुष के रूप तथा सिद्धि के लिए देखें– कारिका तथा कौमुदी कारिका १७–२० सांख्य प्रवचन भाष्य तथा साङ्ख्यवृत्ति १६६, १–१३८, १६४.

सकती। जब प्रकृति का परिणाम उद्देश्य मूलक है तब संचेतन पुरुष **अवश्य होगा**, पुरुष है इसीलिए प्रकृतिक्रियाशील है और उसके कार्य में नियम् श्रृंखला **विद्यमान** है। **(अधिष्ठानात्)** सुख दुख तथा विषाद आदि भोग्य है चूंकि जड पदार्थो में भोग करने की शक्ति नहीं होती। भोक्ता के बिना भोग रह नहीं सकता। अतः **'पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्''** सचेतन पुरुष ही इसका भोक्ता है। यदि प्रकृति से भिन्न कोई चेतन सत्ता न होती तो मुक्ति की चेष्टा निरर्थक रहती। जड पदार्थ के बन्धन तथा मुक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं है। पुरुष है अतः प्रकृति के बंधन से मुक्ति की प्रचेष्टा की प्रचेष्टा चल रही है।[1]

पुरुष सदैव प्रकाश स्वरूप है पुरुष है इसलिए सारे जड़ पदार्थ प्रकाशित हो रहें हैं। यह स्व प्रकाश है और अपने आप को प्रकाशित करता है तथा चैतन्य स्वरूप भी है। विशुद्ध चैतन्य ही आत्मा है। यह देह नहीं है **''शरीरादिव्यतिरिक्तःपुमान्''—सा० सू० वृ०।** भौतिक देह मन वुद्धि जड़ है, जड़ पदार्थ, योग्य दृश्य ज्ञेय है जो कभी भोक्ता ज्ञाता द्रष्टा नहीं हो सकते। चेतन स्वभाव पुरुष है इसीलिए हम जागत को जान सकते है। यही ज्ञाता तथा भोक्ता है। पुरुष की सत्ता अवश्य स्वीकार्य है क्योंकि कोई भी ज्ञान ज्ञाता के बिना संभव नहीं है। सांख्य के अनुसार पुरुष निष्क्रिय एवं निर्गुण है यह स्वरूपतः कर्ता या भोक्ता नहीं है— **असंगोऽयम् पुरुषः।** श्रुति भी इसका समर्थन करती है। किन्तु जब पुरुष बुद्धि में प्रतिविम्बित होता है तब वह अविद्या अपने को कर्त्ता तथा भोक्ता समझता है। **''उपरागात् कर्त्तव्यं''** यह स्वरूपतः निष्क्रिय साक्षी या द्रष्टा **''गुणकर्तृत्येतथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः''**। त्रिमुणात्मिकावुद्धि क्रियाशील है। उदाशीन पुरुष का प्रतिविम्ब बुद्ध में प्रतिभासित होता है तब निष्क्रिय पुरुष कर्ता के रूप में प्रतिभाति होता है। सांख्य के मत में पुरुष अनेक है अतः एक व्यक्ति के जन्म से सबका जन्म एक के मृत्यु से सबकी मृत्यु, एक ही मुक्ति से सबकी मुक्ति नहीं होती। पुरुष अनेक है अतः सभी के मन तथा बुद्धि एक समान नहीं है एवं कर्मप्रचेण्टा भी एक नहीं है। विभिन्न पुरुष है यदि पुरुष एक होता तो सभी के जन्म या मृत्यु एक ही समय में होती। वामदेवादि की मृत्यु से सबकी मुक्ति हो जाती सब एक हो जाते। किन्तु संसार में ऐसा नहीं देखा जाता अतः पुरुष एक नहीं अनेक **हैं—नाद्वैतम्।** जन्ममरण्करणानांप्रतिनियमादमुगपत् पृवतेश्च। पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।।[2]

---

1. संघात परार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
   पुरूषोऽस्ति भोक्तृ भावात् केवल्यार्थप्रवतेश्च। **सांख्य कारिका** १७, कारिका।
2. साङ्ख्य कारिका—१४.

एकमेवाद्वितीयम् से सांख्य का बहुपुरुषवाद क्या श्रुति विरोधी नहीं। नाद्वैत् **श्रुतिविरोधी जातिपरत्वात्** से सांख्य मम श्रुतिविरोधी नहीं है। क्योंकि बहु होते हुए भी पुरुषों में एक जाति धर्म होता है ये एक ही पुरुष जाति के अन्तर्गत है। श्रुति ने जाति के दृष्टिकोण से ही पुरुष को एक तथा अद्वितीय रूप में ग्रहण किया है।

योय दर्शन में जीव– योग दर्शन में जड़ और चेतन दो प्रकार के पदार्थो की सत्ता है। ईश्वर चेतन वर्ग के अन्तर्गत आता है। चेतन तत्व पुरुष है, अतः ईश्वर भी पुरुष है। लेकिन यह सर्व साधारण पुरुष नहीं है अपितु पुरुष विशेष है। बद्ध मुक्तसम (विदेह और प्रकृतिलय) मुक्त और सदामुक्त चार प्रकार के पुरुषों में वह सदामुक्त हैं अर्थात् पुरुष विशेष ईश्वर अद्वितीय है। अन्य पुरुषों की अपेक्षा ईश्वर में विलक्षणता इस कोण से है कि वह अविद्या आदि पांच क्लेश, शुभाशुभकर्म कर्मजनितजाति आयु तथा भोगरूप विपाक (फल) तथा कर्म संस्कार (कर्याशय) से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता है। यद्यपि पुरुष असङ्ग है।[1] तथापि अविद्या से ग्रसित पुरुष की औपाधिक संगता माननें में किसी प्रकार की बाधा नहीं। इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि ने असंख्य पुरुषों में से एक पुरुष में से कलेशादि का आत्यन्तिक रूप से आभाव रहने के कारण उसे पुरुष विशेष ईश्वर कहा है। ईश्वर काल की सीमा से परे है। इसी आशय की योगसूत्र में '**[illegible]**' शब्द से कहा है।[2] ईश्वर की गुरूता की अविस्मरणीय है। वह अनादि काल से परमगुरू की उपाधि धारण किए है श्रुति आदि ग्रन्थों में ईश्वर ओंकार नाम से पुकारा गया है ओङ्कार का दूसरा नाम प्रणव है। ईश्वर एवं प्रणव में वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध है।[3] दोनों का यह सम्बन्ध अनादि है। ईश्वर की कृपा से साधक योग की अन्तिम अवस्था असम्प्रज्ञात को प्राप्त करता है।[4] ईश्वर का प्रकष्ट सत्व प्रधान चित्त प्राकृतिक अर्थात् प्रकृति का कार्य होने से लयशील है।[5] अतः महाप्रलय की अवस्था में, जिस समय सभी जड़ पदार्थ लयाभिमुक्त होते है, उसी समय ईश्वर के उपाधिभूतचित की ज्यों की त्यों स्थिति बनी रहनी स्वभाविक नहीं है। महाप्रलय में ईश्वरोंपाधि का लय भी मानतें।

---

1. असङ्गो हययं पुरुष इत्येवमेंवैतात् (बृहकारण्यक उपनिषद ४/३/१५/१६)
2 स पूर्वेषामपि गुरूः कालेनानवच्छेदात्। **(योगसूत्र २/२६)**
3. तस्य वाचकप्रणव. – (योगसूत्र १/२७)
4 तदभिध्यानमात्रादपि योगिनः आसन्नतरः समाधिलाभ. समाधिफल च भवति। **(व्यास भाष्य पृ० ६५)।**
5 यस्य हि न कदाचिदपि प्रधानसाम्यं न तत्प्राधानिकम्। तत्वैशारदी – पृ० ६६.

अतः योग को एकेश्वरवादी दर्शन कहा जाता है।[1] ईश्वर ही पुरुषोत्तम है। ईश्वर ज्ञान तथा शक्ति के अतिशय की पराकाष्ठा है– **"तत्र निरतिशयंसर्वज्ञबीजम्"** वह सर्वज्ञा तथा सर्वशक्तिमान है।[2]

मीमांसा दर्शन में जीव– मीमांसा में आत्मा व जीव का विचार कुछ उसी तरह से किया गया है जैसे अन्यान्यवास्तुवादी और अनेक वस्तुवादी दर्शन में यथा (न्याय–वैशेषिक) आत्मा नित्य अविनाशीद्रव्य है, जो वास्तविक जगत में वास्तविक शरीर के साथ संयुक्त रहता है।[3] चैतन्य जिसके आश्रय में रहता है, उसे आत्मा कहते है। क्रिया दो प्रकार की होती है–स्पन्द और परिणाम। किन्तु आत्मा में स्पन्द नहीं।[4] बल्कि परिणाम में रुपपरिवर्तन होता है।[5] परिणामी वस्तु भी भाट्ट के मत में नित्य होती है। अतः आत्मा परिणामशील होने पर भी नित्य है। चैतन्य आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं। किन्तु एक औपाधिक गुण है जो अवस्था विशेष में उत्पन्न होता है। जितने जीव है उतनी आत्मा है। जीवात्मा को बन्ध प्राप्त होता है और उससे वे मोक्ष भी पा सकते हैं। प्रत्येक ज्ञान में कर्ता के रूप में आत्मा की सत्ता रहती है। इनके मत में त्रिपुरी प्रत्यक्ष माना गया है, अर्थात् ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय तीनों एक साथ ही ज्ञान में प्रकाशित होते है अतः आत्मा मानस प्रत्यक्ष गम्य न होकर आश्रयविद्यया प्रकाशित होता है उसमें किया नहीं रहती इसीलिए वह जड है।[6]

वेदोक्त कर्म काण्ड के द्वारा अपवर्ग प्राप्ति के सिद्धान्त की संगतता तभी हो सकती है जब देह से भिन्न कर्ता एवं भोक्ता के रूप में एक पृथक् पदार्थ की सत्ता स्वीकार की जाय जिसे आत्मा की संज्ञा दी गई है।

---

1. यथा मुक्तस्थ पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्थ; यथा वा प्रकृति लीनस्थ उत्तराबन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्यः स तु सदैव ईश्वरः देखे– **योग भाष्य १/२४.**
2. संस्कृत उद्धरण–पातञ्लदर्शनम् पं० कालीवर वेदान्तवागीश।
3. श्लोक वार्तिक (आत्मवाद) **शास्दीपिका आत्मवाद।**
4. यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते।
   न परिस्पन एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत्।। **श्लोक वार्तिक** पृ० ७०७.
5. चिदंशेन द्रष्टत्वं सोऽयमितिप्रत्यभिज्ञा, विषयत्वं च अचिदंशने। ज्ञान सुखादि रूपेण परिणामित्वम्। स आत्मा अहं प्रत्ययेनैव वेद्यः। **अद्वैतब्रह्म सिद्धि, काश्मीरक सदानन्द।**
6. बृहती, ऋजुविमलां, **प्रकरण पञ्चिका।**

देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किये गये **स्वर्गकामोयजेत्** इस मंत्र की कोई उपयोगिता नहीं क्यों कि आत्मा के अभाव मे कौन स्वर्ग में लोकार्जित कर्मो का उपभोग करेगा? अतएव मीमासा दर्शन में आत्मा की सत्ता का प्रतिपादन अनिवार्य हो गया है। आत्मपरिणाम के विषय में मीमांसा के अनुसार आत्मा विभु है जो अपने कर्मो के अनुसार केवल उसी शरीर का अनुभव करती है जिसमे उसकी स्थिति है। विभु होते हुये भी आत्मा को प्रतिशरीरवर्तित्व स्वीकार करना मीमांसा तंत्र की विशेषता है।

जो यज्ञ सुसम्पन्न करता है वह स्वर्ग में जाता है ऐसी वैदिक उक्ति है वेद अभ्रान्त है। यदि देहावसान के साथ जीव का अवसान होता तो उसका स्वर्ग गमन सम्भव नहीं होता अतः देह के अतिरिक्त आत्मा नामक जीव की एक सत्ता है जो नित्य तथा अविनाशी है। आत्मा चैतन्य स्वरूप नहीं है इसका प्रमाण सुषुप्ति है क्योंकि सुषुप्ति में आत्मा रहती है किन्तु कोई चैतन्य नहीं रहता। आत्मा चैतन्य का आश्रय है। कुमारिल के मत में यदि आत्मा ज्ञेय न होतो **"आत्मानंविद्धि"** श्रुति का यह वाक्य निरर्थक हो जाता है अतः विषय चैतन्य के बिना भी आत्मा का चैतन्यता सम्भव है। सबके मत में आत्मा बहु है, विभिन्न जीवों में विभिन्न आत्मा है इसलिए सब जीवों के सुख दुख तथा ज्ञान एक समान नहीं है। भाट्ट मत में आत्मा अचिदंश के परिणाम रूप में है। इस प्रकार आत्मा जड़ तथा बोधात्मक दोनों प्रकार है।[1]

अद्वैतवेदान्त दर्शन (अद्वैत) में जीव-- अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते है आचार्य की सम्मति में शरीर तथा इन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्म फल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहते है।[2] सूत्रकार के अनुसार शरीरादि उपाधियों की ही उत्पत्ति होती है नित्य आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होता इस विषय में दार्शनिकों की विभिन्न कल्पनाएं हैं। जीव की वृत्तियां उभयमुखी होती है, यदि वे वहिर्मुखी होती हैं तो विषयों को प्रकाशित करती है और जब वे अन्तर्मुखी होती है तो कर्ता को अभिव्यक्त

---

1 यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते।
न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत्। श्लोकवार्तिक पृ० ७०७.

2 "अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्ष. कर्म फल सम्बन्धी।।" शङ्कर भाष्य १/३/१७.

करती है। जीव की उपमा नृत्यशाला के दीपक से बड़े सुन्दर रूप से दी जा सकती है। जिस तरह रङ्गस्थल में दीपक सूत्रधार, सभ्य तथा नर्तकी को समभाव से प्रकाशित करता है और इनके अभाव में स्वतः प्रकाशित होता है, उसी तरह साक्षी आत्मा अहंकार विषय तथा बुद्धि को अवभाषित करता है और उनके अभाव में स्वतः प्रद्योतित होता है।[1] बुद्धि मे चाञ्चल्य होता है और बुद्धि से युक्त होने पर जीव चंचल सा प्रतीत होता है वस्तुत वह शान्त है। जब आत्मा शरीर इन्द्रिय मन इत्यादि उपाधियों से सीमित होता है तब वह जीव हो जाता है। आत्मा एक है जबकि जीव भिन्न–२ शरीरों में अलग है। अतः जीव अनेक है। जब आत्मा का प्रतिबिम्व अविद्या में पड़ता है तब वह जीव हो जाता है इस प्रकार जीव आत्मा का आभास मात्र है। जीव आत्मा का वह रूप है जो देह से युक्त है। शङ्कर ने आत्मा को मुक्त माना है, परन्तु जीव इसके विपरीत बन्धन ग्रस्थ है अपने प्रयासों से जीव मोक्ष को अपना सकता है। जीव को अमर माना गया है। शरीर के नष्ट होने पर जीव आत्मा में लीन हो जाता है। आचार्य गौडपाद के अनुसार जीव की तीन अवस्थाएं हो जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति है। जीव इन तीन अवस्थाओं में ही घूमता रहता है। शंङ्कराचार्य ने अस्मद और युष्मद् या विषयी और विषय के विवेक से अपने शारीरक भाष्य का आरम्भ किया तथा उन्होंने जीव को विषयी माना। उन्होंने सिद्ध किया कि यद्यपि जीव सभी को क्रमशः देह इन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि अव्याकृत, कर्त्ता भोक्ता तथा ज्ञाता प्रतीत होता है किन्तु यह जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है यह जीव का मायाकृत या औपाधिक रूप है। जीव का वास्तविक रूप ब्रह्म् है उस रूप में यह आत्मा है। जीव का माया रूप ही उसका जीवत्व कहा जाता है। वह जन्म मरण के चक्र में घूमता है इस चक्र को संसार कहा जाता है। ज्ञान से जब अज्ञान की निवृत्ति होती है तब जीव के सभी शरीर निवृत्त हो जाते है और वह मुक्त हो जाता है। जीव ब्रह्म् का प्रतिविम्ब है। इस तत्व को कभी ब्रह्म कभी आत्मा केवल सत् कहा गया है। ऐतरेय[2] और ब्रह्दारणयक[3] में कहा गया है कि पहले वह आत्मा मात्र था ब्रह्दारण्यक फिर

---

1. अहंकारः प्रभुःसम्याविषयानर्तकीमतिः।तालादिधारीण्यक्षाणि दीप. साक्षयवभासकः। पंचदशी १०/१४०.
2. ॐ आत्मा वा इदम् एक एवं अग्रआसीत् (ऐतरेय १/१)
3 आत्मा एवं इदम् अग्रे आसीत्। बृहदारण्यक १/४/१

कहता है कि आत्मा को जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है।[1] छान्दोग्य में—आदि में केवल सत् था दूसरा कुछ नहीं।[2] मुण्डक में कहा गया है कि यह सब कुछ ब्रह्म है।[3] इन राब में ब्रह्म ओर आत्मा एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए है। कहीं स्पष्ट है कि यह आत्मा ब्रह्म है।[4] मैं ब्रह्म हूँ।[5]

खण्डन— वेंकटनाथ ऐसे सिद्धान्त पर आक्षेप करते है कि यह हमारे इस मानसिक अनुभव को नहीं समझा सकते जिसमें हमें लगता है कि हम उसी पदार्थ को स्पर्श करते है जिसे हमने देखा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कोई एक पदार्थ है जो इन्द्रियों के ज्ञान से भी अतिरक्ति है क्योंकि चक्षु और स्पर्शेन्द्रिय की मर्यादा अपने निर्दिष्ट इन्द्रिय गुणों को ग्रहण करने तक ही है, और दोनों में से एक भी भिन्न इन्द्रिय गुणों द्वारा वस्तु की एकता प्रतिपादन करने में असमर्थ हैं।

जीव मन प्राण इन्द्रियों एवं शरीर से भिन्न एक आनन्दमय सत्ता है, जिन्हें आत्मा करता है। जीव इन्द्रियो की सहायता से अपने इष्ट को प्राप्त करने का प्रयास करता है तथा ईष्ट के निर्धारण में आत्मा स्वतंत्र है। जीव अहमर्थ प्रत्यचवाच्य है।[6] जीव की वैयक्किता कभी नष्ट नहीं होती है संसार की स्थिति में ईश्वर से नियंत्रित होकर भी आत्मा को कुछ स्वतंत्रता प्राप्त है। अभिप्राय यह है कि स्वभाव से अविकारी होते हुये भी जीव परिणामी है क्यों कि उसके धर्मभूतज्ञान में परिणाम या परिवर्तन होता है अतः आत्मा स्वभाव से ही ज्ञाता है।[7] यह भी कहा जाता है कि माया की उपाधि से संयुक्त चैतन्य ईश्वर है ओर अविद्या की उपाधियों से सयुंक्त चैतन्य जीव है। पंचदशीकार के अनुसार माया विशुद्ध सत्ता प्रधान है जब कि अविद्या मलिन सत्व प्रधान है। उनके मत में आत्मा प्रतिफलित चिदानन्दसर्वज्ञ ईश्वर है और अविद्या में प्रतिविम्बित चिदात्मा जीव है।[8] ब्रह्म्

---

1. आत्मनि खलु अरेदृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इद सर्वं विदितम् (ब्रह्दारण्यक ४/५/६)
2. सदैव सोम्य इदम् अग्रे आसीत् एकम् एव अद्वितीयम् (छांदोग्य उप ६/२/१)।
3 सर्वं खलु इदम् ब्रह्म् – छांदोग्य ३/१४/१.
4. ब्रह्म एवं इंद विश्वम् (मुंडक उप २/२/११)।
5. अहं ब्रह्मास्मि् – ब्रह्दारण्यक १/५/१०.
6. तस्मात्स्वत् एवं ज्ञातृतयासिद्धयत्रहमर्थ एवं प्रत्यागात्मा, न ज्ञप्तिमात्रम। अहभावविगमे तु ज्ञप्तोरपि न प्रत्यवत्वसिद्धिरिव्युक्तम्। श्री भाष्य १/१/१.
7. अतोज्ञातृत्वमेव जीवात्मन स्वरूपम्। श्रीभाष्य २/३/३१
8. देखें – पञ्चदशी १/१६–१७.

और जीव की भिन्न सत्ताएँ है। जीव अश है और ब्रह्म् अंशी है। जीव विशेषण है ब्रह्म विशेष है। जीव पर्याय है ब्रह्मद्रव्य है। मुक्त होकर वह जगत का ब्रह्म की भांति उपभोग करता है परन्तु सृष्टि के सर्जन, नियमन में पूरी तरह ईश्वराधीन ही होता है। उनमें सख्यागत भेद रहता है।[1]

जीव का जन्म अविद्या के कारण है। अविद्या के कारण जीव अपने को ईश्वर से भिन्न समझने लगता है। ज्ञान और आनन्द जीव का स्वाभाविक गुण है। जीव का ज्ञान नित्य है। जीव अनेक है। जीव का भेद उनके शरीर के भेद के कारण है। प्रत्येक जीव में अलग–अलग जीव व्याप्त है। जीव को कर्म करने में पूरी स्वतंत्रता है। ईश्वर जीव के कर्मो का मूल्यांकन करता है। जीव नित्य है। जीव कर्म फल भोग के लिए जगत में आता है। अज्ञानवशत. जीव, देह तथा मन को अहम् मानता है। वह जगतिक सुख समझकर विषय भोग मे मग्न होता है। वह नहीं जानता कि विषय सुख दुख मिश्रित है जो परिणाम में दुख देता है। जो जीव स्वर्ग लाभ की आशा से याग यज्ञ करता है। मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग प्राप्त करने पर भी कर्मफल भोग करने के बाद में फिर उसको इस जगत में आना पड़ता है। पापाचारी जीव नरक में जाता है एवं नरक भोग करने के बाद में फिर उसको संसार में आना पड़ता है। यही जीव का आवागमन चक्र है।

ब्रह्म एक ही है वह भिन्न चित्तों के सम्बन्ध से नाना रूप में दिखता है वेदान्तदेशिक की दृष्टि से अयुक्त है क्योंकि हम जानते है एक ही व्यक्ति पुनर्जन्म में अनेकों देहों के संसर्ग में आता है ओर भिन्न शरीरों से ऐसा संसर्ग व्यक्ति में भेद उत्पन्न नहीं कर सकता है यदि ऐसा है तो एक ही ब्रह्म् भिन्न चित्तों के सम्बन्ध से नाना रूप, वाला क्यों हो जायेगा इसका कोई कारण नहीं दिखता है पुनः जिसमत में जीव एक दूसरे से सचमुच भिन्न है किन्तु शुद्ध सत्ता ब्रह्म के मात्र अंग होनें के कारण अभिन्न है तो यह मत भी अयुक्त है क्योंकि यदि ब्रह्म जीव से इस प्रकार अभिन्न है वह भी सभी दुख और अपूर्णतावों का भागी होगा जो निरर्थक है। आत्मा विभु नहीं क्योंकि उपनिषदों

---

1. जीवात्मास्वरूपं.........ज्ञानानन्दैकगुणम्। तस्यैतस्य कर्मकृत देवादि भेदेऽपध्वस्ते स्वरूप भेदो वाचामगोचरः स्वसंवेद्य. ज्ञानस्वरूपतित्येतावदेव निर्देश्यम् तच्च सर्वेषामात्मनाम् समानम्। **वेदार्थ संग्रह पृ० १.**

में कहा गया है कि वह शरीर से बाहर जाता है। पुण्य और पाप तो विशिष्ट आत्मा से सम्बन्धित है। इसी लिये वे दूरस्थ स्थान पर परिवर्तन नहीं कर सकते है जब कि आत्मा और उनके (पाप पुण्यों के स्थानों में सह अस्तित्व नहीं है) पाप और पुण्यों का अर्थ कर्मानुसार एवं ईश्वर के अनुग्रह एवं कोप का व्यापार आदि है।[1]

यदि विभु मान लिया जाय तो भी वह बुरे भले फलों का होना नहीं समझा सकेगा क्योंकि आत्मा का उन दूरस्थ स्थानों में सहआस्त्वि भी हो तो भी उनकें अदृष्ट उसकी समस्त व्यापक आत्मा में कार्य नहीं करते, केवल अंशभाग में ही करते है। जब कि जिस स्थान में वह कर्मफल उत्पन्न होता है उससे वह सहअस्तित्व में नहीं है अतः वह इसे ठीक तरह नहीं समझा सकता है।

प्रपत्ति या भक्ति– ज्ञान विशेष ही मोक्ष का साधन है, वह ज्ञान विशेष उपनिषद् ग्रन्थों में उपासन, वेदन अर्थात् ज्ञान्, ध्यान और दर्शन इत्यादि शब्दों से वर्णित है। ज्ञान का प्रतिबिम्ब होने से भक्ति भी कहा जाता है। यह ज्ञान मरण पर्यन्त बना रहता है अतः ज्ञान विशेष ही मोक्ष का साधन है। बार–बार आवृत्त होने वाला ज्ञान ही मोक्ष साधन है, क्योंकि मोक्ष साधन ध्यान और उपासन इतयादि शब्दों से कहा गया है। आवृत्त होने वाला ज्ञाना ही ध्यानादि शब्दों का वाच्य होता है।[2] आयु पर्यन्त ध्यान करने वाले साधक का शरीर छूटने के बाद पर ब्रह्म के लोक में पहुँच जाता है जिससे मोक्ष साधनत्व सिद्ध होता है।[3] आपस्तम्ब ने कहा है कि वाक्यार्थ ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति शास्त्र प्रत्यक्ष से विरुद्ध है यदि वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से मोक्ष होता तो वाक्यार्थ ज्ञान वाले मनुष्य को यहां दुःख भोगना चाहिए।[4] अतः शास्त्र जन्य तत्व ज्ञान केवल मोक्ष का साधन नहीं है। शास्त्र में केवल ज्ञान मोक्ष हेतु कहा गया है। वैष्णव का आश्रय लेने वाले पशु मनुष्य पक्षी इत्यादि प्राणी भी उसी वैष्णव के साथ ही भगवानके परमपद में पहुंच जाते

---

1. इह हि धर्माधर्मशब्दः कर्म निमित्तेश्वर प्रीति कोप–रूप बुद्धि–द्योतक.। अस्ति ही शुभे त्वसौ तुष्यति दुष्कृते तुत तुष्यते सौ परमः शरीरी इति। – **सर्वार्थ–सिद्धि** पृ० १७६
2. आवृत्तिरसकृदुपदेशात्   **ब्रह्मसूत्र।**
3. "प्रायणान्तमोङ्एमभिथ्यायीत" स खलुएषांवर्तयन-यावदायुष ब्रह्मलोकमभिसपद्यते"। **न्यायसिद्याञ्जन** पृष्ठ २६८.
4. "बुद्धे चेत् क्षेमप्रापणमि् हैव न दुःखमुपलभेत" द्वारा **अपस्तम्बमुनि् न्यायसिद्धाञ्जन पृ० २६६.**

है। वैष्णवाचार्य अपने आश्रितों के कल्याणर्थ शारणगतिकर सकते है।[1] ज्ञान योगियों द्वारा जो आत्मसाक्षात्कार रूप फल होता है वह कर्म योगियों द्वारा भी प्राप्त होता है।[2] श्री यामुनाचार्य स्वामी ने कहा है कि जिस साधक का मन कर्म योग एवं ज्ञान योग से परिशुद्ध हो जाता है वह साधक भक्ति योग का अधिकारी है। जो एक मात्र भगवान के विषय मे प्रवाहित होने के कारण ऐकान्तिक कहलाता है तथा सदा प्रवाहित होने से आत्यन्तिक कहलाता है। इस प्रकार के भक्ति योग से ही भगवान् प्राप्त हो सकते हें अतः सिद्ध होता है कि भक्ति हो मोक्ष का साधन है।

भक्ति का निरूपण– पूज्य व्यक्ति के विषय में होने वाली प्रीति ही भक्ति है। यह भक्ति ही क्रम से बुद्धि रूप अवस्था के अनुसार परभक्ति परज्ञान इत्यादि विभिन्न रूपों को प्राप्त होती है। स्तुति एवं नमस्कार आदि क्रिया में भक्ति के कार्य एवं कारण है। अतएव भक्ति शब्द लक्षण से प्रयुक्त होता है। इनमें भक्ति शब्द लाक्षणिक है भगवान के द्वारा होने वाली प्रतीति ही मुख्य भक्ति है। और यह भक्ति उपनिषत्प्रतिपादित सद्विज्ञा, अक्षरविद्या मधुविद्या, दहरविद्या और वैश्वानरुवद्या इत्यादि भेद से नाना प्रकार की है। श्री भगवान को प्राप्त करने के लिए प्रेममय उत्कृटत्वरा होती है, वही परम् भक्ति कहलाती है। जिस प्रकार सद्विद्या आदि ब्रह्मविद्यायें भक्ति विशेष मानी जाती है, उसी प्रकार चतुरोत्म्योपासन भी भक्ति मानी जाती है जो पाञ्चरात्र में प्रमाणासिद्ध हैं। यह भी नहीं माना जा सकता कि स्त्री और विधुरों का ब्रह्म विद्या में अधिकार है ही नहीं, क्योंकि स्मृति ग्रंथों में उनके विषय में यह कहा गया है कि जो द्विज नैष्टिक धर्म में आरूढ होकर वाद में च्युत हो जाता है वह आत्महत्यारा है। जिससे यह शुद्ध हो वे ऐसे प्रायश्चित को हम नहीं जानते अर्थात् उनके लिए कोई प्रायश्चित नहीं है।[3] शिष्ट पुरुष उन भ्रष्ये का बहिष्कार ही करते हैं। दूसरे धर्म में व्याध इत्यादि साधक जुगुप्सित नीच

---

1 पशुर्मनुष्यः पक्षी वा ये च वैष्णवसश्रया.।
तेनैव ते प्रयास्यन्ति तद्विष्णोः परमं पदम्।। न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ३०४.

2. सन्यासस्तु महावाद्ये दुःखमाप्तुम योगतः।
योग युक्तो मुनि ब्रह्मा न चिरेणाधिगच्छति।। गीता भाष्य १८/१.

3. आरूढो नैष्ठिकं धर्म यस्तु प्रच्यवतेद्विजः।
प्रायश्चितं न पश्यामि येन् शुद्ध चेत स आत्महा।। – स्मृतिग्रन्थ/न्यायसिद्धाञ्जन पृ० ३०६.

वर्ष मे जन्म लेने पर भी पूर्वाम्फस के कारण उसी प्रकार संसिद्धि को प्राप्त हो गये जिस प्रकार श्रमणी ने सिद्धि पायी।[1] उपनिषदो में ब्रह्म विद्या सुनने की इच्छा वाला ज्ञानश्रुति के विषय में शुद्र ऐसा जो संबोधन किया गया उससे शूद्रों का ब्रह्मविद्याधिकार सिंद्ध नही हो सकता क्योंकि श्रत्रिय जानश्रुति शोकाक्रान्त होने के कारण ही **शोचवीति शूद्रः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार शूद्र ऐसा कहा गया।

न्यासविद्या का निरूपण– उपनिषदों में न्यासविद्या नामक ब्रह्मविद्या वर्णित है। यह न्यासविद्या ही शरणागति कहलाती है श्री भगवान निरपेक्ष रक्षक है। ऐसा अध्यवसाय ही महाविश्वास है। ऐसे महाविश्वास इत्यादि पांच अङ्कों से मुक्त ब्रह्म विद्या ही न्यास विद्या कहीं जाती है।[2] यह विद्या **"ब्रह्मविषयकज्ञान"** विशेष रूप है अतः ब्रह्म् ज्ञानातिरिक्त मोक्षोपायों का निषेध करने वाले वचनों से इसका विरोध नहीं है। ब्रह्म विषयक ज्ञान रूप होने से न्यासविद्या भी मोक्षोपाय मानी जाती है गीता इसका प्रमाण है। **न्यासविद्या ही भक्ति विशेष है।**[3] वही न्यास विद्या प्रपत्ति, अर्थात् ~~शरणागति~~ कहीं जाती है। भगवत्प्राप्ति में भक्ति ही एक मात्र उपाय है ऐसी जो बुद्धि है वही उपाय भक्ति है। इस उपाय भक्ति से साध्य भक्ति (प्रपत्ति) श्रेष्ठ है। साध्य भक्ति प्रायः प्रारब्धों के नष्ट करने की क्षमता रखती है। शरणागति इतर उपायों की अपेक्षा न रखती हुई अभिमत फल का साधन होती है अब मोक्षार्थ शरणागति करने वाले साधकों को मोक्ष के साधन इतर उपायों को त्यागना चाहिए ऐसी स्थिति में त्याज्य इतर उपायों के साथ शरणागति का समुच्चय करनें पर शरणगति के निरपेक्षोपायात में विरोध उपस्थित होगा। यहां मोक्षार्थ की जाने वाली स्वतंत्र शरणगति के विषय में कहा गया है कि इसका भक्ति योग इत्यादि साधनों से समुच्चत नहीं होता। स्वतंत्र शरणगति भगवत्प्राप्ति में विरोधीपापों को नष्ट करने के लिए की जाती है। भक्ति योग मरण पर्यन्त प्रतिदिन वारंबार करने

---

1. धर्मव्याधादयोऽप्यन्ये पूर्वाम्यासाज्जुगुप्सिते।
   वर्णावरत्वे सप्राप्ताः संसिद्धि श्रमणी यथा।। स्मृतिग्रन्थ/न्यायसि० पृ० ३१०.
2. "अध्यवसायादिविशेषविशिष्टान्यासविद्या" – **न्यायसिद्धाञ्जन** पृ० ३११.
3. भक्तया त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
   ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।। गीता ११/५४.

योग्य है, शारणगति, प्रपत्ति न्यासविद्या जीवन में एक ही बार करने योग्य है। प्रकारान्तर से न्यासविद्या कठिनोपाय तथा भक्ति योग सरलोपाय सिद्ध होता है क्योंकि न्यास विद्या के लिए महाविश्वास आपेक्षित है। यहां पर यह दृष्टान्तध्यान देने योग्य है कि एक पुरुष बहुत परिश्रम करके राजा से धन प्राप्त करता है तथा भूल चूक होने पर यथोचित दण्ड होता है दूसरा मनुष्य जो राजा की अन्तरङ् सेवा करने के लिए अधिकृत है थोड़े ही परिश्रम से उससे अधिक धन प्राप्त करता है क्षुद्र अपराधों में क्षमा का विषय हो जाता है एवं महान अपराध में अल्प दण्ड का भागी। नित्य नैमित्तिक कर्मो से पाप का क्षय तथा उससे ज्ञान की उत्पत्ति इत्यादि अर्थ प्रमाणान्तर से ही सिद्ध होते है। शरणागत के प्रति यह कहा गया है कि वह कर्मयोग इत्यादि उपाय और निषिद्ध कर्मरूपी उपायों को त्यागता हुआ मध्यम रीति का आश्रय लेकर जीवन यापन करें। भाव यह है कि एक मात्र श्रीमन्नारायण भगवान को उपाय समझाते समय शरणागति एवं सहाकरी कारणों को उपाय समझना असम्भव है क्योंकि यो दोनों एक साथ नहीं रह सकते भक्ति योग निष्ठ उपासक का प्रारब्ध कर्म समाप्त होते ही जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। दृष्ट प्रयत्न को देहशान्त होते ही मोक्ष प्राप्त होता है, आर्त प्रपन्न को उत्कृष्ट आर्त होने सही मोक्ष प्राप्त होता है।

मोक्षफल– मोक्ष पद पर पहुंचने पर जीव ईश्वर के समान अपहत पापमत्व और सत्य संकल्पत्व इत्यादि आठ गुन्यों से सम्पन्न होता है, यही जीवात्मा का स्वाभाविक रूप है जो सम्पूर्ण प्रतिवन्धकों की आत्यन्तिक निवृति होने पर ही आर्विभूत होता है। मोक्षोपायनिष्ठ साधक का जब चरम शरीर छूट जाता है तब कर्म रूपी प्रतिबन्धक जिससे जीवात्मा के स्वाभाविक अपह्रत पापमत्व इत्यादि रूप तिरोहित हो गये निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार जब सम्पूर्ण प्रतिबन्धक निवृत्त हो जाते हैं तब जीवात्मा के स्वाभाविक रूप का आविर्भाव होता है। स्वाभाविक रूप से आविर्भाव होता है। स्वाभाविक रूप से आविर्भाव के वाद जीव को संसारिक सुख दुख भोगने के लिए पुनरावृत्ति नहीं होती। वह जरा रहित एवं नाश रहित हे। मुक्त जीव के जो भोग वर्णित है वे भोग सांसारिक भोग नहीं किन्तु वे अपाकृत भोग हैं। जिनकी सृष्टि अनायास ही मुक्त के संकल्प मात्र से होती है जो परम पुरुष के भोग के अन्तर्गत है। सृष्टि रक्षा और प्रलय करना मोक्ष देना

मुमुक्षुओ के लिए उपास्य होना तथा शेषी अर्थात् स्वामी बनकर रहना भगवान के असाधारण धर्म है। मोक्ष में जीव को ये धर्म प्राप्त नहीं होते उपर्युक्त भगवद साधारण धर्मो को छोड़कर मुक्त मोक्ष दशा में ज्ञान आनन्द एवं सत्य संकल्प इत्यादि गुणों के विषय में भगवान के अत्यन्त साम्य को प्राप्त होते हैं यही सायुज्यमुक्ति है। इसके अतिरिक्त सायुज्य जो पर वादियों द्वारा कहा जाता है आकम्श कमल के मकरन्द के समान है, अप्रामाणिक है। कई कहीं यह मानते है कि मुक्त जीव ब्रह्म में लय को प्राप्त होता है। वास्तव में मुख्य मोक्ष सायुज्य ही है और सब गौड़ है। परम सायुज्य पाने वाले' के सालोक्य, सामीत्य सारूपातीन, मोक्ष अवश्य प्राप्त होगें।[1] गीता में भी भावान ने कहा कि ज्ञानी मेरे सार्ध्म्य के प्राप्त होते हैं। सायुज्य शब्द का उपर्युक्त अर्थ इन वचनों से समर्थित है।[2]

प्रपत्ति के अनुसार वेंकटनाथ का स्वरूप– भगवान् की कृपा उसके न्याय में निमग्न रहती है, तो भी यह अस्तित्व रखती है और हम उसे विशेष उपाधियों के कारण समझ नहीं सकते। लक्ष्मी को नारायण की प्रीति का परम हेतु माना गया जिन्होंने उनको अपना अङ्ग माना और लक्ष्मी ने भी अपने को इनसे इस प्रकार अभिन्न कर दिया कि उनका, नारायण से पृथक अस्तित्व नहीं है। लक्ष्मी का रूप भगवान की दया का शुद्ध सार है।[3] जब भक्त अपनी स्वतंत्रता एवं पृथक आस्तित्व के मिथ्या विचारो के कारण भगवान् से विमुक्त अवस्था में होता है तब उसे अपनी स्वतंत्रता की मान्यता को त्याग देने एवं भगवान को अपना परम ध्येय मानने हेतु विरोधी दशा में भी प्रयत्न करना पड़ता है। किन्तु एक बार उसने अपने मिथ्या अहंकार को त्यागकर भगवान को पूर्ण रूपेण शरणागत कर लिया तो फिर उसके लिए कोई प्रयत्न करना शेष नहीं रहता। ऐसी अवस्था में लक्ष्मी के प्रभाव से भक्त के सभी पाप नष्ट हो जाते है और उनके प्रभाव द्वारा भगवान् उस पर दया करते हैं।[4] भगवान् खुश होकर उनके कर्म बन्धन का अतिक्रमण कर भक्तों पर आनन्द की वर्षा करते है। जब भगवान् प्रपत्ति द्वारा किसी को स्वीकारतें

---

1. मोक्षं सालोव्य सारूप्यं प्रार्थये न कदाचन्
   इच्छाम्यहं महावाहो सामुज्यं तव सुव्रत।–न्यायसिद्धाञ्जन पृ० ३३४.
2. इदं ज्ञानमुप्राश्रित्य मम् साध्र्म्यमागतः
   सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।। गीता १४/२.
3. देव्या कारूण्य रूप येऽतितद्गुण–सारत्वेन कारूण्यं स्वगमेवेति। श्रीवचन भूषण व्याख्या।
4. प्रपते देश, नियमः काल–नियमः, प्रकार नियम अधिकारि नियमः फल नियमश्चनास्ति।।
   –ब्रह्म क्षत्रविशः शूद्राः स्त्रियश्चान्तर–जातयः। – (श्री वचन भूषण व्याख्या)
   सर्व एवं प्रण्द्येरन् सर्व धातारमच्युतम्।। – (भारद्वाज संहिता)

है तो उसके सभी विहित ओर अविहित दोषों को माफ कर देते है। कुटिलता असरलता और क्रूरता ही वे दोष है जिन्हें वे छमा नहीं करते लोग अपने को निःसहायपाकर, वचने का और कोई उपाय नही होने के कारण प्रपत्ति अपनाते हैं और निश्चित रूप से यह जानते है कि यही श्रेष्ठ उपाय है या उन्हें भगवान् के आर्वारों की तरह ही सहज प्रीति है।[1] भक्ति अपने आप में असाधारण होती है। प्रपत्ति का सार भगवान की शरणगति में निहित निष्क्रिय भाव तथा भगवान को उसके प्रति अनुराग दिखाने का अवसर देनें मे है। जब भक्त इस चिन्ता का अन्तकर देता है कि वह किस प्रकार मुक्त होगा तब भगवान उसे बचाने की इच्छा से प्रवृत्त होते है।[2]

भक्त भगवान के प्रति अपने मृदु प्रेम से उनमें भी वही राग उत्पन्न करता है जिससे प्रेम भाव एक और आनन्दनुभव माना जाय और दूसरी ओर प्रेमी प्रेमिका सम्बन्ध माना जाय। निम्न कोटि की प्रपत्ति सर्वदा स्वाभाविक अनुराग से प्रेरित नहीं होती किन्तु अपनी निःसहायता एवं अकिंचनता के भान से होती है।[3] भक्त एवं भगवान के सम्बन्ध को प्रेमिका का प्रेमी, गोपी एवं कृष्ण की उपमा से समझाया गया है और ऐसा माना गया है कि यह गहरा भाव कामुक प्रेम जैसा है जो प्रेमी और प्रेमिका को विकार की ओर ले जाता है। भक्ति अज्ञान से असम्बन्द्ध एक विशिष्ट प्रकार की चेतना है जो गहन राग के रूप में प्रगट होती है। भक्त विरह पीड़ित स्त्री की सभी अवस्थाओं का अनुभव करता है। भक्त प्रेमी के समस्त भाव, भगवान की प्रीति जगाने के लिए है। प्रपत्ति के लिए मूलतः अहंकार का नाश अवश्य होना चाहिए। अहंकार के नाश द्वारा ही प्रपत्ति के योग्य पूर्ण शारणगति संभावित है।[4]

---

1. भक्ति पार वश्येन प्रपन्नाभगवत्प्रेम–पौष्कल्येन पादौस्तब्धौ मनः शिथिल भवति चक्षुभ्रयति पादौ हस्तौ च निश्चेष्टौ इति उक्त प्रकारेण शिथिल कारणत्वेन साधनानुष्ठान – योग्यता – भावादनन्य गतिकास्सन्तसतस्मिन् भार समर्पण कृतम्। **(प्रीवचन भूषणव्याख्या)**।
2. अस्य इच्छा निवृत्ता चेत् तस्येच्छा अस्य कार्यकारी भवति **(श्री वचन भूषण व्याख्या)**।
3. इसे उपाय अवस्था कहा है जहा भक्त भगवान को अपनी परम प्राप्ति के साधन के रूप मे खोजता है।
4. एवं भूतस्य शरीर स्थिति हेतुः प्रारब्ध कर्मौते नवतु शचयते सर्व–पापेभ्यः मोक्षयिष्यामीत्यनेन विरोधात। **श्री– वचनभूषण व्याख्या**।

भारद्वाज संहिता मे प्रपत्ति को भगवान् मे आत्मासमर्पण कहा है। जो भक्त प्रपत्ति का मार्ग धारण करता है वह वैष्णवों के साधारण धर्म और वर्णाश्रव धर्म से मुक्त नही होता है। भगवत गीता के श्लोक द्वारा **(सर्वधर्मानपरित्यज्य)** १८/६६ में वे कहते है कि भक्त को अपने सभी साधारण धर्म बिना फलाशा के पालन करना चाहिए।[1] प्रारब्ध कर्मो के नाश के विषय में वेंकटनाथ मानते है कि यद्यपि बहुत से कष्ट भगवान् की कृपा से नष्ट हो जाते है तो भी कुछ अंश रह ही जाता है।[2] वेंकटनाथ ने भी न्यासविंशति मे, और न्यायतिलक मे इसी मत की पुनरावृत्ति करतें हैं। वेंकटनाथ के पुत्र वरदनाथ भी न्यायतिलक की व्याख्या और न्यास कारिका में इस मत को दोहराते हैं।

अन्य वैष्णव आचार्यो के मत में प्रपत्ति का स्वरूप

(क) रामानुजाचार्य के अनुसार प्रपत्ति– वेदान्त के शुष्क अध्ययन से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। यह तो पुस्तकों का ज्ञान है तथा जो किसी के द्वारा अनुभूत तथ्य की शाब्दिक पुनरावृत्ति है। ज्ञान के बिना मुक्ति नदी मिलती। मुक्ति के लिए कर्म भी उपादेय है। कर्म के साथ भक्ति के उदय होने में ज्ञान सहकारी कारण है।[3] मुक्ति के उदय होने में भक्ति ही प्रधान कारण है।[4] और भक्ति में पराप्रपत्ति–शरणागति। नारायण की अनुग्रह शक्ति का उदय भक्तों के दीन दशा के निरीक्षण से स्वतः ही होता है।[5] वेदान्तदेशिक ने कपि किशोर के द्रष्टान्त से प्रपत्ति के लिए भक्तों के कर्मानुष्ठान करने पर जोर देते है। प्रपत्ति से भगवान गम्य है उन्हें पाने का दूसरा उपाय नहीं है। अकिञ्चन दीन भाव से भगवान की शरण में प्राप्त होने वाले भक्त के समस्त दुःख भगवदनुग्रह छिन्न भिन्न हो जाते है।[6]

---

1. ऐतच्छलोकापात–प्रतीत्याकर युक्तिमिश्च यथा वर्णाश्रय धर्म स्वरूपत्यागादिपक्षों नोदेति तथा उपपादितम्। –वेंकटनाथ कृत तात्पर्य दीपिका।
2. साध्य भक्तिस्तु सा हत्री प्रारब्धस्यापि भूयसि।–वेंकटनाथ कृत 'रहस्यरक्षा' टीका पृ० ५० वाणी विलास प्रेस १६१०.
3. उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिक भक्तिः योग लश्यः – **यामुनाचार्य**
4. द्रष्टव्य रामानुज–**वेदार्थ संग्रह** पृ० १४५–१४६
5. एव संसृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणे स्वकर्मभिः। जीवे दुःखा कुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते– अहि०सं०१४/२६
6. न धर्म निष्ठोऽस्मिन् चात्मवेदी न भक्तिमान्स्त्वच्चरणारविन्दे। अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं त्वत् पादमूल शरणं प्रपद्ये।। यामुनाचार्य कृत आलवन्दारस्तोत्र पद्य–२५

ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए ईश्वर भक्ति ही मात्र एक अन्यतम साधक है। कर्म और ज्ञान भक्ति के सहकारी है। रामानुज जीवन–मुक्ति की संभावना नही मानते। उनके अनुसार शरीर धारण काल तक हम कार्यो से छुटकारा नहीं पा सकते। ईश्वर ही इसका सबसे प्रिय आधार है, चित्त की इस स्थिति को भक्ति कहते हैं। बुद्धि ही भक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है।[1] बुद्धि परक होने के कारण भक्ति को विशेष प्रकार का ज्ञान कहते हैं।[2] भक्ति ज्ञान की पराकाष्ठा है। ज्ञान की चरम परिणति भगवान के प्रति परम प्रेम में होती है इसे भी भक्ति कहते है। ज्ञानाश्रित अथवा ज्ञानोत्पन्न प्रेम को ही भक्ति कहते है। भक्ति के लिए उपनिषदों द्वारा प्राप्त ब्रह्मज्ञान उपेक्षित है। तत्वबोध प्राप्त किए बिना कोई भी व्यक्ति भक्ति का अधिकारी नहीं होता परन्तु मात्र तत्व बोध से जो प्रेममय नहीं है, भक्ति की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार भक्ति भावपूर्ण ज्ञान है जिससे ईश्वर का ध्यान होता है। ईश्वर के स्वभाव का प्रेमपूर्वक ध्यान करना भी भक्ति है। रामानुज ने ध्यान, उपासना, वेदना (ज्ञान) को भक्ति का पर्यायवाची कहा है। भगवान् के स्वरूप का ध्यान जब तक कि धारा की तरह निरन्तर आबद्ध रहता है तो उसे भक्ति कहते हैं। इसके लिए २ बाते आवश्यक है १. मन पूरी तरह ईश्वर में केन्द्रित हो और २. भगवतस्वरूप का ज्ञान।। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग में समन्वय करते हुए रामानुज कहते है कि भक्ति रूप ज्ञान विशेष की उप्पति पर ईश्वर की अराधना से प्राप्त ज्ञान से मुक्त होकर कर्म या निष्काम कर्म करने से भक्ति योग की सिद्धि हो जाती है।[3] अतः ज्ञान कर्म समुच्चय रामानुज को मान्य है। कहीं–कहीं ज्ञान को ही सर्वोच्च साधन के रूप में माना गया है, वैसे बैरागी और गृहस्थों के लिए साधन में कुछ अन्तर अवश्य होते है।[4] रामानुज दर्शन में भक्ति की तीन अवस्थाएँ है। जिन्हें साधक और साध्य भक्ति के दो रुपों में भी समझा जा सकता है। साधन भक्ति प्राथमिक अवस्था है। योग दर्शन के अष्टाङ् योग इसी साधन भक्ति के अगः है। प्राथमिक भक्ति ज्ञान परक होते हुए भी भक्ति ही कहलाती है। ज्ञान नहीं।[5] पराभक्ति भक्ति की दूसरी अवस्था हैं इसमें साधक

---

1. भक्तिरपि निरतिशयप्रियानन्यप्रयोजनस्वेतरवैतृष्ण्यावहज्ञानविशेष एवं।
2. भक्ति शब्दस्यप्रीतिविशेषेवर्तते। प्रीतिरच ज्ञानविशेषः एव। –वेदार्थ संग्रह पृ० ४४।
3. एवंविधपरभक्ति रूप ज्ञानविशेषस्योत्पादकः पूर्वोहरूपत्री मानज्ञानपूर्वककर्मानुगृहीत भक्तियोगएव। श्री भाष्य पृ० २४ गीताभाष्य १८/७३ भी देखें।
4. देखे – श्रीभाष्य, ३/४/२६.
5. अथ् परा यया तदक्षरमधिगम्यते इत्युपासानाख्यं ब्रह्मसाक्षात्कार लक्षण भक्ति रूपापन्न ज्ञानम्। श्रीभाष्य १/२/२३.

भक्ति से शुद्ध हुए मन के द्वारा भक्त भगवान् का दर्शन प्राप्तकर लेता है। भक्ति की तीसरी उच्चतम अवस्था परमाभक्ति में पर्यवसित् होती है। इस अवस्था मे उत्पन्न ज्ञान ओर प्रेम साधन और उत्कृष्ठ हो जाते है।

भगवान के प्रति भक्ति एवं प्रेम का मानव मात्र को समान अधिकार प्राप्त है। ज्ञान ईश्वर की कृपा से मिल सकता है। शरणागति या प्रपत्ति ईश्वर की अहेतु कृपा के प्राकट्य के लिए आवश्यक परिस्थिति का ही दूसरा नाम हैं। वास्तव में शरणगति जीवात्मा की एक विशेष मनोदशा काही वाचक है। जब जीव ईश्वर को परमलक्ष्य के रूप मे जान लेता है तो उसे ही मोक्ष का सर्वोत्तम उपाय समझने लगता है उस समय वह शरणगति ही मनः स्थिति में होता है। रामानुज ने शारणगति को भक्त के लिए आवश्यक प्रथम चरण एवं भक्ति की चरम् परिणति् दोनों ही रूपो में स्वीकार किया है वे ईश्वर की कृपा को प्राप्त करनें के लिए शरणगति को आवश्यक शर्त मानते हैं। यद्यपि समस्त जीवमात्र ही ईश्वर को समान रूप से प्रिय है तथापि सर्वतो भावेन ईश्वर में शरणागत जीव केवल उसी पर आश्रित होने के कारण उसे अत्यधिक प्रिय होते है।[1] अतः भक्ति की सिद्धि भी शरणगति के माध्यम से ही हो पाती है।

माध्व दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूपः-- जीव मोक्ष के लिए भी परमात्मा के अधीन रहता है। भगवान् के नैयर्गिक अनुग्रह के बिना परतन्त्र जीव साधारण कार्यो का सम्पादन नहीं कर सकता, मुक्ति की कथा तो दूर ठहरी। अपरोक्ष ज्ञान के अन्तर परम भक्ति उत्पन्न होती है उसके **"बाद्परम अनुग्रह"** का उदय होता है तब अन्तर मोक्ष का जन्म होता है। जीव का स्वरूप भेद और भावरूप आनन्दनुभव[2] तथा उस आनन्दानुभय में साधन तारतम्य से मुक्त अवस्था में भी मान्य हैं। वह आनन्द केवल स्वसंवेद्य है। चैतन्य के साथ किसी न किसी प्रकार का आनन्दनुभव मानना जरूरी हो जाता है ऐसी माध्व की मान्यता ही।[3] रामानुज द्वारा कहीं गई मुक्त की ४ अवस्थऍ मध्य को भी मान्य है

1. अवरसाक्षात्काररूपास्मृतिसरमर्यमाणात्यर्थ प्रियत्वेन स्वगमत्यर्थप्रिया गरय सा एव परेणात्मना वरणीयो भवतीति तेनैव लभ्यते पर आत्मेति उक्त भवति। **वेदार्थ संग्रह** पृ० ५३
2. विष्णोर्निरवधिकानन्द सादृशानन्दो मोक्ष इति माध्वाः **मुक्तिवाद** पृ० ८२.
3. ये भोगाः परमात्मना भुज्यन्ते न एव मुक्तैर्भुज्यन्ते। अणुव्याख्यान, ४।७७.

श्रवण, मनन्, निदिध्यासन या समाधि के अतिरिक्त भक्ति ज्ञान का विशेष महत्व है।[1] वस्तुत. कर्म मोक्ष साधन है ही नहीं। परब्रह्म् के साक्षात्कार रूप ज्ञान से ही मोक्ष होता है वर्तमान कलि काल में ईश्वर की भक्ति ही मोक्ष का एक मात्र साधन है। ईश्वर का ध्यान ही सभी पापों का नाश कर सकता है।[2]

मोक्ष की अवस्था में भी जीवों में परस्पर व्यक्तिगत भेद विद्यमान है तथा ईश्वर की पूर्ण एवं निष्काम भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र साधन है। भक्ति द्वारा ही मोक्ष संभव है। मुक्त, जीव भी भक्ति के द्वारा ही सुख के चिरन्तन प्रवाह का उपभोग करते है। भक्ति की यहां पर यह परिभाषा दी गई है वह उपासना के विषय की महानता की पूर्ण चैतन्य से युक्त भावना है।[3] तथा उसे सार्वभौम समाधान का कर्ता माना जाता है। ईश्वर केवल भक्ति से प्रसन्न होता है तथा वही केवल मोक्ष का प्रदाता हैं। मोक्ष सार्व मोक्ष का प्रदाता है। कुछ प्राणी अधिक भक्ति के योग्य हो सकते है और कुछ कम भक्ति के योग्य, किन्तु उससे अन्तिम 'मुक्ति' की प्राप्ति में कोई अन्तर नहीं होता। मोक्ष की प्राप्ति आध्यत्मिक साधनों अर्थात् भक्ति से की जाती है। अतः मुक्त आत्माएं परमेश्वर से पूर्ण सम्पूर्ण में होने के कारण उसके सर्व सुखों का उपभोग करती है और उसकी भागीदार करती है तथा विभिन्न मुक्त व्यक्तियों में आनन्द की श्रेणियों नहीं हो सकती।[4]

निम्बार्क दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप– भक्ति सम्प्रदाय के अनुयायी होते हुए भी निम्बार्क रामानुज के समान ही ज्ञान को महत्वपूर्ण मानते हैं। वस्तुतः ज्ञानात्मक **भक्ति** मानने का कारण यह है कि सभी वेदान्ती वैदिक ज्ञान काण्ड के समर्थक है। फिर भी कर्म आदि को भी महत्व देकर **"कर्मसमुच्चयवाद"**[5] की मान्यता भक्ति सम्प्रदाय के इन वैष्णव आचार्यो की विशेषता रही है। अविद्या या कर्म की निवृत्ति एवं आत्मा और ब्रह्म

---

1. माहात्म्यज्ञानपूर्वक स्नेहोहि भक्तिः **तत्वप्रकाशिका**, अणु ३/२/१.
2. स्मरणादेव कृष्णस्य पापसंघट्टपजरः
   शतधा भेदमायातिगिरिर्वजाहतो गिरिर्वज्रहतो यथा। – **मध्वकृत कृष्णामृत–महार्णव** श्लोक ४६.
3. भक्त्यर्थान्यखिलान्येव भक्तिर मोक्षाया, केवला
   मुक्तानाम् अपि भक्तिर हि नित्यानद–स्व–रूपिणी।
   ज्ञान–पूर्व–पर स्नेहो नित्ये भक्तिर इतीर्यते।– **महाभारत तात्पर्य निर्णय** १/१०६/७.
4. पारतन्त्र्यं परे पुंसि प्राप्य निर्गतवन्धनः
   स्वातंत्र्यमतुलं प्राप्त तेनव सह मोदते।। – **विजयीन्द्र पराजय** पृ० ४३.
5. कर्मणि एवं विविदियोत्पादकत्वेन परम्परया तत्प्राप्तिं साधनी भूतज्ञानोत्पत्युपकारकत्वेन समन्वत इति निश्चीयते। **वेदान्तपारिजात सौरभ** १/१/४.

का स्वरूप ज्ञान मोक्ष है। इसके अतिरिक्त गुरू–आज्ञा अनुवृत्ति–योग भी भक्ति योग का सहयोगी है। इस प्रकार ज्ञान, कर्म, भक्ति, प्रपत्ति और गुरूपसक्ति ये पांचों समन्वित रूप से मोक्ष के साधन है। ज्ञान योग भक्ति योग, कर्मयोग के साथ ही, धर्म, आचार, दर्शन आदि को एक साथ समन्वित करने में इनका अभूतपूर्ण योगदान रहा है। उनका भेदाभेद नाम ही समन्वयांत्मक पद्धति का द्योतक है। विरोधी बातों में संगति स्थापित करना इनका मुख्य उद्देश्य था। अचिन्त्य भेदाभेद, शाक्त मत तथा विज्ञान भिक्षुका मत इनमे काफी प्रभावित रहे।[1]

निम्बार्क मत के साधन का मार्ग शरणगति (प्रपत्ति) है। जीव जब तक भगवान के शरण में नहीं आता तब तक उसका वास्तविक रूप से कल्याण नहीं होता है। प्रपन्न होते ही भगवान् का अनुग्रह जीवों पर होता है। अनुग्रह होने से भगवान के प्रति रागात्मिका भक्ति का उदय होता है। भगवान जिस पर अपनी दया की वर्षा करते हैं वहीं जीव उनकी और आकृष्ट होकर प्रेम करता है। इस प्रेम भक्ति का फल है भगवान से साक्षात्कार। शरीर के साथ सम्बन्ध रहने पर भगवद् भावापत्ति हो नहीं सकती। इसीलिए निम्बार्क मत में भी अन्य वैष्णव मतों के समान विदेह मुक्ति ही मान्य है, जीवन्मुक्ति नहीं।[2]

बल्लभ के दर्शन में प्रपत्ति– भगवान् की प्राप्ति का सुगम उपाय केवल भक्ति ही है। भगवान् के त्रिविध रूप के अनुसार मार्ग भी तीन हैं। आधिभौतिक कर्म योग है ज्ञानमार्ग आध्याम्किक है। ज्ञान के बल पर ज्ञानी अक्षर ब्रह्म को ही प्राप्त कर सकते है परन्तु पर ब्रह्म सच्चिानन्द की उपलब्धि भक्ति के ही द्वारा होती है मर्यादा मार्ग में ज्ञान तथा श्रवणादि साधनों के द्वारा सायुज्य मुक्ति ही ध्येय होती है परन्तु पुष्टिमार्ग में सर्वात्मना आत्मसमर्पण तथा विप्रयोग रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनन्दधाम भगवान का साक्षात् अधरामृत का पान ही मुख्य फल है।[1] अन्यथा भाव के, दुःख तथा जड़ता के

छोड़कर स्वरूप से आनन्द रूप से स्थित होना ही मुक्ति है। यही इन्हें मान्य हैं। भक्ति दो प्रकार की होती है। १. मर्यादाभक्ति तथा पुष्टि भक्ति।। भगवान के चरणारविन्द की भक्ति मर्यादा भक्ति है परन्तु भगवान् के मुरवार बिन्दु की भक्ति पुष्टिभक्ति है। मर्यादा भक्ति में फल दी अपेक्षा बनी रहती है परन्तु पुष्टिभक्ति में किसी भी प्रकार के फल की आकांक्षा नहीं रहती। मर्यादा भक्ति से सायुज्य की प्राप्ति होती है पुष्टि भक्ति से अभेदबोधन की प्रधानतया सिद्धि होती है। यह पुष्टि श्रीभद्‌भागवत् का प्रधान रहस्य है इस मत के 'प्रस्थान चतुष्टमी में, उपनिषद्, गीता, और ब्रह्म सूत्र के साथ भागवत् की भी गणना है। भागवत् का इस सम्प्रदाय में इतना अधिक आदर है कि आचार्य के ग्रन्थों मे अणुभाष्य की अपेक्षा सुबोधिनी की ख्याति कहीं अधिक है।[1]

शास्त्रों का यर्थाथ उद्‌देश्य हरि भक्ति है तथा जो ज्ञानी पुरुष भक्ति का अनुसारण करता है वह सर्वोत्तम है फिर भी ऐसे कई विचार तान्त हो चुके है जो भक्ति–मत के अतिरिक्त का उपदेश देकर भ्रान्ति उत्पन्न करते है। ईश्वर की भक्ति न करके शास्त्रों की उपासना करने से बड़ी अन्य कोई भ्रान्ति नहीं है ऐसे उपासक सदाबन्धन में रहते है और जन्मएवं पुनर्जन्म से पीड़ित रहते है। अपने ज्ञान की पराकाष्ठा सर्वज्ञता है, धर्म की पराकाष्ठा अपने मन का संतोष, भक्ति की पराकाष्ठा तब आती है जब ईश्वर प्रसन्न होता है। मुक्ति की प्राप्ति से जन्म एवं पुर्वजन्म का विनाश होता है। ईश्वर के माहात्म्य के पूर्ण ज्ञान सहित उसके प्रति सुंद्रढ़ एवं सर्वाधिक स्नेह में भक्ति निहित होती है, केवल उसी से मुक्ति हो सकती है अन्यथा नहीं।[2] भक्ति साधना है और मोक्ष साध्य है तथापि साधनावस्था ही सर्वोत्तम होती है, किन्तु वे भक्त जो उक्त अवस्था में प्रविष्ट नहीं होते और न जीवन मुक्ति की अवस्था में प्रविष्ट होते है पर अपनी सर्व इन्द्रियों एवं अन्तः करण से ईश्वर का आनन्द लेते है साधारण गृहस्थ होने पर भी जीवमुक्तों से श्रेष्ठ होते है।[3]

---

1. नाश्रितों बल्लभाधीशो न च द्रष्टासुबोधिनी।
   नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतलो।। शुद्धाद्वैत मार्तण्ड पृ० ५५
2. माहात्म्यज्ञान–पूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः स्नेहों भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा। तात्वर्थदीप– पृ० ६५
3. स्व–तंत्र भक्तानां तु गोपिकादि तुल्यानां सर्वेन्द्रियसो तथाऽन्तः करणै स्वरूपेण चाऽनन्दाभुवः। अतो भक्तानां जीवन–मुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपा–सहितं गृहाश्रमेव विशिष्यते–तत्वदीपन पर बल्लभ की टीका पृ० ७७.

शाण्डिल्य सूत्र में भक्ति को ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति के रूप मे परिभाषित किया गया है। अनुरक्ति राग को कहते है इसीलिए "**परानुरक्तिरीश्वरे**" श्लोक का अर्थ है आराध्य विषय के प्रति परम राग। आराध्यविषयकरागत्वम्।[1] ईश्वर के प्रतिऐसा सहज एवं स्वतः– स्फूर्त अनुराग ही भक्ति कहलाता है।[2] जिस प्रकार ज्ञान के लिए क्रिया की कोई आवश्यकता नहीं होती है उसी प्रकार ईश्वरोन्मुखी इच्छा, भक्ति एव अनुराग से संतुष्ट हो जाती है।[3] भक्ति श्रद्धा से भिन्न होती है जो कर्म का भी उपसाधन बन सकती है। ईश्वर के ऐश्वर्य के प्रत्यय सहित भक्ति मोक्ष को उत्पन्न करती है। भक्ति के आधिक्य से बुद्धि का अवबोध ईश्वर के आनन्द में विलीन हो जाता है।

विविध प्रकार की उपासना अथवा उससे सम्बन्धित कर्म काण्ड भक्ति को उत्पन्न करते हैं किन्तु वे स्वय भक्ति नहीं माने जा सकते। गोपेश्वर जी बल्लभ के तत्व दीप प्रकाश का उल्लेख करते है और उनमें अङ्गीकृत मत् को स्वीकृत करते हैं जिसके अनुसार भक्ति भुज्धातु एवं क्ति प्रत्यय मिलकर पूर्ण अर्थ का निर्माण करते हैं जिसमें प्रत्यय का अर्थ प्रेम होता है और धातु का अर्थ सेवा होता है। प्रेम और सेवा दोनों भक्ति के भावार्थ को निर्मित करते हैं।[4] भक्ति अन्ततः ज्ञान में फलित नहीं होती ज्ञान भक्ति का एक अङ्ग है।[5] पुष्टि भक्ति के अनुगानियों के मत में किसी प्रयास के बिना भगवद् अनुग्रह से भक्ति प्राप्त की जा सकती है।

---

1. शाण्डिल्य सू. १–२ (स्वानेश्वर द्वाराटीका)
2. मच्चिता मद्–गत्–प्राणाबोधयन्तः परस्परं।।
   कथयन्तस्च मा नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।। – तुलनाकीलिए गीता १०/६.
3. न क्रियाकृत्यापेक्षणाज्ञानवत्। (शाण्डिल्य सूत्र १/१/७.) सा भक्तिर्न क्रियात्मिका भवितुमहति प्रयत्नानुवेधाभावत्। (स्वप्नेश्वर पर टीका)।
4. प्रेम पूर्वकं कायिक–व्यापारत्व भक्तित्वम्–अथवा श्री कृष्ण विषयक प्रेम पूर्वक कायिक व्यापारत्वम्– 'भक्तिमार्तण्ड पृ० ७६.
5. अतिगाढ़भावो भेदस्फूर्तिरपि एकोव्याभिचारिभावः।।
   न तु सार्वदिकास्तथा स्वात्मान तत्त्वेन निशिषन्ति।। - भक्तिमार्तण्ड पृ० १३६.

अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रपत्ति का स्वरूप

चार्वाक दर्शन के अनुसार प्रपत्ति— मोक्ष की कल्पना भी विलक्षण है। प्रत्येक क्लेश का निकेतन ही भोगायतन शरीर है। जब तक शरीर है तब तक जीव नाना प्रकार के सकटो को झेलता हुआ जीवन यापन में प्रवृत्त रहता है अतः इस देह के पतन के साथ ही दुःख की आत्यन्तिकनिवृत्ति सद्धि हो जाती है। इस प्रकार मरणमेवापवर्ग (वृ० सू०) मरणको अपवर्ग मानना युक्तियुक्त है। मोक्षावस्था में आत्मा अपने स्वरूप में विद्यमान रहता है परन्तु चार्वाक मत में इसकी उपत्ति नहीं होती है। मोक्ष को भी चार्वाक नहीं स्वीकार नहीं करता। मोक्ष का अर्थ है दुःख विनाश। आत्मा ही मोक्ष को अपनाती है चार्वाक के अनुसार आत्मा नाम की सत्ता नहीं है। आत्मा के अभाव में मोक्ष का विचार स्वय खण्डित हो जाता है। चार्वाक नास्तिक दर्शन भी है। मनुस्मृति तथा हिन्दू परम्परा के अनुसार नास्तिक उसे कहते है जो वेद की प्रामाणिकता को नहीं मानता।[1] आचार्य पाणिनी के अनुसार परलोक को मानने वाला आस्तिक है और न मानने वाला नास्तिक।[2]

भारतवर्ष में उपनिषत्काल से ही मोक्षवाद को स्वीकार कर लिया गया है, इस कारण यहां भौतिकवाद का समुचित सूक्ष्म रूप में विकाश नहीं हुआ। देह से भिन्न कोई आत्मा नहीं इसी लिए पुर्नजन्म स्वर्ग अपवर्ग आदि को मानना भी व्यर्थ है। वास्तव में स्वर्ग एवं नरक कल्पना मात्र है जो शरीर एक बार जल गया उसका पुजर्नन्म कैसे। इसीलिए मनुष्य को चाहिए की जब तक जिये सुख से जिये श्रृण करके भी घी पिये।[3] चार्वाक के पास मोक्षवाद एक उपहास की वस्तु है जब देहावसान के साथ चैतन्य का विलोप हो जाता है तब मृत्यु के पश्चात् आत्मा नाम की कोई सत्ता नहीं रहती। **देहोच्छेदो मोक्षः** देह का नाश ही मोक्ष है। चार्वाक के मत में वैदिक संस्कार

---

1 नास्तिको वेदनिन्दक.। मनुस्मृति २/११.

2. अस्ति! नास्ति दिष्ट मति.। अण्टाध्यायी ४/४/६०.

3. यावज्जीवेतसुखम् जीवेत्ऋण कृत्वा धृतम् पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत.।। - चार्वाकदर्शन। (भारतीय दर्शन, दत्ता एण्ड चटर्जी)

आचार–विचार इत्यादि की कठोर समालोचना की। उनके मतनुसार **"न स्वर्गो नापवर्गे वा नैवात्मा पारलौकिकः। नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः"**। चार्वाक दर्शन के आत्मा विषयक सभी सिद्धान्तो मे एक बात सर्वसम्मत है वह है आत्मा की अनित्यता। आत्मा की इस अनित्यता के कारण चार्वाक पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, कर्मविपाक आदि सिद्धान्तों में विश्वास नही करते उनके मत से जीव की मृत्यु ही उसका मोक्ष है। मृत्यु ही एकमात्र अपवर्ग है मृत्यु के वाद जीव का पुर्नभाव नही होता।

२. जैनदर्शन में प्रपत्ति– अन्य भारतीय दर्शनों की भांति जैन दर्शन भी मोक्ष शास्त्र है। जैन सम्मत मोक्ष साधना में आचार की शुद्धता का विशेष महत्व है। सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक चारित्र्य मोक्षमार्ग है। आत्मा और कर्म पुद्गल की भाँति हैं। इसी प्रकार आत्मा और देह के आत्यन्तिक वियोग को मोक्ष कहते है। उमास्वाति ने समग्र कर्मो के क्षय को मोक्ष नाम से अभिहित किया है।[1] मोक्ष प्राप्त करके ही जीव अपने नैसर्गिक शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और उसमें इन अनन्तं चतुष्टयों की उत्पत्ति सद्यः हो जाती है। मोक्ष मार्गो के इन सोपानों को जैन दर्शन मे **"गुणस्थान"** कहते है। जैन दर्शन में संवर एवं निर्जरा की प्राप्ति को ही वास्तव में मोक्ष का साधन माना गया है। अज्ञान का नाश केवल ज्ञान द्वारा ही हो सकता है अतएव जैनाचार्यो ने सम्यक् ज्ञान को मोक्ष का एक आवश्यक साधन माना है। जैन दर्शन में सम्यक् दर्शन सम्यकज्ञान, एवं सम्यक् चरित्र को त्रिरत्न माना गया वही त्रिरत्न ही मोक्ष का मार्ग है।[2] जबकि मोक्ष की प्राप्ति न केवल सम्यक ज्ञान से सम्भव है। दर्शन एवं चरित्र ही मोक्ष के लिए पर्याप्त है, मोक्ष की प्राप्ति तीनो के सम्मिलित सहयोग से ही संभव है। उमास्वामी के ये कथन प्रमाण है जो त्रिरन्त के नाम से सम्बोधित किए जाते है यही मोक्ष के मार्ग है। मोक्ष मार्ग में सबसे महत्वपूर्ण स्थान सम्यक् चरित्र का ही कहा जा सकता है।

---

1. बन्धहेत्वभाव निर्जराभ्याम्। कृत्स्नकर्मक्षयोमोक्षः (त० सू० १०/५–३)।
2. "सम्यकदर्शनंज्ञानचरित्राणिमोक्षमार्ग" · तत्वार्थधिगम सूत्र १/२/३

बौद्ध के अनुसार प्रपत्ति का स्वरूप– बुद्ध देव नैराश्यवादी नहीं थे। वह यह स्वीकार नहीं करते थे कि दु.ख ही जीवन की चरम परिणति है वह आशावादी थे न कि दु.खवादी। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा है– जिस प्रकार समुद्र के पानी में केवल लवण का स्वाद रहता है उसी प्रकार मेरे दर्शन में केवल मुक्ति का ही स्वाद है। बौद्ध धर्म का "निर्वाण" निर उपसर्गपूर्णक वन या वान शब्द से निषान्न हुआ। बौद्ध धर्म में वन शब्द विशिष्ट महत्तव रखता है यहां वन का अर्थ प्रायः तृष्णा किया गया। और निर्माण का अर्थ तृष्णा से निवृत्त होना अथवा तृष्णा का विरोध क्षय विराग ही निर्वाण है। हीनयानी निर्वाण न्याय सांख्य संमत मोक्ष के समान है, जबकि महायानी निर्वाण वेदान्त मुक्ति का समकक्ष है। निर्वाण कलेशा भाव रूप है। नव क्लेश के आवरण का सर्वथा परिहार हो जाता है तब निर्वाण की अवस्था का जन्म होता है। तृष्णा के निरोध के साथ उपादान का (भाव का) निरोध उत्पन्न होता है पुनर्जन्म के बन्द होते ही सभी दुःख रूक जाते है। जिस प्रकार जलती हुई आग की लौ बुझ जाने पर दिखाई नहीं जा सकती उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त हो जाने के बाद वह व्यक्ति दिखायी नहीं देता।[1] इसमें सन्देह नहीं है कि जीवन दुःख मय है, किन्तु दुःख की निवृत्ति भी मनुष्य अपनी चेष्टा से कर सकता है। दुःख रहने पर भी इससे मुक्ति पाना संभव है। उन्होंने आत्यन्तिक दुःख निरोध को निर्वाण ही संज्ञा दी है। मुक्ति की अवस्था ही निर्वाण है। वासना विल्पुत होने पर जीवन का भी अवसान हो जाता है। बुद्धदेव ने पहले कामना तथा वासना पर विजय प्राप्त करके निष्क्रिय आर्हत जीवन या निर्वाण तथा मृत्यु के उपरान्त महानिर्वाण प्राप्त किया था। यह सत्य है कि निर्वान में चिन्त की कोई कामना या वासना नहीं रहती। चैतन्य भूमि के विलुप्ति होने पर महानिर्वाण होता है। निर्वाण चिन्त की वासना शून्य शान्त अवस्था हैं जिन शिष्यों ने भोग तृष्णा का दमन करके ज्ञान प्राप्त किया है उन्होंने इसी जीवन में निर्वाण प्राप्त कर लिया है।[2] मिलिन्दि और नागसेन के कथोपकथन से यह ज्ञात होता है कि निर्वाण यह शाश्वत शान्तिपूर्ण मुक्त तथा विशुद्ध अवस्था है। निर्वाण प्राप्त होनें पर जीव व्यक्ति सत्ता को खोकर परमात्मा के साथ एकात्मा हो जाता है परम सत्ता के साथ एक हो जाना ही निर्वाण है।[3] निर्वाण एक अचिन्तनीय तथा

---

1. देखें– मिलिदप्रश्न पृ० ६२.
2 सुत्त संग्रह – का पृष्ठ १६५.
3. देखें - राधाकृष्णन कृत, भारतीय दर्शन का पृष्ठ १३२.

अवर्णनीय अवस्था है। उपनिषद् में ब्रह्म के सम्बन्ध में जिस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता है कि वह सत है या असत् उसी प्रकार निर्वाण के सम्बन्ध में भी कुछ कहना असम्भव है। निर्वाण तक पहुंचने के लिए अष्टाङ्गिक मार्गों को बताया गया जिनमें, सम्यकदृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यकवाक, सम्यककर्मान्त, सम्यग्रजीव, सम्यकव्यायाम्, सम्यक स्मृति, और सम्यक समाधि। समाधि की पहली अवस्था में मन को केवल मात्र निर्दिष्ट विषय में निबद्ध रखना पड़ेगा एवं बाद मे उसकी चिन्ता में समाहित रहना पड़ेगा। अन्तिम अवस्था में परम निर्वाण प्राप्त होता है प्रज्ञा का आविर्भाव होता है। साधक संसार और जीवन के असारता की उपलब्धि करता है वह कामना तथा वासना से मुक्त होकर जरामरण के वंश से चिरमुक्ति प्राप्त करता है। संयुक्त निकाय में इसे शान्तप्रणीत, समस्त उपधियों का निरुद्ध होना तृष्णाक्षय कहा गया है।[1]

न्याय दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप– न्याय दर्शन के अनुसार मनुष्य का परम लक्ष्य अपवर्ग है। अपवर्ग जन्म रूप दुःख का सदा के लिए छूट जाना है अर्थात् दुःख का अत्यन्त धन अपवर्ग है।[2] अत्यन्त का अर्थ यहां पर प्राप्त जन्म का परिहार तथा भावी जन्म का अभाव। प्राप्त जन्म का उच्छेद हो जाने से भावी जन्म नहीं होता। इसीलिए अपवर्ग को जन्म का अत्यन्त विक्षोह कहा है।

मोक्ष या अपवर्ग के उपाय को न्याय दर्शन में तत्वज्ञान कहा गया है। मिथ्याज्ञान तत्वज्ञान से नष्ट होता है मिथ्या ज्ञान के नष्ट होने से राग द्वेष और मोह नष्ट होते है। दोष के नष्ट होने से प्रवृत्ति नहीं होती प्रवृत्ति के नष्ट होने पर जन्म नही होता। और जन्म के नष्ट होने से दुःख नहीं होता।[3] इस प्रकार मिथ्याज्ञान दोष, प्रवृत्ति जन्म और दुःख के क्रमिक नाश से अपवर्ग की प्राप्ति होती है। आत्मा का अपने स्वाभाविक रूप में अनन्त काल के लिए अवस्थान ही सर्वसम्मत में मोक्ष है। इसी लिए आत्मा के वास्तविक स्वरूप का विवेचन ही मोक्ष के स्वरूप के विवेचन का अर्थ है।[4]

---

1. संयुक्त निकाय, १३/५.
2. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग – देखें (न्याय सूत्र–१/१/२२१)
3. दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायाद अपवर्गः न्यायसूत्र १/१/३.
4. न्याय भाष्य, भाग–२, पृष्ठ ८०.

न्याय दर्शन के अनुसार जीवात्मा नित्य, विभु, जड़, अनेक तथा शरीर एवं मन के संयोग आदि के कारण ज्ञान, इच्छा आदि गुणों से सम्पन्न द्रव्य है। इनमें से नित्यता, जड़ता विभुता तथा अनेकता तो आत्मा के स्वाभाविक रूप है। न्याय दर्शन की द्रष्टि में आत्मा का अपवर्ग ही मोक्ष है। मोक्ष की दूसरी परिभाषा **"अशेषविशेषगुणोच्छेदोंगोक्षः"** भी नैयायिको में प्रसिद्ध है।[1]

आत्मा का मिथ्या ज्ञान (संस्कारस्मरण) दोष (राग, इच्छा, द्वेष, मोह) प्रवृत्ति (मानसिक शारीरिक और वाचिक प्रवृत्ति) धर्माधर्म जन्म दुःख। इन्हीं के कार्य कारण परम्परा को संसार कहते है। इसीलिए दुःख निवृत्ति का अर्थ दुःख और उसके कारण की निवृत्ति है।[2] प्रवृत्ति के अन्त से जन्म का और जन्म के अन्त से दुःख का अन्त सदा के लिए हो जाता है। यही अपवर्ग की प्राप्ति का साधन है।[3] अपवर्ग की प्राप्ति के लिऐ ईश्वर का मनन चिन्तन भी आवश्यक है।[4] अपरनिःश्रेयस् को ही जीवन्मुक्ति और परिनःश्रयेस को **विदेहमुक्ति** कहते है। वद्धमूल तत्व के साक्षात्कार से मिथ्याज्ञान के निवृत्त हो जाने पर साधक की प्रवृत्ति रुक जाती है तब जीवन्मुक्ति होती है।[5] जब प्रतिरोधक कर्म के उपभोग से प्रारब्ध एवं सञ्चित कर्मों का भी अन्त हो जाता है तब साधक का शरीरादि के साथ सदा के लिए सम्बन्ध छूट जाता है। वह स्वरूप प्रतिष्ठत हो जाता है। यही अवस्था पर निःश्रेयस या विदेहमुक्ति की होती है।[6]

वैशैषिक दर्शन में प्रपत्ति– वैशेषिक की आचार मीमांसा न्याय के मीमांसा के समान ही है मोक्ष की कल्पना एवं प्राप्ति के उपाय न्याय दार्शनिकों जैसी ही है। कणाद् के अनुसार मोक्ष की परिभाषा भी नैयायिक कल्पना के ही अनुरूप है। तब अदृष्ट के अभाव होने पर कर्म चक्र की गति का अपने ही आप अन्त हो जाता है तब आत्मा का शरीर से सम्बन्ध दूर जाता है और जन्म मरण की परम्परा भी उसी के साथ बन्द हो जाती है। साथ ही सब दुखों का नाश हो जाता है यही मुक्ति है।[7] जब तक कर्म का

---

1. न्याय सूत्र १/१/२२.
2. तात्पर्य टीका, पृ० २३८, १/१/२२
3 न्याय सूत्र १/१/२. तथा न्याय भाष्य आदि।
4 प० ध० सं० पृ० १८ न्याय कु० प्र० पृ० १२
5. तात्पर्य टीका १/१/२ पृ० ७१.
6. ता० टीका०. १/१/२– पृ० ७२.
7. द्रष्टत्व – वैशेषिकसूत्र – ५/२/१८.

कोई अश शेष रहता है तब तक उराको फल भोगने के लिए जन्म धारण करना ही पड़ता है। इस प्रकार का मोक्ष तत्वज्ञान से ही संभव है प्रथमतः मनुष्य में तत्वों के जानने के लिए श्रद्धा होनी चाहिए, बिना श्रद्धा के जिज्ञारा। का उदय नहीं होता तब तक तत्वज्ञान का भी उदय नहीं होगा। इस प्रकार कुलीनता, श्रद्धा तथा जिज्ञासा ये सब ज्ञान के आवश्यक साधन हैं। श्रवण मनन निदिध्यारान, तथा साक्षात्कार से तत्वज्ञान की उत्पत्ति होती है। साक्षात्कार होने पर जीव भवबन्धन से मुक्त हो जाता है अतः तत्व ज्ञान ही मोक्ष का परम साधन है। योगाभ्यारा प्राणायाम आदि साधन भी नितान्त आवश्यक है।[1] प्रवृत्ति की न्याय सम्मत व्याख्या वैशेषिकों को मान्य है। आज मोक्ष की कल्पना में प्रचलित नैयायिकों तथा वैशेषिकों में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। भासर्वज्ञ[2] तथा सर्वसिद्धान्त संग्रह है[3] के मतानुसार आनन्द रूपा मुक्ति को मानने वाले एकदेशी नैयायिक अवश्य ये परन्तु वैशेषिकों ने सर्वदा दुःखात्यन्तानिवृत्ति और आत्मविशेष गुणोच्छेदरूपा मुक्ति ही अगींकृत की ही[4] अर्थात् मुक्ति में दुखों का आत्यन्तिक नाश हो जाना है, आनन्द का उदय नहीं होता और आत्मा अपने विशेष गुणों से विहीन हो जाता है।

सांख्य दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप– सांख्य संसार को दुःख मय मानता है। जरा, मृत्यु रोग, जन्म इत्यादि सांसारिक दुःखों का प्रतिनिधित्व करते है। सांख्य ने ज्ञान को मोक्ष का साधन बताया है ज्ञान के द्वारा ही आत्मा और अनात्मा का भेद विदित हो जाता है। मोक्ष की प्राप्तिकर्म से संभव है। सांख्य के कुछ अनुयाइयों ने इसको पाने के लिए अष्टाङ्गमार्ग के पालन का आदेश दिया जो योग के अष्टाङ् मार्ग है। मोक्ष प्राप्ति के साथ ही प्रकृति के सारे विकारा रूप जाते हैं। सांख्य दो प्रकार की मुक्ति को मानता है। १. जीवन मुक्ति २. विरहे मुक्ति, जीव को ज्यों ही तत्त्वज्ञान का अनुभव होता है, अर्थात् पुरुष और प्रकृति के भेद का ज्ञान होता है त्यों ही वह मुक्त हो जाता है। जीवन मुक्ति का अर्थ है जीवन काल में मोक्ष की प्राप्ति इसें सदेह मुक्ति भी कहते है। क्योंकि

---

1 उपस्कार सूत्र – ६/२/१६.
2. न्यायसार पृ० ४०–४१.
3. नित्यानन्दानुभूतिः स्यान्गोक्षे तु विषयादृते ६/४१.
4. दग्धेन्धनानलवदुपशमों मोक्षः (प्र० प्रशरतपाद भाष्य पृ० १४४)।

इस मुक्ति में देह विद्यमान रहता है। अन्तिम मुक्ति जो मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होती है विदेह मुक्ति कहीं जाती है। इस मुक्ति की प्राप्ति तब होती है। जब पूर्व जन्म के शेष कर्मो के फलो का अन्त हो जाता है। विदेह मुक्ति के फलस्वरूप सूक्ष्म एवं स्थूल दोनो प्रकार के शरीरों का नाश हो जाता है और इस प्रकार पुनर्जन्म का क्रम समाप्त हो जाता है। साख्य शास्त्र मूलत. मोक्ष शास्त्र है इसके लक्ष्य का निरूपण करते हुए ईश्वर कृष्ण कहते है कि **दुःखत्रया भिधाताज्जिज्ञासातद्पघ्नत हेतो।**[1] तीन प्रकार के दुःखों के अभिघात के कारण उनके विनाश के हेतु के निमित्त जिज्ञासा होती है। आध्यात्मिक दुःख वे है जो जीव के शरीर अथवा मन में उत्पन्न होते है। शरीर में ज्वर अतिसार वेदनादि की उत्पत्ति शरीरिक दुःख है।[2] तथा प्रिय का वियोग एवमं अप्रिय का संयोग आदि मानसिक या अध्यात्मिक दुख है। आधिभौतिक दुख वे है जो पशु पक्षी वृक्षादि भौतिक पदार्थो के कारण उत्पन्न होते है जैसे सांप का काटना, विद्युत करेन्ट से मृत्यु होना आदि। आधिदेविक दुःख वे है जो किसी देव शक्ति के कुपित होने पर प्राप्त होते है जैसे भूतप्रेतादि बाधा। इन सभी दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही प्राणिमात्र का परम पुरुषार्थ है जिसे मुक्ति मोक्ष आदि विभिन्न नामो से बतलाया गया है।

दुःख दूर करने के उपायों के बारे में सांख्य की धारणा है कि यद्यपि आयुर्वेदादि शास्त्र से शारीरिक कष्ट की निवृत्ति होती है। इसी प्रकार यज्ञादि कर्मो से भी दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति संम्भव नहीं क्यों कि श्रुति में कर्मो के फलस्वरूप अपवर्ग के क्षय का वर्णन मिलता है जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है।[3]

ईश्वर कृष्ण के अनुसार मोक्ष केवल तत्वज्ञान से ही हो सकता है। **"व्यक्त"**, **"अव्यक्त"** और 'ज्ञ' इन तीन तत्वों का भली भाँति ज्ञान हो जाते पर मनुष्यकों दुख त्रय से सदा के लिए मोक्ष मिल जाता है। इसीलिए ईश्वर कृष्ण ने अपनी उनहन्तरवीं

ाख्य कारिका–१

ांख्य कारिका (१) पर गौडपार की टीका।

'वमेवामुत्र पुष्यजितो लोक क्षीयते। – छान्दोग्य पृ० ८/१/५.

कारिका में सांख्य को पुरुषार्थ ज्ञान कहते है। सांख्य के पच्चीस तत्वों का भली भांति ज्ञान प्राप्त करते हुए अपने को प्रकृति के विकारों से विलग समझना ही जीव की विवेक बुद्धि है यही सांख्य का मुक्ति मार्ग है। ज्ञान से अपवर्ग की तथा अज्ञान से बन्ध की प्राप्ति होती है।[1] बन्ध मोक्ष की व्यवस्था वास्तव में प्रकृति की है पुरुष की नहीं।[2]

चिन्मय पुरुष निगुनि तथा निष्क्रिय है। नित्य तथा सदामुक्त हैं **"वन्द्धोविपर्ययात"** मिथ्याज्ञान से बन्धन होता है। जब सत्व प्रधान बुद्धि जगत तथा पुरुष का स्वरूप राग उत्पनन करता है तब विवेक ज्ञान का जन्म होता है। हमनित्य बुद्ध, शुद्ध तथा मुक्त है हम कर्तातथा भोक्ता नहीं है कुछ भी हमारा नहीं है हमारी कोई क्रिया नही हैं प्रकृति सब क्रिया तथा भोक्ष का कारण है इस प्रकार का ज्ञान विवेक ज्ञान है **"ज्ञानान्मुक्तिः"** विवेक ज्ञान से मुक्ति होती है। संयोग का विच्छेद ही मुक्ति है। **'यद्वा'** तद्वा तदुच्छितिः तदुच्छितिः पुरुयार्थः। संयोग की उच्छिति ही पुरुयार्थ है प्रकृति के संयोग के फलस्वरूप पुरुष का बन्धन तथा दु:ख भोग होता है एवं संयोग विनाश से उसकी मुक्ति होती है। जब चित्त प्रकृति में लीन हो जाता है एवं उसके ज्योतिषमान् आत्मा का प्रकाश होता है यही आत्मा का प्रकाश ही मुक्ति है। पूर्वजन्मकृत कर्म का फलभोग समाप्त होने पर वह चिरमुक्ति प्राप्त कर लेता है। सांख्यकार जन्मान्तरवाद में विश्वास करते है जीव के कर्म लिङ्ग शरीर मे संस्कार की सृष्टि करते है। मोक्ष प्राप्त होने पर पुरुष का पुनर्जन्म में ही होता। मुक्त अवस्था में जीव अपने चिन्मय स्वरूप में अवस्थान करता है।

योग दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप– योगसाधना के अभ्यासी की कृतकृव्यता कैवस्च प्राप्त करने में है जीवन की सफलता एवं परिपूर्णता इसी में है। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिकूल वेदनीय दुःख से छुटकारा चाहता है। उपविद्यादि दोषों के कारण पुरुष का अपने स्वाभाविक रूप का विस्मरण करके बुद्धिगत धर्मो को अपनाना उसका बन्ध है। अतएव जब अष्टाङ् मार्ग के अनुशरण से साधक समाहित चिन्त होकर अभ्यास और

---

1 ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः। **सांख्य कारिका ४४.**

2 तस्यन्न बध्यतेऽद्धा न् मुच्यते नापिसंसरति कश्चित्।
ससरति–बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः। **सांख्य कारिका ६२.**

वैराग्य के द्वारा चित्त की निरुद्ध भूमि अथवा असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करता है तब उसके समस्त क्लेश संस्कारो सहित दग्ध बीज के समान निःशक्त हो जाते है। चित्त्वृत्तियों के निरोध के बाद योगी को चित्त वियोग होता है इस वियोग की प्राप्ति होने पर पुरुष अपने बुद्धि को सत्व से भिन्न समझता है जिसे **"सत्वपुरुषान्यथाख्याति"** भी कहते है। अपने वास्तविक शुद्ध ज्योर्तिमय चित् स्वरूप में सदा के लिए प्रतिष्ठित[1] हो जाता है यही पुरुष को मोक्ष है।

कैवल्य ही ऐसी अवस्था है जिससे निश्चित रूप से पूरी तरह दुःख का नाश करने की सामर्थ्य है। मोक्ष मुक्ति आदि इसके पर्याय हैं। योग दर्शन के अनुसार पुरुषार्थ शून्य गुणों का प्रतिप्रसव तथा पुरुष का स्वरूपावस्थान मोक्ष हैं तात्पर्य यह है कि पुरुष के स्वरूप मे अवस्थित हो जाने पर उससे सम्बन्धित बुद्धि (प्रकृति) भी मुक्त हो जाती है और पुरुष भी।[2] त्रिगुणात्मक सृष्टि के दो प्रयोजन है भोग और मोक्ष। पुरुष के भोग के पहले त्रिगुणत्मिका प्रकृति इसके समक्ष विषय उपस्थापित करती हैं, भोग के वाद उसका कार्य है पुरुष के लिए मोक्ष का सम्पादन करना। प्रारम्भ कर्म द्वारा क्षय होने पर देहपात के पश्चात् विदेह मुक्ति होती है। इस प्रकार **"केवलस्य भावः कैवल्यम्"** अर्थात् पुरुष की केवलता अथवा **स्वस्वरूपावस्थिति**[3] की पद्धति समझ में आती है। पुरुष को मुक्त करके बुद्धि भी निवृत्ति हो जाती है।[4]

मोक्ष प्राप्ति के साधन में अष्टाङ् योग प्रमुख है जिनमें क्रमशः यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा ध्यान, समाधि की, गणना की गई है। धारण ध्यान और समाधि का सीधा सम्बन्ध योग से है पहले पांच अर्थात् यम से प्रत्याहार तक योग के साक्षात् सम्बन्धी नहीं है ये मात्र धारणा, ध्यान और समाधि की तैयारी के हेतु हैं। पहले पांच को बहिरङ्ग साधन और अन्तिम तीन को अन्तरङ्ग साधन कहा गया। इनके पालन से चित्त का विकार नष्ट हो जाता है तभी तत्व ज्ञान में इसमें वृद्धि होती है। तभी मोक्ष प्राप्त होता है। सत्व पुरुष के द्वारा चित्त की शुद्धि में साम्य होनाा कैवल्य है।[5]

---

1 योगसूत्र – १३, ४, ३४.

2 देखे – **तत्तवैशारदी अन्तिम** अनुच्छेद।

3 तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। **योगसूत्र** १/३

4 पुरुषार्थ शून्याना गुणाना प्रतिप्रसव कैवल्य स्वरूपप्रतिष्ठा वाचितिशक्तेरिति। **योग सूत्र** ४/३३

5. सत्व पुरुषयो. शुद्धि साम्ये कैवल्यम्– **योग–३/५५.**

समाधि का दूसरा रूप असम्प्रज्ञात कहा जाता है। इसमें ध्यान का विषय ही लुप्त हो जाता है। इस अवस्था मे आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान लेती है। इस अवस्था की प्राप्ति के साथ ही साथ सभी प्रकार के चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। इस समाधि में ध्यान की चेतना का पूर्णतः आभाव रहता है। इसी लिए इस समाधि को निर्वीज समाधि भी कहा जाता है। यही आत्मा के मोक्ष की आवस्था है। अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए योगाम्यास आवश्यक है।

मुक्तावस्था में पुरुष आपने चिन्मय स्वरूप में प्रकाशमान रहता है। निर्गुण तथा निष्क्रिय पुरुष चित्त के संस्पर्श में आकर शोक दुःख का भोक्ता होता है। इसके अतिरिक्त सांख्य तथा योग शास्त्रों के मन में अविमिश्र सुख संभव भी नहीं है क्योंकि जिस सत्तगुण से सुख की उत्पत्ति होती है। वह रज तथा तम के बिना रह नहीं सकता। तम विषादात्मक, दुःख दायक है तथा सर्वविध सुख दुःखमिश्रित होता है यद्यपि मुक्ति की अवस्था आनन्द की अवस्था नहीं है तथापि यह एक चिरदुःखानिवृत्ति की अवस्था है।

मीमांसा दर्शनमें प्रपत्ति का स्वरूप– मोक्ष के महत्वपूर्ण विषय का विवेचन मीमांसको न बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से किया है। मोक्ष की परिभाषा थोड़े शब्दों में इस प्रकार है। **"प्रपञ्चसम्बन्ध विलयों मोक्षः"** जगत के साथ आत्मा के सम्बन्ध विनाश का नाम मोक्ष है। भोगायतन शरीर, भोगसाधन इन्द्रिय, भोगविषयपदार्थ, इन तीन प्रकार के बन्धनों के आत्यन्तिकनाश को मोक्ष कहते है।[1] आत्यन्तिक का अभिप्राय है पूर्वोत्पन्न शरीर इन्द्रिय और विषयों का नाश हो जाना है। परन्तु बन्धन के उत्पादक धर्माधर्म के सम्पूर्ण नाश है जाने के कारण भविष्य में इनकी उत्पत्ति भी नहीं रहती। मीमांसा प्रपञ्च सम्बन्ध विलय को मोक्ष मानता है। स्वप्न प्रपञ्च के समान यह संसार अविद्या निर्मित है अविद्या के विलीन होने पर जगत की सत्ता नहीं रहती। प्रपञ्च का ही विलय हो जाता है।[2] मुक्ति अनवरत कार्य की दशा है जिसमें क्रिया को छोड़कर अन्य फल की आकाक्षा रहती ही नहीं।[3]

---

1. बोधा हि प्रपञ्चः पुरुष बध्नाति– भोगायतन। शरीरम्, भोगसाधनानिइन्द्रियाणि भोग्यः शब्दादयो विषयाः। भोगइति च सुखदुःखाविषयोऽपरोक्षानुभव उच्यते, तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धनस्य आत्यन्तिकी विषयो मोक्ष (**शास्त्र दीपिका** पृ० ३५८ -- मीमांसा के अनुसार)।
2. अविद्या निर्मितो हि प्रपञ्च स्वप्नप्रपञ्चवत् प्रबोधनेनैव ब्रह्मविद्यया अविद्याया विलीनायां स्वयमेव विलीयते– शा० टी० पृ० ३५६ वेदान्त के अनुसार।
3. प्रकरण पञ्चिका पृ० १८०–१९०.

मोक्ष की दशा में आत्मा को आनन्द का अनुभव नहीं होता।[1] इनके अनुसार चैतन्य आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है। मोक्ष की दशा के आत्मा शरीरादिकों से विच्छिन्न जैसा हो जाता है। काम्य और निषिद्ध कर्म बन्धन रूप होते है। परन्तु नित्य नैमित्तिक कर्म इस दोष से रहित हैं इनका अनुष्ठान नितान्त आवश्यक है यही मोक्ष के साधक है। कर्तव्य शास्त्र की द्रष्टि से मीमांसा ज्ञान कर्ममुच्चय को मानता है। इस दृश्यमान जगत के साथ आत्मा के सम्बन्ध का विनाश होना ही मोक्ष है। शरीर तो भोगायतन है। इन्द्रियां भोग साधन है और पदार्थ भोग विषय है। इन तीन प्रकार के बन्धनों के आत्यन्तिक नाश के मोक्ष कहते है।[2] मोक्षावस्था को पाने के लिए कर्म ही प्रधान कारण है और आत्मज्ञान सहकारी कारण है अतः मीमांसा दर्शन ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी है।[3] मुक्तावस्था में जीव की सत्तामात्र रहती है जो सत् और अकारण है। अतः इनके मत में भी ज्ञानकर्म समुच्चम को ही स्थान प्राप्त है।[4] यह वह अवस्था है जिसमें आत्मा सुख दुख से परे अपने यथार्थ स्वरूप में रहती है।[5] परवर्ती मीमांसाको ने मोक्ष को पुरूषार्थ माना है। शास्त्रदीपिका में सत्ता, द्रव्यत्व, एवं ज्ञान शक्ति को आत्मा का स्वामातिक रूप माना गया है। जिसमें प्रतिष्ठित होने पर वह मुक्त कहलाती है।[6] मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान और कर्म से संभव है अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान और कर्म दोनों आवश्यक है प्रभाकर और कुमारिल के मोक्ष विचार में आत्यधिक, समता है। मीमांसाकों मत में आत्मा ज्ञान तथा वैराग्य मुक्ति लाभ का एक मात्र उपाय है।

वेदान्त दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप-- अद्वैत में मुक्ति के कई पर्याप है, आत्मा लाभ, आत्म ज्ञान, अविद्या निवृत्ति, किन्तु इन सबका तात्पर्य एक ही है जिससे सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मतत्व सीमित, दुःखी कर्ता एवं भोक्ता दिखाई पड़ता है। इस अध्यास का निराकरण ही मोक्ष है। नित्य पदार्थ किसी क्रिया का साध्य ही होता इसीलिए

---

1 मुक्त दशा में आनन्द की सत्ता— दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः।
सुखस्य मनसा मुक्तिर्मुक्ति रूक्ता कुमारिलै। मा० मे० पृ० २६२

2. मीमासा न्याय प्रकाश पृ १६० त० रि० रि० म० म० चिन्नस्वामिशास्त्री

3. श्लोक वार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार १०६, १०७ शास्त्र दीपिका पृ० १२५ १२८

4. भाट्ट चिन्तामणि गागा भट्ट पृ० ५५–५६

5. देखे शास्त्र दीपिका – पृ० १२५–१३१

6 यदस्य स्वं नैजरूप ज्ञानशक्तिसत्ता द्रव्यत्वादि तस्मिन्नवतिष्ठते। शास्त्रदीपिका १२५–१३०.

मोक्ष कर्म द्वारा साध्य नही है। शंकर के अनुसार आत्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है।[1] साथ ही अविद्या की निवृत्ति भी मोक्ष है वही ब्रह्म की **प्राप्ति है मोक्ष** और अविद्या निवृत्ति एक ही है।[2] आत्मा प्राप्ति का दूसरा नाम ही ब्रह्म् प्राप्ति है। शंकराचार्य इसके घोर विरोधी है कि मोक्ष की प्राप्ति कर्म से या ज्ञान कर्म समुच्चय से हो सकती है। कर्म से निष्पन्न होने वाला कोई भी पदार्थ नित्य नहीं होता जब कि मोक्षावस्था नित्य है।[3] शंकराचार्य मानते है कि ज्ञान का कार्य अविद्या निवृत्ति मात्र है। इसी अर्थ में मोक्ष को ज्ञान का कार्य कहा जाता है।[4] नित्य होने के कारण आत्मा में किसी विकार की भी सभावना नहीं है इसीलिए मोक्ष विकार्य रूप कार्य भी नहीं है। चूंकि मोक्ष कार्य नहीं है इसीलिए उसे किसी क्रिया या कर्म का फल नहीं कह सकते।[5] काम्य कर्मो को छोड़कर शेष सब तरह के कर्म आत्मा ज्ञान की उत्पत्ति का हेतु बनते हुए मोक्ष के साधन होते है।[6]

वेदान्त मानता है कि केवल ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है **"ज्ञानदेव मुक्ति"** बिना ज्ञान के मोक्ष नहीं मिलता, **"ऋतेज्ञानात् न मुक्तिः"** इस मार्ग को ज्ञान मार्ग कहते है। ज्ञान मार्ग में तीन सोपान है, श्रवण, मनन, निदिध्यासन,। श्रवण के अधिकारी को चार योग्यताएं आवश्यक है जो साधन चतुष्टयं कहीं जाती है। १. नित्यानित्यवस्तुविवेक, २. **"इहाभुत्रार्थफलभोगविरागः"** ३ शम दम उपरति वितिक्षा समाधान तथा श्रद्धा, ४. मुमुक्षा। इन चार साधनों से युक्त साधक को उपनिषद् का नित्य नियमित स्वाध्याय करना चाहिए। मण्डनमिश्र और वाचस्पतिमिश्र ज्ञानमार्ग के इसी रुप को मानतें हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार श्रुतिज्ञान से जीव परमात्मा को जानता है फिर वह युक्ति से उस ज्ञान को व्यवस्थित करता है तत्पश्चात् वह शकाहित इस श्रुक्ति ज्ञान का सतत् ध्यान करता है।[7] इस प्रकार श्रुति से परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है जो अपरोक्ष ज्ञान में परिणत हो

---

1. स्वात्मन्यवस्थान मोक्ष तैत्तरीय उ० भाष्य – १/११.
2. अविद्यापगमयात्रत्वात ब्रह्मप्राप्ति फलस्य। बृहदारण्यक उ० भा० १/४/१० फल च मोक्षोविद्यानिवृत्तिर्वा
3. नहि क्रियानिर्वृत्तोऽर्थो नित्यो दृष्टः नित्यश्च मोक्षोऽभ्युपगम्यते।। ब्रहदारण्यक उ० मा० ४/४/६.
4. अज्ञान व्यवधान निवर्तकत्वाज्ज्ञानस्थ मोक्षो ज्ञान कार्यमित्युच्यते–बृहदारण्यक उ० मा० ३/२/१३.
5. देखे ब्रह्मसूत्र भाष्य–१/१/४ तु० वी० उत्पाद्य भाप्यं संस्कार्यं विकार्य च क्रियाफलम्।
   नेदं मुक्तिर्यतस्तरामात्कर्म तस्या न कारणम्।।–नैष्कर्म्य सिद्धि १/५३
6. देखें – शंकर सिद्धान्त सग्रह सपादक न० कि० देवराज तथा नी० हिरेमठ, हिन्दू इ० वि० वि० वाराणसी १६७१ पृष्ठ – ११३.
7. श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभाव गृहीत्वा युक्ति मयेन स व्यवस्थाप्यते।
   तस्मात् निर्विचिकित्सा शाब्द ज्ञान [illegible] हेतु (भामती) १/१/१.

जाता है। भामती, प्रस्थान मे ज्ञानोत्पत्ति के इन तीनो को हेतु मना जाता है। विचरण–प्रस्थान में श्रवण को ही प्रधान हेतु माना जाता है तथा उत्तरवर्ती काल में होने वाले मनन् तथा निदिध्यासन को उसमें मात्र आराध्य उपकारक माना गया।[1]

मनन् के लिए वेदान्त में अनेक विधियां बताई गई है जिनमें से मुख्यविधि अध्यारोप तथा अपवाद के द्वारा प्रपंचरहित ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना है।[2] यह विधि अर्द्वत वेदान्त की अपनी दार्शनिक प्रणाली है। शुद्ध ज्ञान मार्ग के अतिरिक्त कुछ वेदान्ती भक्ति मार्ग को मोक्ष मार्ग मानते है। वेदान्त परिभाषा में कहा गया है कि सगुणोपासना चितैकाग्रता, के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म के साक्षात्कार में हेतु है।[3] जब सद्योमुक्ति मिलेगी तो वह ज्ञान से ही मिलेगी। इस प्रकार ज्ञान के वाद भक्ति संभव नहीं है। ज्ञान के अनन्तर मोह शोक आदि भाव नहीं रह जाते। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने इस पराभक्ति और पराज्ञान का अच्छा समन्वय किया है। उनके कारण अद्वैत वेदान्त में भक्ति के सम्मानपूर्ण स्थान मिल गया। सर्वमान्य यह है कि भक्ति का लक्ष्य ज्ञान है। **"भक्ति ज्ञानायकल्पते"** ज्ञान का फल नित्यसिद्ध है। कर्म का फल उत्पाद्य संस्कार्य आप्य, तथा विकार्य है और ज्ञान का फल ऐसा नहीं है।[4] नित्य कर्म न करने से प्रत्यवाय या विघ्न होता है। शंकर कहते है जो नित्य कर्म करता है उसका अतः करण संस्कृत तथा विशुद्ध होता है। फिर वह ज्ञान का अधिकारी होता है।[5] यही परम्परा मोक्ष का साधन है।[6]

खण्डन– परमेश्वर की उपासना के द्वारा ही परमेश्वर की अपरोज्ञानुभूति का उदय होता है जिससे सकल दुःखों का नाश होता है। उपनिषदों में यह कहा गया है कि एक व्यक्ति को ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन करने वाले उपनिषद पाठों का श्रवण करना चाहिए तथा इस पर ध्यान करना चाहिए। अष्टाङ्ग योग की प्रक्रियाएं भी एक व्यक्ति को ईश्वर प्राप्ति के निकट ले जाती हैं। यद्यपि कुछ वर्गो के व्यक्तियों के लिए

---

1. वेदान्त परिभाषा, प्रयोजन परिच्छेद।
2. अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंच प्रयंचयन् – **सर्व वेन्दान्तसिद्धान्तसार सार संग्रह २६५.**
3. सगुणोपासनपि चित्तैकाग्र द्वारा निर्विशेषब्रह्म – साक्षात्कार हेतुः। वेदान्त **परिभाषा प्रयोजन परिच्छेद।**
4. उत्पाद्यमाद्य सस्कार्य विकार्य च क्रियाफलम्।
   नैष मुक्तियर्तस्तस्मात् कर्म तस्या न साधनम्।। **नैष्कर्मसिद्धि** १/५३.
5. शकर गीताभाष्य १८/१७.
6. एव काम्यवर्जित सर्व आत्मज्ञानोपत्ति द्वारेण मोक्ष साधकतां प्रतिपद्यते।
   –शंकर का बृहदारणकोपनिषद भाष्य।

कर्म एवं ज्ञान मार्ग का विधान किया गया है तथापि भक्ति को श्रेष्ठ माना गया है, जो व्यक्ति उस मार्ग में हैं उन्हें ज्ञान मार्ग एवं सांसारिक वस्तुओं के प्रति वैराग्य मार्ग के अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं है।[1] 'भक्ति' का इस रूप में भी वर्णन किया जाता है वह स्वयं मुक्ति है।[2] सच्चा **'तत्त्वज्ञान'** भक्ति का गौड़ प्रभाव है। सच्चा तत्व ज्ञान ईश्वर की त्रिविध रूप की उपरोज्ञानुभूति में निहित होता है, जिनके साथ उनका अभेद एवं भेद दोनों है। ईश्वर के इस सत्यता की सम्यक् अनुभूति एवं संप्रत्यक्ष केवल भक्ति के द्वारा ही किए जा सकते है। भक्ति न केवल ज्ञान को उत्पन्न करती है वरन्, साक्षात्कार की भी प्राप्ति करवाती है।[3] इसीलिए यह माना जाता है कि भक्ति तत्वज्ञान से अधिक उच्च है जो उसका गौड़ प्रभाव माना जाता है। भक्ति का अनुष्ठान कर्म के अनुष्ठान से इन बात में भिन्न है कि पूर्वोक्त साधन काल और साध्य काल दोनों में सुखदायी होता है पश्चादुक्त नहीं होता।[4] इस प्रकार व्यक्ति को नित्य अथवा अन्य कर्मो के अनुष्ठान अथवा ज्ञान या वैराग्य के अनुष्ठान को सर्व प्रयत्न त्याग देना चाहिए।[5] भक्ति के बिना ये सब निष्फल रहते हैं। क्योंकि भक्ति रसिक को ज्ञान अथवा कर्म के अनुष्ठान का कोई अधिकार नहीं होता।[6] परमेश्वर सर्व मानवों की चेतन प्रक्रियाओं में अपनी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति करता है और वह सर्वांतरात्मा हैं।[7] भक्ति का स्थान इतना उच्च है कि वे व्यक्ति को संतत्व अथवा जीवनमुक्ति की अवस्था को प्राप्त कर चुके है तथा जिनके पाप भस्म हो चुके हैं यदि भगवान् के प्रति अनादन करते है तो उनका भी भगवान् की इच्छा से पतन हो सकता है। और उनके पापों का पुनर्विकास हो सकता है।[8] इस प्रकार भक्ति शास्वत् अपरोक्षानुभूतियों की अवस्था है जोबन्धन की अशुद्धताओं के पूर्ण निवृत्ति के बाद भी विद्यमान होती है।

---

1. भजतां ज्ञान वैराग्याम्यासेन प्रयोजन नारित। **षटसन्दर्भ** पृ० ४८१.
2. निश्चला त्वयिभक्तिर्या सैव मुक्तिर्जनार्दनः– स्कन्दपुराणरेवाखण्ड से पृ० ४५
3. देखें **षट सन्दर्भ** का पृ० ४५४.
4. कर्मानुष्ठानवन्न साधन–काले साध्यकाले व भक्त्यानुष्ठानं दु.ख–रूपं प्रत्युत सुखरूपेमेव। **षट् सन्दर्भ** पृ० ४५७.
5. देखे – भक्ति सन्दर्भ का पृ० ४५६.
6 "भक्तिररिकस्य कर्मानधिकारात्" **षटसन्दर्भ** पृ० ४६०
7. सर्वेषां धी–वृत्तिभिः अनुभूतं सर्व येन स एकैव सर्वान्तरात्मा। **षटसन्दर्भ** पृ० ६०.
8. जीवन्मुक्ता अपि पुनर्वन्धनंयान्ति कर्मभिः यदाचिन्त्य महा शक्तौ भगवत्यपराधिन – **षट सन्दर्भ** पृ० ५०५.

भगवान् का यथार्थ ज्ञान निर्गुण का ज्ञान होना चाहिए अतएव उसकी यथार्थ भक्ति भी निर्गुण होनी चाहिए, क्योंकि 'भक्ति' चाहे किसी भी रूप में अपनी अभिव्यक्ति करे उसका एक मात्र लक्ष्य निर्गुण ईश्वर होता है। निर्गुण शब्द का अर्थ ही है स्वरूपतः गुणों से अतीत। यद्यपि भक्ति ज्ञान और कर्म मे निहित होती है तथापि इसे निर्गुण मानना चाहिए क्योंकि वह सभी गुणो से अतीत केवल परमेश्वर का उल्लेख करती है। इस प्रकार स्पष्टतः भक्ति एक अनुभवातीत प्रक्रिया है। यह निःसन्देह सत्य है कि कभी कभी उसका सगुण के रूप में वर्णन किया जाता है किन्तु उक्त सभी उदाहरणों में भक्ति का ऐसा वर्णन केवल अतः करण के बौद्धिक क्रियात्मक अथवा भावनात्मक गुणों के साहचर्य के कारण ही हो सकता है।[1] वस्तुतः भक्ति का अर्थ भगवान् के साथ निवास करना होता है। चूंकि भगवान स्वयं गुणातीत हैं इसलिए भगवान के अन्तर्गत निवास करने का अर्थ अनिवार्यतः एक गुणातीत अवस्था होनी चाहिए। यद्यपि वास्तविक उपासना का कार्य गुणों में एवं गुणों के द्वारा अभिव्यक्त होता है तथापि उसको निर्धारित करने वाला आध्यात्मिक कर्म जड़ात्मक प्रभावों से अतीत माना जाना चाहिए। सच्चा भक्त इस कारण भगवन्नाम का संकीतर्न समाप्त नहीं कर देता क्योंकि केवल एक संकीर्तन ही उसे सन्तुष्ट करने के लिए यथेष्ट होता है। और भगवन्नम् का संकीर्तन ही उसे अत्यानन्द के भावातिरके में प्लावित कर देता है। निकृष्टतम पापों का नाश भगवन्नाम् से ही संभव है। जब कोई पूर्व पाप नहीं होते और नाम संकीर्तन के पश्चात् कोई गम्भीर अपराध नहीं किए जाते है। श्रद्धा स्वरूपतः भक्ति का एक अंश नहीं होती बल्कि वह एक ऐसी पूर्व अवस्था है जो भक्ति[2] के उदय को सम्भव बनाती है। सच्चा भक्ति तथा कथित भक्त एवं ऐश्वर्य के उच्चतर पद भी तुलना में ईश्वर की दासता के पद को अधिक मान्यता देता है।[3] इसीलिए यह किसी अन्य तथाकथित लाभदायक फलों से असंवन्धित शुद्ध भक्ति की कामना करता है। ऐसे भक्त जो केवल भगवान और भगवान मात्र की ही कामना करते है ऐकान्तिन् कहलाते है जो अन्य प्रकार के सभी भक्तों से श्रेष्ठ होते है इस प्रकार भक्ति को अकिंचज भक्ति भी कहा जाता है।

---

1. यह तु श्री कपिल देवेन भक्तेरपि निर्गुण सगुणावस्था. कथितास्तात् पुनः पुरुषान्तः करण गुणा एव तस्यामुपचर्यन्ते इति स्थितम् – षट सन्दर्भ पृ० ५२०.
2. श्रवण कीर्तन विष्णोः स्मरण पाद् सेवन। अर्चन वन्दनं दास्य साख्यमात्म निवदेनम्। पृ० ५४१. (भक्ति के नव लक्षण)
3 को मूढो दासतां प्राव्य प्राभवं पदमिच्छति – **षदसंन्दर्भ** पृ० ५५१.

सर्वोत्तम भक्त वह है जो सर्व भूतों में भगवान् को देखता है तथासर्व भूतों को अपनी आत्मा एवं उसमे अभिव्यक्त भगवान के अन्तर्गत देखता है।[1] सर्वोत्तम भक्त के और अन्य विवरण भी है जैसे गीता में कहा गया है कि जिसका चित्त शुद्ध एव कामनाओ व कर्म से अनाक्राल रहता है और जिसका मन सदा वासुदेव में अनुरक्त रहता है सर्वोत्तम भक्त माना जाना चाहिए।[2] एक भक्त भगवान से प्रार्थना करता है कि वह उसके लिए प्रेम से उसी प्रकार उन्मत्त हो जाय जिस प्रकार एक युक्ती एक यूवक के तथा एक यूवक एक युवती के प्रेम में रमण करता है।[3] शरणागत्ति अच्छे आचार्यो व भक्तों का समागम भगवान के नाम का श्रवण और उसके नाम एवं विभूतियों की संकीतर्न आदि वैधी भक्ति के अर्न्तगत आते है। इनमें से शरणागति सर्वाधिक महत्व पूर्ण है जिसका अर्थ जीवन के सभी भय व दु:खों से निराश होकर भगवान् की शरण में जाना होता है।[4] शरणपति की परिभाषा निम्न है। जिसमें १. नित्यप्रति भगवान् के अनुकूल कार्य एव विचार करना। २. भगवान के किसी भी प्रकार से प्रतिकूल सभी वस्तुओं का वर्जन करना। ३. यह प्रवल विश्वास होना चाहिए कि वह रक्षा करेगा। ४. संरक्षण के हेतु उस पर आश्रित रहना। ५. स्वयं को सम्पूर्णतः भगवान के हाथों समर्पित करना तथा स्वयं को उस पर पूर्णतः आश्रित समझना। ६. स्वयं को एक अत्यधिक दीन, प्राणी समझना जो भगवान के अनुग्रह के अवतरण की प्रतीक्षा में है।[5]

इस प्रकार भगवत् प्राप्ति ही परम सुख अथवा आहलद को प्राप्त करेन का एक मात्र साधन है।[6] मुक्ति इस जीवन में तथा मृत्यु के पश्चात् दोनों अवसरों पर प्राप्त की जा सकती है। जब एक व्यक्ति परमेश्वर के यर्थाथ स्वरूप की प्राप्ति करता है तब उसक स्वरूप का मिथ्या अवबोध तिरोहित हो जाता है और यही उसकी मुक्ति है, मृत्यु के समय भी परमेश्वर के यर्थार्थ स्वरूप का प्रकाशन हो सकता है तथा परमेश्वर के रूप में उसके स्वरूप की एक प्रव्यक्ष व अपरोक्ष प्राप्ति हो सकती है।

---

1 सर्व भूतषु यः पश्यते भगवद् भावमात्मन। भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम। **षटसंदर्भ** पृ० ५६१
2. न काम–कर्म बीजानां यस्य चेतसि सभवः। वासुदेवैक नित्ययः स वै भागवतन्तोत्तम ।। पृ० ५६४
3 युवतीना यथा यूनि यूनाच युवतौ यथा मनोऽभिरमते तद्वन मनो मे रमता त्वयि। विष्णु पुराण पृ० ५८
4 अथ वैधी भेदाः शरणापत्ति श्री मुर्वादि सत् सेवा श्रवण कीर्तनादाः। **षटसंदर्भ** पृ० ५६३.
5. आनुकूलस्य संकल्पाः प्रातिकूलस्य–विवर्जनम् रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरन् तथा आत्मा–निक्षेप–कार्पण्ये षड़विद्या शरणागति। **षटसन्दर्भ** का पृ० ५६३.
6 निरस्तातिशयाहलाद–सुख भावैक लक्षणा। भेषजं भगवत् प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिका मता–**विष्णुपुराण** पृ० ६७४

षष्ठ – अध्याय
ईश्वर परिच्छेद

ईश्वर (न्याय सिद्धाञ्जन के अनुसार)– अपने धर्म भूत ज्ञान एवं अपने स्वरूप को छोड़कर इतर सभी द्रव्य रूपी शरीरों में जो आत्मा के रूप में हैं वे ईश्वर हैं तथा स्वतः जो सत्य संकल्प वाले है वे ईश्वर हैं। **जन्माद्यस्य[1] यतः** इस सूत्र में यह बताया गया है कि देवता दैत्य, दानव, मनुष्य पशु, पक्षी, आदि अनेक जीवों से परिपूर्ण सूर्य, चन्द्रमा, तारा तथा नाना लोक लोकान्तरों से सम्पन्न इस अनन्त ब्रह्माण्ड का कर्ता हर्ता कोई अवश्य है यह प्रत्येक मनुष्य के समझ में आ सकता है, वही ब्रह्म है। इसी को परमेश्वर, परमात्मा और भगवान आदि विविध नामो से भी कहते है क्योंकि वह सबका आदि, सबसे बड़ा, सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वव्यापी और सर्वरूप हैं। इस परमेश्वर की ज्ञान, और क्रिया रूप स्वाभविक दिव्य शक्ति नाना प्रकार की ही सुनी जाती है।[2]

भाव यह है कि यदि जन्मकारणत्व, स्थिति कारणत्व और लय कारणत्व को अलग–२ लक्षण कहा जाय तो यह भ्रम हो सकता है कि एक ब्रह्म जगज्जन्म का कारण है दूसरा ब्रह्म जगत्स्थिति का कारण है तथा तीसरा ब्रह्म जगत्संहार का कारण है इस प्रकार तीन ब्रह्म होते है जो जगत के जन्म स्थिति एवं संहार के अलग–२ कर्ता होते है। इस प्रकार कुमति सम्पन्न लोक शंका कर सकते हैं, उस शंका को दूर करने के लिए इन तीनों को मिलाकर ब्रह्म का लक्षण कहा गया। यही जन्मादि सूत्र का भाव है।

ब्रह्मा और रुद्र इत्यादि भी जगत्कारण ब्रह्ण नहीं हो सकते है क्योंकि **"एकोहवैनारायण आसीत् न ब्रह्मा नेशानः" योब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् "त्रयक्षः मूलपाणिः पुरूषोऽजायत"** इत्यादि श्रुविवचन यह बतलाते है कि "महाप्रलयकाल में एक नारायण ही थे ब्रह्मा नहीं थे शंकर नहीं थे" जो भगवान ब्रह्मा जी को उत्पन्न करते हैं। इन वचनों से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मा और रुद्र इत्यादि बड़े–बड़े देवता भी अन्यान्य जीवों के समान श्री भगवान से उत्पन्न होते है। ये देवतागण जगकारण ब्रह्म नहीं हो

---

1. "ब्रह्म सूत्र शाङ्करभाष्य" का सूत्र १/१/२
2. "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" श्वेता ६/८

सकते वे जीव सिद्ध होते है जीव ईश्वर नही हो सकते। वह सर्व तंत्र स्वतंत्र किन्तु जीव और प्रकृति की स्थिति ब्रह्माधीन है।[1]

भाव यह है कि यदि कहीं श्रुतिवचनों मे श्री भगवान का जन्म कहा गया होतो वह जन्म अवतार रुप है, इससे श्री भगवान् को अन्यान्य जीवों के समान उत्पाद्य मानना उचित ही है क्योकि श्री नारायण भगवान कर्म बन्ध रहित बनाए गये है। अकर्भवश्य भगवान् का जन्म श्वेच्छा से लीलार्थ अवतार रूप है। परन्तु जिन ब्रह्मदि देवताओं का कर्मवश्यत्व और कार्यत्व शास्त्रों में वर्णित है वे अन्याय जीवों के समान ही जीव है वे जगत्कारण ईश्वर नहीं हो सकते।[2] तैत्तिरीयोपनिषद् के नारायणानुवाक् में यह कहा गया है कि परब्रह्मपरतत्व पर ज्योति और परमात्मा नारायण ही है। इससे यह व्यक्त होता है कि दूसरे उपनिषदों में इन पर ब्रह्म इत्यादि शब्दों से जो पदार्थ उपास्य कहा गया है वह नारायण ही है। सभी उपनिषदों का एक कण्ठ्य करने पर श्री मन्नारायण भगवान का ही जगत् कारणत्व मुमुक्षापास्य और सर्वान्तर्यामित्व इत्यादि सिद्ध होते है। सर्वौत्कृष्ट गुणों से सम्पन्न होने के कारण ही ब्रह्म शब्द का वाच्य होता है। ऐसा तत्व ईश्वर ही है अतः ईश्वर ही ब्रह्म है अतएव ''[illegible] **ब्रह्म**'' इस श्रुति में रुदि भक्ति के अनुसार अनन्त शब्द का वाच्यार्थ नारायण को ही योग शक्ति के अनुसार त्रिविध परिच्छेद रहित कहा गया है तथा उन्हें ही ब्रह्म् भी कहा गया है। नारायण शब्द संज्ञा शब्द होने से परमविशेष रूप से वाचक है। 'सत' शब्द सूक्ष्म रूप से विद्यमान के रूप में 'असत' शब्द से स्थूल रूप से अविद्यमान के रूप में, **'अत्याकृत'** शब्दनाम रूप व्याकरण रहित रुप मे **'ब्रहम'** शब्द सबसे बड़े के रूप में **'आत्मा'** शब्द चेतन रुप में **'आकाश'** शब्द सर्वत्र प्रकाश मान वस्तु रूप मे **'प्राण'** शब्द जगत के जीवित रखने वाली वस्तु के रूप में **'शिव'** शब्द मंगलवस्तु के रूप में **नारायण** शब्द नारायण नाम वाले पदार्थ के रूप में उस जगत्कारण वस्तु का प्रतिपादन करते है। शंख चक गदाधर लक्ष्मीपति श्री भगवान् ही नारायण नाम वाले है।[3] सामान्य विशेष न्याय के अनुसार प्रकृति में यह सिद्ध होता है कि सत् आत्मा ब्रह्मा इत्यादि सामान्यवाचक शब्द

---

1. तदव्यतिरिक्तस्थसमस्तस्य तदायन्तताम्। **वेदार्थ संग्रह** पृ० २५..
2 न्याय सिद्धाञ्जन का पृ० – ३६७
3 न्यायसिद्धाञ्जन का पृ० – ३६५/६६

अर्थात् हे भगवान् आप स्वभाव से ही आश्रितों के परतंत्ररूपी **वशी** गुण के आश्रय है, आप परम उदार स्वभाववाले सुशीलगुणयुक्त सरल एवं कपट रहित मन, वाणी तथा शरीर से विशुद्ध कोमल स्वभाववाले, भेद–भाव रहित, समदर्शी, उपकार करने वाले, सेवा को स्मरण करने वाले, तथा अनन्त कल्याणगुणगणाकर तथा अमृत के सागर हैं। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत वेदान्त में ईश्वर को सगुण रूप में वर्णित किया गया है तथा उनके महिमामय रूप एवं गुणों का बखान किया गया है।

ईश्वर के विवध रूप– विशिष्टाद्वैत वेदान्त में अर्थपञ्चक विज्ञान का बड़ा ही महत्त्व है। उस अर्थपञ्चक विज्ञान के अनुसार ईश्वर के पांच रूप हैं[1] जो निम्नलिखित है–

पररूप– 'पर' रूप से भगवान् त्रिपादविभूति में विराजमान रहते हैं। ये दिव्यमङ्गल विग्रह से विशिष्ट रहते हैं। श्रीवैकुण्ठ नामक दिव्य निलय में ये श्रीदेवी, भूदेवी, और नीलादेवी से सुसेवित रहते हैं। भगवान् के इस रूप का नित्यमुक्त जीव सेवन किया करते हैं। श्रीभगवान् पर, वासुदेव, पर–ब्रह्म, तथा नारायण आदि शब्दों से अभिहित किये जाते हैं। आगम शास्त्रों, धर्मशास्त्रों[2] में भी भगवान् के इस रूप का वर्णन मिलता है।

व्यूह–रूप– 'व्यूह' भगवान् का दूसरा रूप है। इस रूप में वे अपने को 'वासुदेव', संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध के रूप में चतुर्धा विभक्त करते हैं।[3] इन रूपों मे वासुदेव षाड्गुण्य से परिपूर्ण रहते हैं। संकर्षण ज्ञान और बल से परिपूर्ण रहते हैं। प्रद्युम्न ऐश्वर्य एवं वीर्य से युक्त हैं। अनिरुद्ध शक्ति तथा तेज से सम्पन्न रहते हैं।

चार व्यूहों में से प्रत्येक के तीन–तीन व्यूहान्तरों का अविर्भाव होता है। केशव, नारायण, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर ये भगवान् के द्वादश व्यूहान्तर कहे जाते हैं।[4] ये क्रमशः बारह मासों तथा

---

1. एवम्प्रकारकः ईश्वरः पर–व्यूह–विभवान्तर्याम्यर्चावताररूपेण पञ्चप्रकारकः।–**यतीन्द्रमतदीपिका**, पृ० स०२४७.
2. एव वैकुण्ठनाथोऽसौ राजते परमेपदे।
   सेव्यमान. सदा नित्यैर्मुक्तैर्भोगपरायणै. – **पराशरीय धर्मशास्त्र**, उ० ख०, ६/४६.
3. व्यूहोनाम पर एवोपासनार्थं जगत्सृष्ट्याद्यर्थं च, वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धभेदेन चतुर्धावस्थितः। – एतीन्द्रमतदीपिका, २४६.
4. वही, पृ० २४६.

बारह आदित्यों के अधिष्ठातृ देवता कहे जाते हैं। इन द्वादश व्यूहान्तरों का स्थान श्री वैष्णवो के द्वारा धारण किये जाने वाले द्वादश अर्धपुण्ड्रों में होता है।

व्यूह–रूपों का प्रयोजन– श्रीनिवासाचार्य श्रीभगवान् के व्यूह रूप में अवतीर्ण होने के दो प्रयोजनों का निर्देश करते हैं– उपासकों का अनुग्रह तथा सृष्टि, स्थिति एवं संहारक्रिया का संपादन। 'लोकाचार्य' व्यूहरूप धारण करने का तीसरा प्रयोजन 'संसारी जीवों का संरक्षण' बतलाते हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि लोकाचार्य भी तीन ही व्यूहों को मानते हैं। पाञ्चरात्र की विश्वमित्रसहिता[2] में भी कहा गया है–

'वासुदेवात् ततो जज्ञे सङ्कर्षणसमाह्वयः।

तस्मात् प्रद्युम्नसम्भूतिरनिरुद्धस्ततोऽभवत्।।

एते सर्वे चैकवक्त्राः चतुर्बाहुसमन्विताः।।

यर्थात् तदनन्तर वासुदेव से भगवान् संकर्षण नाम से उत्पन्न हुए, उनसे प्रद्युम्न की उत्पत्ति हुई और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध हुए। श्रीभगवान् के ये सभी रूप एक मुख वाले एवं चार भुजाओं वाले हैं।

विभव–रूप– विभव रूप में भगवान् देव–मनुष्यादि के सजातीय रूप से अवतीर्ण होते हैं। भगवान् के प्रधान देश विभव रूप हैं– मत्स्यावतार, कूर्मावतार, वराहावतार, नृसिंहावतार, वामनावतार, श्रीरामावतार, बलरामावतार, श्रीकृष्णावतार तथा कल्कि अवतार। इन देश अवतारों के प्रत्येक के अनन्त अवतार हैं। इन अवतारों का प्रयोजन दुष्टों का निरासपूर्वक सज्जनों की सुरक्षा ही है।

---

1. व्यूहोनाम सृष्टिस्थितिसंहारार्थं संसारिसंरक्षणार्थम् उपासकानुग्रहार्थञ्च सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपेणावस्थानम्'
– तत्वत्रय – ३/३६.

2. विश्वामित्र – सहिता, ४/१५-१६.

अन्तर्यामी–रूप– जीवो द्वारा स्वर्ग, नरक आदि के अनुभव की दशा में भी जीवात्मा के भिन्न रूप से योगियों द्वारा देखें जाने योग्य रूप से जीवों के हृदय प्रदेश में रहने वाला जो भगवान् का रूप है, वही अन्तर्यामी कहलाता है।

अर्चावतार – रूप– देशविप्रकर्ष तथा काल विप्रकर्ष आदि का त्याग करके आश्रितों के अनुकूल द्रव्य आदि को शरीर रूप से स्वीकार करके, उसी में दिव्य शरीर से युक्त होकर अर्चक के पराधीन स्थान, भोजन, आसन, शयन, तथा स्थिति करने वाले, सब कुछ सहने वाले, परिपूर्ण गृह, ग्राम, नगर, प्रशस्त तथा पर्वत आदि पर रहने वाले श्रीभगवान् के मूर्ति विशेष को अर्चावतार कहते हैं। अर्चावतार के चार भेद हैं– स्वयं, व्यक्त, दैव, और मानुष।[1]

रामानुज वेदान्त ने अर्चावतार के प्रतिपादन द्वारा उस समय दक्षिण भारत के प्रचलित और आलवार संतों के प्रिय वेंकटाद्रि शिखरों पर विराजित मूर्तियों की उपासना को साक्षात् ईश्वरोपासना का रूप देकर, मूर्तिपूजा को शास्त्रीय आधार प्रदान किया है। यह विशिष्टाद्वैत वेदान्त की भारतीय समाज को अमूल्य देन है।

ईश्वर का स्वरूप वेङकटनाथ के अनुसार– देशिक के अनुसार सर्व व्यापकता का अर्थ ईश्वर के श्रेष्ठ गुणों मे मर्यादा या प्रतिबन्ध का अभाव है ऐसा मानने मे एक मत हैं।[2] इसी लिए देह सृष्टि से भी वह जगत में सर्वव्यापक माना जा सकता है इस प्रकार ईश्वर केवल निमित्त कारण नहीं किन्तु उपादान कारण भी है। वेंकटनाथ के अनुसार सर्वोत्तम ईश्वर नारायण और उसकी शक्ति लक्ष्मी है जो जड़ और जीव की अधिष्ठात्री है। ईश्वर का अपना मनस है और उसकी नित्य इन्द्रियों को प्रगट होने के लिए किसी देह या अंग की आवश्यकता नही होती। वेंकट भगवान् वासुदेव की अभिव्यक्ति के तीन प्रकार का वर्णन करते हैं– संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक इस पांञ्चरात्र के व्यूह सिद्धान्त का लोकाचार्य के तत्त्वत्रय पर बरबर भाष्य में संक्षिप्त विवरण मिलता है। इनके तीन रूप जिनके द्वारा जीव, मनस और बाह्य जगत का नियंत्रण करते है। ये तीन भिन्न रूप भगवान के भिन्न–भिन्न व्यापार है या कार्य की दृष्टि से

---

1. यतीन्द्रमतीदीपिका, पृ० २५६
2. न्यायसिद्धाञ्जन वेंकटनाथ कृतः

भगवान् की ऐसी कल्पना की गई है। ईश्वर का सम्पूर्ण अस्तित्व हर जगह है इसीलिए उन्हें विभव कहा गया है। न्याय और योग ने ईश्वर को मात्र निमित्त कारण माना जब कि वेंकटनाथ ने ईश्वर को उपादान कारण भी माना है।

अन्य वैष्णव आचार्यो के मत में ईश्वर

रामानुज के अनुसार– रामानुज ईश्वर वादी है। ईश्वर वह परम तत्व है जिसे वेदान्त में सगुण ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। ईश्वर चिदचिद्विशिष्ट है। चित् जीवात्मा का नाम है और अचित् प्रकृति का। जीवात्मा और प्रकृति ईश्वर के समान ही सनातन सत्ताएं हैं। इनका नाश नहीं होता, न तो इनकी रचना ईश्वर द्वारा होती है चित् और अचित् ईश्वर के साथ अपृथक् रूप से संयुक्त होते है। इसीलिए "ब्रह्म" संज्ञक परमत्तव "ईश्वर" चित एव अचित् के उपसंहार का नाम है। परमतत्त्व अथवा "ब्रह्म" एक जैविक इकाई है, जिसके ईश्वर जीव और प्रकृति, तीन परस्पर भिन्न अंश है। ब्रह्म के अंशभूत ईश्वर जीवात्मा एवं 'अचित्" अथवा "प्रकृति" रामानुज द्वारा स्वीकृति तीन तत्व है। चित् और अचित् तत्व तो है परन्तु ईश्वर के समकक्ष तत्व नहीं है। वे दोनों ही ईश्वर पर आश्रित है और ईश्वर द्वारा ही सचालित होते है। जीव और प्रकृति का ईश्वर के संकल्पाधीन होकर स्थूल रूप से प्रकट होना ही उनकी उत्पत्ति तथा ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व कहा जाता है। चित् और अचित् परस्पर संयुक्त न होकर अपने–२ स्वरूप में स्थित होते है ब्रह्म की इस अवस्था को प्रलयावस्था भी कहते है। ब्रह्म की स्थूल या कार्यावस्था उसकी कारणा वस्था से भिन्न होती है।[1] सगुण ब्रह्म को ही भगवान् कहते है। भगवान् का शाब्दिक अर्थ है भग का स्वामी। विष्णु पुराणमें ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छहों का समिल्लित नाम ही "भग" है। भगवान् उपर्युक्त छह गुणों के स्वामी है।[2] श्री बलवीर्य इत्यादि गुणों को विष्णु की पूर्णता का वाचक कहा जाता है।[3] रामानुज ईश्वर को जगत का उपादान कारण भी मानते है और निमित्त कारण भी।[4] जगत ईश्वर का कार्य है। ईश्वर अनन्त है जबकि जगत का अन्त निश्चित है दोनों के

---

1. तदेव नामरूपविभगानर्हसूक्ष्मदशापन्नप्रकृतिपुरुषशरीर ब्रह्म कारणावस्थानम्। जगतस्तदायत्तिरेव च प्रलयः। नाम रूप विभाग विभाक्त स्थूलचिदचिद्वस्तु शरीरं ब्रह्मकार्यावस्थम्। ब्रह्णास्तथाविधस्थूल भाव एवं सृष्टिरित्युच्यते। **वेदार्थ संग्रह पेज – १७.**
2 ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसश्श्रियः। ज्ञानवैराग्योश्चैव षण्णा भग इतीरणा। **विष्णुपुराण ६/५/७४.**
3 ज्ञानशक्तिवलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि, बिना, हेयैर्गुणादिभि.।। **विष्णु पुराण ६/५/७९.**
4. निमित्तोपादानयोरतु भेदं वदन्तो वेदवा एव रघुः। **वेदार्थ संग्रह पृ० २६.**

बीच तादात्म्य नहीं हो सकता है। ईश्वर और जगत के बीच न तो पूर्ण अभेद है और न पूर्व भेद ही है ऐस सम्बन्ध को रामानुज ने शरीर शरीरी सम्बन्ध अथवा देह आत्मा सम्बन्ध के रूप में देखा हैं।[1] अङ्–अङ्गी, विशेषण–विशेषय शेष–शेषी[2] इत्यादि सम्बन्ध भी शरीर शरीरी भाव से ही सिद्ध होते है।[3]

रामानुज जगत् मे निर्गुण वरतु की कल्पना को असम्भव मानते हैं। संसार के समग्र पदार्थण विशिष्ट ही होते हैं। यहा तक कि निर्विकल्पक आपस में भी सविशेष वस्तु की ही प्रतीति होती है।[4] रामानुज ने श्वेताश्वतर उपनिषद के आधार पर जगत मे तीन पदार्थ की कल्पना की है। श्वेताश्तर का भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरिता यह त्रिविध ब्रह्म यहां क्रमश: चित् अचित् तथा ईश्वर के रूप में गृहीत किया गया है।[5] जीव और जगत् दोनों नित्य पदार्थ है अतः सृष्टि और प्रलय से तात्पर्य इनके स्थूल रूप और सुक्ष्म रूप धारण करने से है। प्रलयकाल[6] मे जीवजगत् से सूक्ष्मरूपापन्न होने पर सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ईश्वर 'कारणावस्थ ब्रह्म' कहलाता है। और सृष्टि काल स्थूल रूप धारण करने पर चिद्चिद् विशिष्ट ईश्वर 'कार्यवरथ ब्रह्म' कहलाता है। अद्वैत परक श्रृतियों का तात्पर्य इसी कारणावस्थ ब्रह्म से हैं यह समस्त हेय गुणो से शून्य है। इसीलिए यह निर्गुण कहलाता है।[7] रामानुज को अपने सिद्धान्त में इन परस्पर विरोध की सत्ता का आभास था क्योंकि इन्होंने एक स्थान पर स्पष्टतः स्वीकार किया है कि ब्रह्म यर्थार्थ रूप में अपरिणामी है और वह जगत के विकारों से विकृत नहीं होता।[8] अतः विकारशील अचित् ईश्वर का यर्थार्थ आन्तरिक स्वरूप न होकर केवल वाह्य रूप है।

---

1. अयमेत्वामशरीर भावः प्रथसिद्धयतर्हिधाराधेय भाव. नियन्तृनियाम्य भाव शेष शेषि भाव--**वेदार्थ संग्रह पृ० १८.**
2. अयमेवहि सर्वत्र शेष–शेषिभाव परगतातिशयाधानेच्छया, उपादेयत्वमेव यस्य स्वरूपम् स शेषः परस्शेषी। **वेदार्थ सग्रह पृ० ३४.**
3. अतोयस्य चेतनस्य 'यद्द्रव्य' सर्वात्मा स्वार्थे नियन्तुं धारयितु च शक्यम् तच्छेषत् एक स्वरूपं च तत्तस्य शरीरमिति शरीरलक्षणायास्येमम् ..... अतस्सर्व परमपुरुषेण सर्वात्मा स्वार्थ नियाम्य धार्य तच्छेस्तैकस्वरूपमिति सर्व चेतना चेतनं तस्य शरीरम्। **श्री भाष्य २/१/९.**
4. "सर्वप्रमाणस्य सविशेषविषतया निर्विशेषवस्तुनि न किमपि प्रमाण समस्ति। निर्विकल्पकप्रत्यक्षोऽपि सविशेष मेव वस्तु प्रतीयते – **सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ४३.**
5. "भोक्ता भोग्यं प्रेरितार च मत्वा सर्व प्रोक्तं त्रिविध ब्रह्म एतत्"। श्वेताश्वतर उप १/१२–**पदार्थ त्रैविध्य।**
6. "स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारक ब्रह्मैव कारण चेति ब्रह्मोपादानं जगत्। सूक्ष्मचिदचितोः सर्वावस्थावस्थितयोः परमपुरुष शरीरत्वेन तत्प्रकारतया पदार्थत्वात् तत्प्रकारः परमपुरुषः सर्वदा सर्वशब्द वाच्य इतिविशेष" **श्रीभाष्य पृ० ८२.**
7 "निर्गुण ब्रह्म– "निर्गुणवानश्चपरस्य ब्रह्मणो हेयगुणसम्बन्धादुपपद्यते"– **श्रीभाष्य पृ० ८३.**
8. "श्रीभाष्य" – २/१/१४.

माध्व के अनुसार ईश्वर का स्वरूप– माध्व का वास्तुवादी द्वैतवाद, ईश्वर जीव एवं जगत की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार करता है। प्रकृति जीव और ईश्वर भिन्न तत्व है ये अपनी सत्ता रखते है क्योकि इनकी प्रतीति होती है। इनमें से किसी एक को दूसरे मे अर्न्तभूत नहीं माना जा सकता। परब्रह्म ईश्वर स्वतंत्र तत्व है जबकि प्रकृति और जीव परतंत्र तत्व हैं। इस प्रकार स्वतंत्र और परतंत्र रूप से तीनों तत्वों का दो वर्ग है।[1] ये तीनों सत हैं क्योंकि इनकी सर्वदा प्रतीति होती है।[2] ईश्वर परमात्मा साक्षात् विष्णु है। परमात्मा अनन्तगुण परिपूर्ण है अर्थात् भगवान के गुण अनन्त हैं तथा उनमे प्रत्येक गुण निरवधिक और निरतिशय हैं। इनमें सजातीय उभयविध आनन्त्य है। उत्पत्ति, स्थिति संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष इन अनेक के कर्त्ता भगवान ही है वे सर्वग्य तथा परम मुख्यावृत्ति से समस्त पदवाच्य है। वे जड़ जीव एवं प्रकृति से अत्यन्त विलक्षण है। ज्ञान, आनन्द आदि कल्याण गुण ही भगवान के शरीर है। अतः शरीरी होने पर भी स्वतंत्र है। वे एक होकर नाना रूप धारण करते है।[3] अतएव भगवान तथा भगवान के अवतारों में भेद रखना नितान्त अनुचित है। लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है वह केवल परमात्मा के अधीन है अतः उससे भिनन है।[4] इसी प्रकार माध्य मत में तंत्र मत्र के विपरीत शक्ति और शक्तिमान में पूर्ण सामाञ्जस्य या अभेद भाव नहीं रहता। परमात्मा देशकाल तथा गुण इन तीनों वस्तुओं के द्वारा अपरिच्छन है परन्तु लक्ष्मी परमात्मा के गुण में न्यून है। तथापि देश और काल की दृष्टि से उनके समान ही व्यापक है।[5]

---

1 "स्वतन्त्रमस्वतत्रं च द्विविध" तत्वमिष्यते। तत्वसंख्यान्।

2 "सदिति प्रतीयमानत्वात्। अतः सर्वदा प्रत्यक्षेण प्रतीयमान वस्तु सदित्येव प्रतीयते। **तत्वोद्योत पृ० १६,** सर्वदेशकालनिषेधाप्रतियोगित्वं सत्वम्। असद्विलक्षणत्वे सति अनरोपित्वं वा। अस्तित्वप्रकारप्रमां प्रति कदाचितसाक्षाद्विषयकत्व वा। **न्यायामृत पृ० ६५–६७.**

3. "भगवान के अवतारो की पूर्णता–

अवतारादयो विष्णोः सर्वपूर्णाःप्रकीर्तिताः।।
पूर्णं च तत् पर पूर्णं पूर्णात पूर्णः समुद्गताः।।
न देशकालसामर्थ्यै. पारावर्य कथञ्चन।। **माध्वबृहदभाष्ये**

4 लक्ष्मी का रूप– "परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीना लक्ष्मी." - **माध्य सिद्धान्त सार पृ० २६.**

5. "लक्ष्मी एवं भगवान की तुलना –द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परमः प्रकृतिस्तथा।
देशतः कालतश्चैव समव्याप्तावुभावपी।। **(भागवत् तात्पर्य निर्णय)**

निम्बार्क सम्प्रदाय में ईश्वर– निम्बार्क के मत में ब्रह्म की कल्पना सगुण रूप से की गई है। यह समस्त प्राकृत दोषों से रहित और अशेष ज्ञान बल आदि कल्याण गुणों के निधान है।[1] इस जगत् में जो कुछ द्रष्टिगोचर है या श्रुतिगोचर है नारायण उसके अन्दर तथा बाहर व्याप्त होकर विद्यमान रहते है।[2] नियम्य तथा परतंत्र सत्वाश्रय चिद्चिद्रूप विश्व ईश्वर के ऊपर अवलम्बित होने वाला है। परब्रह्म नारायण, भगवान कृष्ण पुरुषोत्तम आदि परमात्मा की ही सज्ञाऐं है। ईश्वर समस्त दोषों से रहित तथा अशेष कल्याण गुणों का विधान है। प्रकृत दोष ही योग शास्त्र में क्लेश के नाम से पुकारे जाते हैं। मुक्ति दशा में जीव ब्रहम के साथ मिलकर एकाकार होने पर भी अपनी स्वतत्रता पृथक बनाये रखता है और उसका व्यक्तित्व बना ही रहता है।[3]

निम्बार्क मत में स्वतत्र एव परतंत्र दो सत्ताऐं है। स्वतन्त्र तत्व परब्रह्म् है, परतन्त्र चेतन और अचेतन है। परब्रह्म विश्वात्मा भगवान की सत्ता स्वतनत्र अर्थात् किसी अन्य सत्ता के अधीन नहीं है। अभेदपरक वेदवाक्य स्वतंत्र सत्ता विषयक है। भेद परक वेद वाक्य परतन्त्र सत्ता विषयक है। भेद निषेध परक वाक्य चेतन वर्ग जीव तथा अचेतन प्रकृति का स्वतन्त्रता का निषेध करते है। जीव या पुरुष तथा अचेतन प्रकृति परमात्मा से भिन्न अस्तित्व रखते हुए भी उसके अधीन है। इस प्रकार तीन परस्पर भिन्न तत्व है। प्रकृति और पुरुष के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला ब्रह्म् दोनों से भिन्न स्वतंत्र तत्व है। इसके साथ, ज्ञान आदि स्वरूप कार्य के प्रति निरपेक्ष है अतः परिणामी होते हुए भी ब्रह्म अविकारी बना रहता है।[4] जगत ब्रह्म् से भिन्न है और अभिन्न भी। स्वरूपतः ब्रह्म से इसका अभेद है ओर कार्यरूप से भेद भी है जैसे दूध से दही का परिणाम होता है वैसे ही ब्रह्म से जगत का, उसकी असाधारण शक्ति से।[5]

---

1 ईश्वर का रुप– स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् **(दशश्लोकी ४)**

2. "नारायण की व्यापकता"– यच्चकिञ्चिजगत्यास्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्वहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः। **सिद्धान्तजाह्नवी पृ० ५३ में उद्धृत।**

3 ब्रह्मसूत्र १/४/२१ पर वेदान्त कौस्तुभ तथा छान्दोग्य उपनिषद् ८/३/४.

4. कृतिविषयत्वं परिणामात् सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म स्वशक्ति विक्षेपेण जगदाकार स्वात्मान परिणामय्य अव्याकृतेन, स्वरूपेण शक्तिगता कृतिमता परिणतमेव भवति। **वेदान्त पारिजात सौरभ पृ० १/**

5. क्षीरवत् कार्याकारेण ब्रह्मपरिणमते स्वसाधारणशक्तिमत्वात् **वे० पा० सौ० पृ० २/१/२३.**

बल्लभ सम्प्रदाय में ईश्वर– इस मत में ब्रह्म सर्वधर्मविशिष्ट अंगीकृत किया गया है अतः उसमें विरुद्ध धर्मो की स्थिति भी नित्य है। अद्वैत वादियों के मतानुसार निधर्मक निर्विशेष तथा निर्गुण ब्रह्म् माया के सम्पर्क से सगुण के समान प्रतीत होता है। यह कथन ठीक नहीं है। क्योकि अहिकुण्डल के लौकिक द्रष्टन्त से ब्रह्म में उभयरूपतः का होना श्रुतिसिद्ध है।[1] श्री बल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के नाम से विख्यात है। इनके मत से ब्रह्म माया से अलिप्त अतः नितान्त शुद्ध है। यह माया सम्बन्ध रहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्व है। अतः इस मत का शुद्धाद्वैत नाम यर्थार्थ ही है।[2] भगवान की महिमा अनवगाह्य है अतः जो अरणोरणीयान् है वे महतोमहीयान है। वे अनेक रूप होकर भी एक है। स्वतंत्र होने पर भी भक्त पराधीन है। यह संसार लीलानिकेतन ब्रह्म की ललित लीलाओं का विकास मात्र है। यह जगत्कर्तृत्व वास्तविक है, माया कल्पित नहीं। अखिल रसामृतमूर्ति निखिल लीलाधाम श्री कृष्ण ही यहां परब्रह्म है।

बल्लभ वेदान्त में प्रमेय तत्व एक मात्र ब्रह्म है जो सर्वधर्मविशिष्ट है, सविशेष सगुण है, शुद्ध धर्म के समान हेयगुणरहित है। पहले तो वह निराकार सच्चिदानन्दात्मक सर्वभवन समर्थ है किसी निमित्त के बिना ही अपने अंश से धर्म रूप, क्रियादि रूप और प्रपंच रूप हो जाता है फलतः एक के जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है ऐसी प्रतिज्ञा संभव हो जाती है। वही, ज्ञान, आनन्द काल, इच्छा क्रिया, माया प्रकृति रूप से पहले होता था।[3] वह सभी विरुद्ध धर्मो का आश्रय है अतः स्वरूपतः अविकृत रहकर भी अपने को ही रचता है।[4] यह अक्षर ब्रह्म् उसी का आध्यात्मिक रूप है जो ज्ञानियो के आराध्यदेव हैं जिससे जीवात्माएँ अग्नि से चिनगारी के समान प्रकट होती है।[5] जीवों को मुक्त करना होता है तो वह ज्ञान प्रदान करने के लिए काल कर्म और स्वभाव इन तीनों रूपों में आविर्भत होता है। ये तीनों उसी अक्षर ब्रह्म के रूपान्तर हैं। आचार्य बल्लभ का

---

1. "शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारय.। अद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधः।।
   माया सम्बन्ध रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधै। कार्य कारण रूप ही शुद्धं ब्रह्म न मायिकम।।
   शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, २७/२८.
2. "उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत्। **ब्र० सू० ३/२/२७ पर अणुभाष्य।**
3. "प्रस्थान रत्नाकर पृष्ठ १५६.
4. "आत्मक्रियमाण एवात्मानं करोतीति वेदान्तार्थे सगतो भवति। विरुद्ध सर्व धर्माश्रयत्व तु ब्रह्मणो भूषणाय- **अणुभाष्य – १/१/३.**
5. "विस्फुलिंगा इवाग्नेहिं जड़जीवा विनिर्गता.।
   सर्व. पाणि पादान्तात्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखात्। **बल्लभ का० ३१.**

मत है कि अपने माहात्म्य को प्रकट करने के लिए ब्रह्म आपने से सृष्टि करता है।[1] ईश्वर जगत का समवायि या उपादान कारण और निमित्त कारण भी है।[2] इस मत में कुल अठठाइस तत्व मान्य है। सांख्य के पच्चीस तथा कर्म, काल और स्वभाव, किन्तु मुख्यत एक मात्र तत्व ईश्वर हैं क्यों कि वे सब उसी के विकार है।

अन्य दार्शनिकों के अनुसार ईश्वर

चार्वाक के अनुसार ईश्वर का स्वरूप— आत्मा की तरह ईश्वर कि अस्तित्व मे भी विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता है। जड़ तत्वो के समिश्रण से संसार की उत्पत्ति हुई है। जड़ तत्वों का स्वयं अपना–अपना स्वभाव है अपने–२ स्वभाव के अनुसार ही वे संयुक्त होते हैं और उनके स्वतः सम्मिश्रण से संसार की उत्पत्ति होती है इसके लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। चार्वाक अनीश्वर वादी और ईश्वर का ज्ञान प्रव्यक्ष के द्वारा नहीं होता। ईश्वर का न कोई रूप है और न कोई आकार ही है। आकार–विहीन होने के कारण वह प्रत्यक्ष की सीमा से बाहर है अतः सीमा से बाहर होने के कारण ईश्वर का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष ही ज्ञान का एक मात्र साधव है। चार्वाक अनुमान की भी प्रमाणिकता नहीं मानता। उसके मत में शब्द तथा अनुमान से झूठा होने से ईश्वर असिद्ध है। स्वभाव से ही जगत की विचित्रता की सृष्टि तथा स्वभाव से ही जगत के लय की समस्या हलकर देने से चार्वाकों के लिए ईश्वर मानने की आवश्यकता ही नही है। चार्वाक आकाश नाम के पाचवें भूत को नहीं मानता, क्योंकि वह प्रत्यक्ष गम्य नहीं है। चार भूतों के योग से चैतन्य उत्पन्न होता है जैसे शराब के घटक विभिन्न द्रव्यों के मिलने से मदकता के नाम का एक नया गुण उत्पन्न हो जाता है।[3] अतः देह से भिन्न कुछ नहीं है। चार्वाक वर्ण आश्रम आदि से सम्बन्धित क्रियाओं को कर्त्तव्य या धर्म नहीं मानता, क्योंकि उन सभी का सम्बन्ध वेदों की प्रमाणिकता एंव स्मृतियों की मान्यता से है। यदि ज्योतिषटोम यज्ञ में मरा हुआ पशु स्वर्ग को जाता है तो यजमान अपने पिता को ही क्यों नहीं मार डालता।[4]

न्याय दर्शन में ईश्वर का स्वरूप— न्याय दर्शन ईश्वरवादी है वह ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है न्याय ने ईश्वर को एक आत्मा कहा है जो चैतन्य से युक्त

---

1. सापेक्षमपि कुर्वन्तीश्वर इतिमाहात्म्यम्। · अणुभाष्य २/१/३४.
2. निमित्त कारणं समवायि कारणं च ब्रह्मैव। अनुभाष्य १/४/२३.
3. चतुर्भ्यःखलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपेजायते। किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।।–भा० दर्शन पृ० १४४.
4. पशुश्चेन्निहितः निहितः स्वर्ग ज्योतिष्टोमेगामिष्यति। स्वपितायजमानेन तत्र करमात्र हिंस्यते।। भा० दर्शन पृष्ठ १४५.

है। न्याय के मतानुसार आत्मा दो प्रकार की होती है। **जीवात्मा** और **परमात्मा** परमात्मा को ही ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर जीवात्मा से पूर्णतः भिन्न है। ईश्वर का ज्ञान नित्य है। ईश्वर संसार का आदि निर्माता है। उपादान कारण नहीं। इसे हम विश्वकर्मा कह सकते हैं। ईश्वर नित्य ज्ञान युक्त हैं अर्थात् वह नित्य ज्ञान का आश्रय है। ईश्वर के छह गुण है। जिसे षडैश्वर्य कहते है। ये गुण उसमें पूर्ण रूप से वर्तमान है। इसके अनुसार ईश्वर मे अखण्ड ऐश्वर्य अर्थात् आधिपत्य वीर्य, यश, श्री ज्ञान और वैराग्य है।[1] ईश्वर संसार का निमित्त कारण है किन्तु जीवात्माओं के कार्यों का वह प्रयोजक कारण है। न्याय भाष्यकार ईश्वर को आत्माक ही एक विशेष रूप मानते हैं।[2] जिस प्रकार जीवात्मा में ज्ञान आदि गुण है इसी प्रकार ईश्वर में भी ये गुण है। इसीलिए जीव ओर ईश्वर दोनों ही आत्मा है।[3] जीवात्मा के ज्ञान आदि गुण अनित्य होते है जब कि ईश्वर के ये गुण नित्य है।[4] ईश्वर के नित्यमुक्त कहा जाता है।[5] धर्म, नित्य, यर्थाथ ज्ञान और समाधि सम्पत् ईश्वर में है। इनके परिणाम के रूप में ईश्वर में आठ प्रकार के ऐश्वर्य, अणिमा, लधिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, इशित्व और कामावसायित्व भी है।[6] ईश्वर मे संकल्प भी है इसके चलते ही उसमें धर्म की भी सत्ता सिद्ध है। संकल्प प्रत्यक्ष[7] का दूसरा नाम है इसलिए ज्ञान और संकल्प के बीच इच्छा की सत्ता भी ईश्वर में निर्विवाद है ये तीन गुण भी ईश्वर के ऐश्वर्य हैं। उद्योतकर ईश्वर के ज्ञान आदि गुण के नित्य मानते हैं इस नित्यता को इन्होंने अतिशय कहा है।[8] अतिशय ऐश्वर्य का नामान्तर है। न्यायवार्तिककार उद्योतकर ईश्वर की नित्य बुद्धि को ही क्रियाशक्ति इच्छा और प्रयत्न

---

1. षड्दर्शन–समुच्चय, अभ्यास १: कुसुमाञ्जलि, ५
2. न्याय म० भाग – २ पृष्ठ – १२.
3. न्याय वार्तिक, ४/१/२१, पृ० ४६४ तात्पर्या टीका ४/१/२१ पृ० ५६५ न्याय कन्दली पृ० २६।
4. तात्पर्याटीका ४/१/२१ पृ० ५६५.
5. न्याय कन्दली पृ० १४२.
6. योग भाष्य ३/४४; सांख्य तत्व कौमुदी कारिका २३.
7. संकल्प इति प्रयत्नः। न्याय मञ्जरी, भाग –१ पृ० १८५
8. न्याय वार्तिक, ४/१/२१ पृ० ४६४.

का प्रतिनिधि मानते है।[1] यद्यपि भाष्यकार वात्स्यायन, तथा जयन्त भट्ट ईश्वर को धर्म सम्पन्न मानते है।[2] उद्योतकार संख्या, परिमाण, पृथकत्व संयोग और विभाग इन पांच सामान्य गुणों के साथ एक विशेष गुण, ज्ञान की सत्ता भी ईश्वर में मानते है।[3] आगमप्रमाण के आधार पर जयन्त भट्ट ईश्वर में नित्य आनन्द की सत्ता भी मानते है।[4] परन्तु अन्य आचार्य इसके विरोधी है।[5] इसप्रकार न्याय सम्मत ईश्वर इस जगत का निमित्त कारण जीवात्माओं के अदृष्टो का उद्बोधन करने वाला, ज्ञान, इच्छाप्रयत्न आदि गुणों से सम्पन्न नित्य मुक्त सर्वज्ञ सर्वशक्ति सम्पन्न आत्मा है।

बौद्ध दर्शन में ईश्वर का स्वरूप– बुद्ध ने ईश्वर की सत्ता का निषेध किया है साधारणतया यह कहा जाता है कि विश्व ईश्वर की सृष्टि है और ईश्वर विश्व का सृष्टा। बुद्ध के अनुसार यह संसार प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम से संचालित होता है विश्व परिवर्तन शील एवं अनित्य है इस नश्वर एवं परिवर्तनशील जगत का सृष्टा ईश्वर को ठहराना असंगत है। विश्व की समस्त वस्तुएं कार्य कारण की एक श्रंखला है। कारण का नियम विश्व के प्रत्येक क्षेत्र में कार्य करता है। बुद्ध के अनुसार कारण नियम के सृष्टा के रूप में ईश्वर को मानना दोषपूर्ण है क्योंकि ईश्वर किसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए ही कारण नियम का निर्माण कर सकता है जिससे ईश्वर की अपूर्णता प्रमाणित हो जायेगी अतः कारण नियम के आधार पर ईश्वर को सिद्ध करना भ्रामक है। यह कर्म एवं पुनर्जन्म पर विश्वास करता है। बुद्ध ने अनीश्वरवाद को प्रामाणित कर दी है। उन्होंने शिष्यों को आत्मनिर्भर रहने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने **"आत्मदीपोभव"** का उपदेश देकर शिष्यों को स्वयं प्रकाश खोजने का आवेश दिया। बुद्ध को अनित्य दुःख एवं अनात्मवाद में ईश्वर या ब्रह्म सदृश सृष्टिकर्ता के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। फिर भी **त्रिपिटक** में कई जगह जहां भी ईश्वर का जिक्र किया गया है वहां बुद्ध ने

---

1 न्याय कदली पृ० १४२ – "अन्येतु" प्रतीक के अन्तर्गत
2. धर्मस्तु भूतानुग्रहवतोः वस्तुस्वाभाव्याद् भवन्न वार्यते। न्याय म० भाष्य १ पृ० १८५.
3. तत्र हि नित्या बुद्धिः संख्यादयश्च सामान्यगुणाः षड्गुण आकाशवदीश्वरः। न्याय वार्तिक ४/१/
4. न्याय मञ्जरी भाग –१ पृ० १८५.
5. न्याय कन्दली पृ० १४१ मुक्तावली कारिका, ४६.

ईश्वर का निराकरण ही किया जिससे बौद्ध धर्म निरीश्वरवादी धर्म सिद्ध हुआ। बुद्ध का मन्तव्य है कि ईश्वर नाम की कोई सत्ता नहीं है, जो इस लोक का सृष्टि कर्ता हो इस लोक का संचालक हो। सभी सत्व अपने कर्मो से इस लोक में जन्में हैं, जन्मतें हैं, और अपने कृत कर्मो का अच्छे बुरे का फल भोगते हैं। कोई भी त्रैविद्य ब्रह्मणों में ऐसा नही है जिसने ब्रह्मा या ईश्वर को साक्षात् अपनी आखों से देखा हो अतः ईश्वर नहीं है। यह लोक अनादि और अनन्त है तथा अनिर्मित है। यही बुद्ध का अनीश्वरवाद है।

जैन दर्शन में ईश्वर का स्वरूप-- जैन धर्म को भी बौद्ध दर्शन के समान वेदों की प्रामाणिकता का निराकरण करने के कारण ही नास्तिक माना गया है। जैन दर्शन एक दूसरे अर्थ में भी नास्तिक है वह मत है ईश्वर की सत्ता में उसका अविश्वास। प्रकृति से परे तन्नियामक ईश्वर नामक एक अतीन्द्रिय सत्ता है जिससे जगत की सृष्टि स्थिति एवं संहार होते आदि क्रियाएँ है। इसे जैन सिद्धान्त असंगत मानता है जैनाचार्य इस निर्णय पर पहुंचते है कि जगत के कर्ता के रूप में माने गये ईश्वर की कोई सत्ता नही है। ईश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा असम्भव है। बौद्ध धर्म की भांति जैन भी ईश्वर को नहीं मानता।[1] जैनों को अनीश्वरवाद ही मान्य है। ईश्वर का ज्ञान युक्तियों के द्वारा प्रामाणित होता है। प्रत्येक कार्य के लिए एक कर्ता की आवश्यकता है। गृह एक कार्य है यदि उसे किसी कर्ता ने बनाया नहीं तो उसका अस्तित्व संभव नहीं होता उसी प्रकार संसार एक कार्य है। इस संसार का कर्ता ईश्वर है किन्तु यह युक्ति निर्दोष नहीं है क्योंकि संसार को कार्य रूप में माना गया है। जैन धर्म में तीर्थङ्कर ही ईश्वर हैं मार्ग प्रदर्शन करने एवम् अन्तः प्रेरणा के लिए इन्हीं की पूजा की जाती है जैन धर्म में पांच परमेष्टि को माना जाता है। **अर्हत् सिद्ध, उपाचार्य, उपाध्याय,** एवं **साधु**। पूर्व जन्म के कर्मो का नाश, विचार, वचन और कर्मो के द्वारा ही हो सकता है। कल्याण की प्राप्ति अपने ही कर्मो के द्वारा हो सकती है। यही कारण है कि हिन्दू दर्शन में ईश्वर की कल्पना अवतार रूप में की गई किन्तु लोक में आचार का आदर्श स्थापित करने के लिए जैन दर्शनिक ऐसे ईश्वर की कोई उपयोगिता नहीं मानतें। उनके मत में मनुष्य स्वतः

---

1. प्रमेय--कमल मार्तण्ड--द्वितीय अध्याय और स्यादवाद--मञ्जरी श्लोक -- ६ और उनकी टीका।

अपने लिए आदर्श उपस्थित करने में समर्थ है और इसके लिए ईश्वरत्व की कल्पना निरर्थक है। इस प्रकार जैन दर्शन मानववाद का हिमायती, है जो विश्व का प्राचीनतम् मानववाद है।

वैशेषिक दर्शन में ईश्वर का स्वरूप-- वैशेषिक सूत्र में कणाद ने जगत कर्ता के रूप मे ईश्वर का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। इसी लिए अनेक लोगों ने वैशेषिक दर्शन को निरीश्वरवादी दर्शन के रूप में ग्रहण किया है। कणाद ईश्वरवादी थे या नही इस प्रश्न का निश्चित समाधान वैशेषिक सूत्र के आधार पर देना सम्भव नहीं किन्तु कणाद व्यक्तिगत जीवनी को साक्षी मानने पर यह भी मानना ही पड़ता है कि वे ईश्वरवादी थे।[1] वैशेषिक तथा अन्य सम्प्रदायों के अनेक आचार्यों द्वारा मान्य कणाद का जीवन चरित सर्वथा असत्य ही होगा यह भी उचित नहीं प्रतीत होता है। कणाद के बाद के आचार्यो में प्रशस्तपाद सर्वप्रथम उपलब्ध आचार्य है जिन्होंने ईश्वर की सत्तामानी है। प्रशस्तपाद ओर कणाद के बीच ५००--६०० वर्षो का व्यवधान होने पर भी साहित्यिक दृष्टि से कोई लम्बा व्यवधान नही है इसलिए ऐसा लगता है कि कणाद ईश्वरवादी अवश्य थे। नहीं तो एका--एक ईश्वर का वैशेषिक दर्शन में समावेश करने वाले प्रशस्तपाद ईश्वर का उल्लेख या स्वीकृति बिना किसी तर्क वितर्क के नहीं कर लेते। विचारणीय विषयों की सीमा से बाहर होने के कारण ही कणाद ने ईश्वर के बारे में कुछ विचार नहीं किया।

कुछ लोगों की मान्यता है कि पाशुपत दर्शन के प्रभाव से ही ईश्वरवाद वैशेषिक दर्शन के परवर्ती आचार्यो के ग्रन्थों में स्थान प्राप्त कर चुका है, किन्तु मूल में तो यह दर्शन स्पष्टतया निरीश्वरवादी था।[2] शंकराचार्य ने अपने ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य में जिस वैशेषिक मम का उल्लेख किया है उसमें ईश्वर की चर्चा नहीं है। इसीलिए भी

---

1. प्रारम्भ में कणाद की जीवनी का उल्लेख करते समय यह स्पष्ट नहीं किया जा सका कि माहेश्वर या शिव के प्रति इनकी अटूट श्रद्धा थी। वादीन्द्र ने तो कणाद सूत्र निबन्ध मे यह भी लिखा है कि एक शिव निर्मित वैशेषिक सूत्र था। देखे -- Prof Thakur, Introduction to the Vaisesika Darsana. Baroda 1961 P. -- 10.
2. Prof. Thakur: Introduction to the Vaisesika Darsana. Darbhanga 1957 P -- 16.

वैशेषिक दर्शन का मूलतह निरीश्वरवादी होना सिद्ध है।[1] शंकराचार्य ने जिस वैशेषिक मत को प्रस्तुत किया है उसमे ईश्वर का स्थान स्पष्ट है। उन्होंने स्वयं इस बात को स्पष्ट कर दिया है।[2] ईश्वर के स्वरूप आदि के विषय में न्याय दर्शन और वैशेषिक दर्शन के ईश्वरवादी आचार्यों में कोई मत भेद नहीं है।

सांख्य दर्शन में ईश्वर का स्वरूप— सांख्य न्याय से कम आस्तिक नही है सनातन सांख्य मतावलम्बी ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध अनेक युक्तिया देते हैं १. यह संसार कार्य श्रंखला है अतएव इसका कारण होना चाहिए इसमें तो कोई संदेह ही नही परन्तु वह कारण ईश्वर नहीं हो सकता। क्योंकि ईश्वर को नित्य निर्विकार परमात्मा माना गया है जो परिणामी नही हैं वह किसी वस्तु का निमित्त कारण नहीं हो सकता। प्रकृति तो जड़ है इसकी गति को नियमित करने के लिए चेतन सत्ता आवश्यक है जो सृष्टि करती है अतएव एक अनन्त बुद्धि युक्त चेतन सत्ता होनी चाहिए। जो प्रकृति का संचालन कर सके वही ईश्वर है। परन्तु यह तर्क समीचीन नही है। प्रकृति ही संसार का मूल कारण है प्रकृति अज्ञात रूप से स्वभावतः पुरुषों के कल्याणार्थ उसी तरह सृष्टि रचना करती है जिस तरह बछड़े की सृष्टि के निमित्त गाय के थन से दूध की धारा बहती है। सांख्य कारिका में ईश्वर शब्द का प्रयोग ही नहीं हुआ। तत्यसमास में भी ईश्वर शब्द का प्रयोग नहीं है। सांख्य प्रवचन सूत्र में ईश्वर को असद्धि कहा गया है।[3] और दूसरी जगह उसे सिद्ध कहा गया है।[4] इन बातों से सिद्ध है कि सांख्य निरीश्वरवादी है। और सांख्य प्रवचन सूत्र ने एक ऐसे ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास किया है जिसे सामान्यतः लोग ईश्वर नहीं मानते जब सांख्य तथा योग ने एक दार्शनिक सम्प्रदाय का रूप धारण किया तब सांख्यपुनः सेश्वरवादी हो गया। सांख्य ईश्वर के बारे में निम्न प्रमाण देता हैः—

---

1. George Chemparothy: Theism and early vaisesika System. गोपीनाथ कविराज अभिनन्दन ग्रन्थ लखनऊ : १९६७
2. कणादस्तु एतेभ्यः एवं वाक्येभ्यः ईश्वरं निमित्ताकारणनुमिततो अणूश्च समवायि कारणाम्। ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य – १/१/५.
3. साख्य प्रवचन सूत्र भाष्य १.६८. ईश्वरासिद्धेः।
4. साख्य प्रवचन सूत्र भाष्य ३५७ ईदृशेश्वरसिद्धिसिद्धा।

१. कपिल अज्ञेयवादी थे वे न तो अनिश्वरवादी थे और न ईश्वरवादी।

२ कपिल के बाद सांख्य ईश्वरवादी हैं। जिसके प्रमुख दार्शनिक पंचशिख है जो महाभारत के समकालीन है इससे पंचशिख का ईश्वरवादी होना सिद्ध होता है।

३ साख्याचार ईश्वर कृष्ण निरीश्वरवादी है इसके कारण ही शंकाराचार्य ने सांख्य दर्शन की आलोचना की।

४. विज्ञान भिक्षु ईश्वरवादी है इनका ईश्वर योग का ईश्वर है। सम्भवतः विज्ञान भिक्षु से ही साख्य तथा योग को एक समान तन्त्र मानने की परम्परा अब काफी सुदृढ़ हो गयी विज्ञान भिक्षु ने स्वयं कहा कि कुछ सांख्यों का मत निरीश्वरवाद है सभी का नहीं।[1] जिन संख्याचार्यों ने ईश्वर को माना है वे उसको उसी अर्थ में लेते है। जिस अर्थ में योग दर्शन ईश्वर का वर्णन करता है ईश्वर एक विशेष पुरुष है वह सर्वज्ञ और सर्व कर्त्ता है।[2] यही से यह सेश्वर सांख्य माना जाने लगा। ईश्वर को पुरुष विशेष मानने पर सांख्य में कुल २५ तत्व आते है महाभारतादि वर्णित सांख्य के अनुसार ईश्वर पुरुष से भिन्न एक छब्बीसवां तत्व है जैसा कि भगवत्‌गीता में कहा गया है। वह प्रकृतिक अध्यक्ष और पुरुषों का स्वामी है ईश्वर है सारे पुरुष उसके ही कार्यो के निमित्त है। उसके द्वारा पुरुष नियंत्रित होते है। इस प्रकार सांख्य का ईश्वर वही है जो भागवत् गीता का ईश्वर है। प्रोफेसर हिरियन्ना के अनुसार "कुछ प्राचीन एवं नवीन विद्वानों ने यह सिद्ध करने की चेष्ठा की कि कपिल को ईश्वर न मानने का कोई इरादा नहीं था उनका अभिप्राय केवल यह था कि तर्क से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करना असम्भव है। लेकिन यह दर्शन युगीन सांख्य की प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतीत होता है।[3] डा० दास गुप्ता ने सांख्य को निरीश्वरवादी बताया है। उन्होंनें कहा कि सांख्य और योग के मध्य मूल अन्तर यह है कि सांख्य ईश्वरवाद का निषेध करता है जब कि योग ईश्वरवाद की प्रस्थापना करता है। यही कारण है कि सांख्य को निरीश्वर सांख्य और योग को सेश्वर सांख्य कहकर विवेचित किया जाता है।[4]

---

1. प्रो० रागम लाल पाण्डेय "भारतीय दर्शन की कहानी" पृ० १०७.
2. स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता—सांख्य प्रवचन सूत्र ३५६
3. भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ० २८२. प्रो० एम० हिरियन्ना
4. भारतीय दर्शन का इतिहास दास गुप्ता, प्रथम संस्करण का पृ० २५३.

योग दर्शन में ईश्वर– योग दर्शन मे ईश्वर का स्थान अत्यन्त महत्व पूर्ण है। योगी को भी सांख्य के २५ तत्व अभीष्ट है केवल ईश्वर तत्व अधिक है। इसी लिए योग सेश्वर सांख्य कहलाता है योग के शब्दों में जो पुरुष विशेष, क्लेश, कर्म विपाक तथा आशय से शून्य रहता है। वह ईश्वर कहलाता है।[1] ऐश्वर्य और ज्ञान की जो पराकाष्ठा है वही ईश्वर है। अतः वह प्रकृति कालीन तथा मुक्त पुरुषों से नितान्त भिन्न रहता है। नित्य होने से वह भूत वर्तमान और भविष्य तीनों कालों से अवछिन्न है। वेदशास्त्रों का प्रथम उपदेष्टा ईश्वर है। वह किसी भी प्रकार के क्लेश के वश में नहीं रहता कर्म तथा उनके फल उसे स्पर्श नहीं करते। ईश्वर प्रणिधान से ही समाधि की सिद्धि मानी जाती हैं।[2] योग में जड़ और चेतन दो प्रकार के पदार्थों का वर्णन है ईश्वर चेतन वर्ग के अन्तर्गत आता है चेतन तत्व पुरुष है अतः ईश्वर पुरुष है। यह सर्वसाधारण पुरुष नहीं है पुरुष विशेष है पुरुषों की बद्धादि श्रेणियों में असंख्य पुरुष आते है लेकिन "सदामुक्त" श्रेणि में एक ही पुरुष विशेष है अनेक नहीं। अर्थात् पुरुष विशेष ईश्वर अद्वितीय है। यद्यापि पुरुष असङ्ग है।[3] ईश्वर काल की सीमा से परे है। इसी को योग रूप मे "कालानवछिन्न" शब्द से कहा है।[4] श्रुति आदि ग्रन्थों में ईश्वर **"ओङ्कार"** नाम से पुकारा गया है। ओङ्कार का दूसरा नाम प्रणव है ईश्वर एवं प्रणव में वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध है।[5] ईश्वर प्रणव का वाच्य है और प्रणव ईश्वर का वाचक है यह अनादि सम्बन्ध है। अतीत् सर्गो में ईश्वर प्रणव नाम से जाना गया और अनागत सर्गो में भी ईश्वर प्रणव वाच्य रहेगा।

---

1. क. क्लेश कर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेषः ईश्वरः। **योग सूत्र १/२४.**
   ख. यथा मुक्तस्व पूर्वाबन्धकोटिः प्रज्ञाय ते नैवमीश्वरस्य, यथा वा प्रकृति लीनस्य उत्तरा बन्ध कोटि सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य सतु सदैव ईश्वरः **योगभाष्य १/२४.**
2. ईश्वरस्तु साम्यपरिमार्णादि – रूपाखिवरण भगेन उदबोधकः। **भोजवृत्ति २/४५.**
3. असङ्गो ह्यय पुरुष इत्येवमेवैतात्। **बृहदारण्यक उपनिषद – ४/३/१५/१६.**
4. स पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्। **योग सूत्र – १/२६.**
5. तस्यवाचक प्रणवः – **योग सूत्र १/२६.**

चित् को एकाग्र बनाने के लिए महर्षि पतञ्जलि ने योग के अभ्यासियों को प्रणव का जप करने का परामर्श दिया है।[1] ईश्वर की कृपा से ही साधक योग की अन्तिम अवस्था असम्प्रज्ञात हो प्राप्त करता है।[2] ईश्वरानुग्रह के व्याधि आदि अन्तराय जो चित्त की एकाग्रता के बाधक तत्व है स्वतः नष्ट हो जाते है। अतः ईश्वर ध्यान का सर्वश्रेष्ठ विषय है। इसी कारण से महर्षि ने उत्तम्, मध्यम, अधम् तीनों प्रकार के साधक को ईश्वर ध्यान का उपदेश दिया है। ईश्वर का उपाधिभूत प्रकृष्टचित्त् प्रकृति का कार्य है। ईश्वर का प्रकृष्ट सत्व प्रधान चित् प्राकृतिक अर्थात् प्रकृति का कार्य होने से लयशील है।[3] अतः महाप्रलय की अवस्था में जिस समय सभी जड़ पदार्थ लयाभिमुख होते है उस समय ईश्वर के उपाधि भूत चित् की ज्यों कि त्यों स्थिति बनी रहनी स्वाभाविक नहीं। इस प्रकार महाप्रलय में अपने कारण में लीन हुआ चित् अग्रिम सृष्टि में पुनः जीवों के उद्धारार्थ उपाधि धारण करेगा। ईश्वर के इस संकल्प की वासना से वासित होने के कारण अग्रिम सर्ग में पुनः ईश्वर संयुक्त होता हैं। विज्ञान भिक्षु एवं उनके मतानुयायियों का इस सम्बन्ध में दूसरा मत है। यह महाप्रलय में ईश्वरोपाधि का लय नहीं मानते।[4] इस प्रकार योग शास्त्र में ईश्वर को लेकर अनेक बिन्दुओं पर विचार हुआ है। जो ईश्वर की भक्ति करते है उन्हें ईश्वर सहायता प्रदान करता है। ओऽम् ईश्वर का प्रतीक है। ईश्वर ही वह पुरूषोत्तम है। ईश्वर ज्ञान और सत्य के अतिशय की पराकाष्ठा है। "तत्र निरतिशयंसर्वज्ञवीजम्" वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है उससे अधिक ज्ञानी तथा शक्तिशाली दूसरा कोई पुरुष नहीं।

मीमांसा में ईश्वर का स्वरूप– मीमांसा दर्शन में ईश्वर का स्थान गौड है जौमिनी ने ईश्वर का उल्लेख नहीं किया जो एक अन्तर्यामी और सर्वशक्तिमान है मीमासा देवताओं को बलि प्रदान करने के लिए कल्पना करती है। चूंकि मीमांसा दर्शन में अनेक देवताओं को माना गया है। इसी लिए मीमांसा अनेकेश्वरवादी कहा जाता है।

जो भ्रामक है क्योंकि देवताओ का अस्तित्व केवल मंत्रों में माना गया है। वेद अपौरूषेय है। वे स्वप्रकाश और स्वतः प्रमाण हैं। बाद के कुछ मीमांसक अनुयायियों ने ईश्वर को स्थान दिया है उन्होंने ईश्वर को कर्मफल देने वाला तथा कर्म का संचालक कहा है। प्रो० मैक्समूलर ने मीमांसा दर्शन को निरीश्वरवादी कहने में आपत्ति की, उनका कहना है कि मीमांसा ने ईश्वर के सृष्टिकार्य के विरुद्ध आक्षेप किया है। परन्तु इससे अनीश्वरवादी समझना भूल है। मीमांसा वेद पर आधारित है वेद में ईश्वर का पूर्णतः संकेत है। अतः यह मानना कि मीमांसा अनीश्वरवादी है असन्तोषजनक प्रतीत होता है। आचार्य वादारायण ईश्वर को कर्मफल का दाता मानते है। पर जैमिनी[1] के अनुसार यज्ञ से ही तत्तत् फल की प्राप्ति होती है ईश्वर के कारण नहीं। आपदेव एवं लौगाक्षिभास्कर ने गीता के ईश्वर समर्पण सिद्धान्त को श्रुतिमूलक मानकर मोक्ष के लिए समस्त कार्यो के फल को ईश्वर को समर्पण करदेने की बात लिखी।[2] वेदातदेशिक ने इसी उद्देश्य से सेश्वरमीमांसा नामक ग्रन्थ की रचना की। प्रभाकर विजय के कर्त्ता ने ईश्वर के विषय में किये गये अनुमान का तो खण्डन किया है।[3] परन्तु ईश्वर की सिद्धि को स्पष्टतः अङ्गीकार किया है। प्रभाकर भी श्रुतिमूलक सत्ता को मानते है अनुमानगम्य को नहीं। मीमांसा ग्रन्थों में जिसे ईश्वर का खण्डन समझा जाता है वह ईश्वर का खण्डन न होकर नैयायिकों के अनुमान का खण्डन है।[4] वेदसिद्ध "वैदिक" ईश्वर के खण्डन का कभी तात्पर्य भी नहीं रहा अतः इस दर्शन को निरीश्वरवादी कहना अपनी अल्पज्ञता का ही प्रकाशन करना है। समाज को कर्मठ बनाने के लिए कर्म की प्रधानता बताना इस दर्शन का प्रधान लक्ष्य था जिसे उसने पूर्ण रूप से निभाया।[5] यहां यह भी कहना युक्ति संगत न होगा कि मीमांसा को वैदिक ऋषियों के समान देवताओं में ज्वलंत विश्वास था।[6]

---

1. "धर्मो जैमिनिरत एव" ब्रह्म सूत्र ३/२/४.
2. ईश्वरार्पणबुद्धया क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः न न तदर्पण बुद्धयानुष्ठानेप्रमाणाभावः। "यत्करोषि यदश्नासीति" भगवत्गीतास्मतेरेव् प्रमाणत्वात् स्मृतिचरणे तत्प्रामाणस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनात् अर्थसंग्रह पृ० १६६ मीमांसा न्याय प्रकाश – पृ० १६७.
3. एवं चानुमनिकत्वेमेवेश्वरस्य निराकृतम् नेश्वरोऽपि निराकृतः। अतएव न प्रभाकर गुरूभिरीश्वरनिरासः कृतः। तत्समर्थनं च वेदान्त मीमांसायां क्रियतइत्यभिप्रतम्– प्रभाकर विजय पृ० ८२.
4. प्रभाकर विजय पृ० ७६–८३ भाट्टचिन्तामणि, गागाभट्ट पृ० ४२-४३.
5. न्यायकाणिका पृ० २१२–२१६.
6. प्रकरण पञ्चिका पृ० १८६.

वेदान्त दर्शन में ईश्वर— ब्रह्म निगुर्ण एवं निराकार है ब्रह्म को जब हम विचार से जानने का प्रयास करते है तब वह ईश्वर हो जाता है। ईश्वर सगुण ब्रह्म् है। ईश्वर सविशेष ब्रह्म भी कहा जाता है। ईश्वर सर्वत्र, सर्वव्यापक है। यह स्वतंत्र है तथा एक है वह नित्य तथा अपरिवर्तनशील है। ब्रह्म का प्रतिविम्ब जब माया में पड़ता है तब वह ईश्वर हो जाता है। शकर के दर्शन में ईश्वर को मायोपहित ब्रह्म कहा जाता है। ईश्वर माया के द्वारा जगत की सृष्टि करता है। ईश्वर के **सगुण ब्रह्म् अपरब्रह्म** और **कार्य ब्रह्म्** ही अद्वैत वेदान्त में पर्यायवाची शब्द है। पञ्चदशीकार[1] के अनुसार माया विशुद्ध सत्व प्रधान है। जबकि अविद्या मलिन सत्व प्रधान है। उनके मत में माया से प्रतिफलित चिदानन्द सर्वज्ञ ईश्वर है। यह भी कहा जाता है कि माया की उपाधि से सयुक्त चैतन्य ईश्वर है। चैतन्य एक ही अविच्छिन्न वस्तु है। उसमें बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब की कल्पना उपाधि जन्य है। 'एक जीव मानने वाले के मत में' यह उपाधि अविद्या है नाना जीववाद में यह उपाधि अन्तः कारण है। इन्हीं उपाधियों के कारण तो जीव और ईश्वर में भेद है। इस मत में विम्बभूत चैतन्य रूप ईश्वर में उपाधियों का दूषण कथमपि स्पर्श नहीं करता है जिस प्रकार आकाश स्थित सूर्य का प्रतिविम्ब जल में पड़ता है। और इन प्रतिबिम्बों में पार्थक्य है उसी प्रकार जीव और ईश्वर में अन्तर है। ब्रैडले ने ईश्वर को ब्रह्म का विवर्त माना है। इसी प्रकार शंकर ने भी ईश्वर को भ्रम का विवर्त कहा है। जिस प्रकार काण्ट विश्वास को ईश्वर का आधार मानता है। उसी प्रकार शंकर श्रुति को ईश्वर का आधार मानते है।[2] ईश्वर के अस्तित्व सम्बन्धी इस प्रमाण को कारण मूलक प्रमाण कहा गया है। जिसे विश्व सम्बन्धी युक्ति के अर्न्तगत रखा जाता है। क्योंकि श्रुति ही ईश्वरीय अस्तित्व का आधार है।

---

1. पञ्चदशी १/१६–१७.
2. "As Kant Falls back on faith so Shanker Falls back on Shruti". A Critical Survay of Indian Philosophy **P. 281 by Dr. Sharma.**

खण्डन– हम पहले ही कह चुके है कि ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है। वह सृष्टि का रचयिता है साथ ही प्रेरक भी। जीव और प्रकृति जिनसे हम इस जगत का निर्माण हुआ है। ईश्वर के अशंभूत तत्व है इसलिए ईश्वर जगत का उपादान कारण है। सृष्टि का प्रारम्भ ईश्वर के संकल्प से होता है इसीलिए वही जगत का निमित्त कारण है। ईश्वर आनन्दमय एवं चैतन्य है। यह सबसे परे, परम और अन्तिम सत्ता है, वह स्वयंभू है और सबका आधार है। यह अनादि और अनन्त है जिसे सत् या असत् नहीं कहा जा सकता। वह निगुर्ण है किन्तु गुण से उत्पन्न सभी विषय का भोग करता है जो हमारे बाहर और भीतर बसा हुआ है। वह सर्वज्ञ सर्वद्रष्टा और सर्वाधिपति है और उसमें सभी विद्यमान है। वह सब में व्याप्त है तो भी असत् कहलता है क्योंकि वह इन्द्रिय गोचर नहीं है। किन्तु जिस प्रकार फूलों की सुगन्ध स्वतः उपलब्ध होती है उसी प्रकार वह भी स्वयं वेद्य है।[1] जगत की सारी सत्ता उसमें निहित है। और वह देशकाल के बन्धन से परे है उसी प्रकार यह ईश्वर सारे जगत मे व्याप्त है। ईश्वर जड़ और चेतन में उसी तरह व्याप्त है जैसे औषधियों मे रस।[2] ईश्वर और भक्ति में भी सागर और नदी के जल की तरह भेद और अभेद दोनों है। यह स्थित ईश्वर के भक्तों में विद्यमान है। ईश्वर अपने में से त्रिविध शक्ति के रूप में प्रकट होता है। जो मनुष्यों में सूक्ष्म शरीर के रूप में स्थित है। चैतन्य तत्व का प्रकृति से उत्पन्न अचेतन मनोव्यापार के साथ संयोग किसी भी मिथ्या कल्पना से नहीं है और वह भ्रम भी नहीं है किन्तु हममें स्थित ईश्वरीय अन्तर शक्ति के व्यापार से है। ईश्वर की शक्ति दो प्रकार से प्रकट होती है, स्थावर रूप से उसका प्रथम प्रकार काल, अव्यक्त् और पुरुष में प्रकट होते है तथा दूसरा प्रकार क्रिया रूप से। ईश्वर की क्रियाशक्ति सहज है जो विचार और संकल्प रूप से क्रिया में व्यक्त होती है।[3] इसे संकल्प या विचार कहा जाता है जिसकी गति अव्याहत है और जो अव्यक्तकाल पुरुष इत्यादि सारे जड़ और चेतन को उत्पन्न करती है।[4] इसी शक्ति को दूसरे शब्दों में लक्ष्मी या विष्णुशक्ति कहा जाता है जो प्रकृति तत्व को पुरुष के समक्ष उपस्थित करती है।

---

1. स्व सवेद्यं तु तद् विद्धि गन्धः पुष्पादिको यथा।–जयाख्यसंहिता ४/७६.
2. चेतनाचेतना सर्वे भूताः स्थावर जगमाः पूरिता. परमेशेन रसेनौषधयोयथा। जयाख्य संहिता ४/६३.
3. स्वातन्त्र्यमूल इच्छात्मा प्रेक्षारूप क्रियाफल.। आहिर्बुध्न्यसंहिता – ३/३०.
4. उन्मेषो यः सुसंकल्पः सर्वत्राव्याहतः कुतौ। अव्यक्तकालपुरुषां चेतनाभिकाम् अहि० संहिता ३/३८/३६.

ईश्वर अर्न्तयामी के रूप में हमारा नियंत्रण करता है उसी की प्रेरणा से हम पाप एवं पुष्य करते है। इस प्रकार हम अर्न्तयामी ईश्वर से कभी भी बचन नहीं सकते। अन्य रूप में वह हमारे हृदय मे आकर हमारे ध्यान का विषय बनता है।[1] ईश्वर की पांच प्रकार की सत्ता मानी गई है, पहली परा दूसरी व्यूह तीसरी विभषावतार चौथी अन्तर्यामी और पांचवी अर्चावतार है।[2] ईश्वर अपने श्रेष्ठ रूप में हमेशा आपनी शक्ति लक्ष्मी या श्री से संलग्न रहते है।[3] तत्वत्रय और वरवर रचित उसकी टीका में हमें तीन सहधर्मिणी, देवियां लक्ष्मी, भूमि और नीला देवी का उल्लेख मिलता है। सीता उपनिषद् में जिसका ज्यादा उल्लेख करते है। सीता को महालक्ष्मी कहा गया है। जो इच्छा ज्ञान और क्रिया रूप में प्रकट है। यहां सीता को महेश्वर से पृथक एवं एक रूप शक्तिमाना जिसमें जगत के समस्त चित एवं अचित पदार्थो का समावेश है। तीसरे रूप में यहां शक्ति द्वारा सारी औषधियां उगती है। और काल का निर्णय होता है।[4] व्यूहों और विभवों के रूप में ईश्वर की अभिव्यक्ति निर्मल या शुद्ध कही गयी है। क्योंकि उनके ध्यान द्वारा ही योगी अपने इष्ट को पा सकते है।[5]

---

1. तत्वत्रय – १३६–१४०.
2. तत्वत्रय में विष्वक्सेनसहिता का सन्दर्भ देखें पृ० १२२
3. अहिर्बुहन्य संहिता ६–२५
4. लक्ष्मी, पुष्टिर्दया निद्रा क्षमा काति सरस्वती।
   धृति मैत्री रतिस्तुष्टिर्मति द्वादशत्री स्मृता। सात्वतसंहिता ९/८५.
5. पञ्चरात्र पृ० ५३.

सप्तम् – अध्याय
नित्यविभूति परिच्छेद

नित्यविभूति क्या है– विशिष्टाद्वैत में मुक्त जीवों के अतिरिक्त नित्यविभूति के अस्तित्व को अङ्गीकार किया गया है। जो कभी भी बद्ध नहीं होते तथा जहा पर मुक्त के पहुचने पर सम्पूर्ण अविद्या अर्थात् कर्म नष्ट हो जाते है। वह नित्यविभूति है।

सत्व गुण की उच्च अवस्था को प्राप्त करने पर योगी को अनेक प्रकार की विभूतियां प्राप्त होती है, ये विभूतियां ईश्वर का अश है। जब अविद्या की निवृत्ति होती है और सत्वगुण का उत्कर्ष होता है तब योगी के स्वाभाविक ऐश्वर्य का उदय होता है यह क्रम ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति से लेकर आत्मा स्वरूप मे लीन होने तक आत्मा को कहा जाता है, उसके बाद कैवल्य है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज का कहना है कि विभूतियां हेय नहीं है वे भगवान की दिव्यविभूति है और शुद्ध सत्व के कार्य है।[1] शुद्ध सत्व का दूसरा नाम नित्य विभूति ही है इस सत्व की कल्पना ही रामानुज दर्शन की विशेषता है इसी नित्य विभूति का नाम त्रिपादविभूति, परमपद, परमव्योम् अमृत वैकुण्ठ अयोध्या आदि है।[2]

नित्य विभूति को शुद्ध सत्व तथा त्रिपाद् विभूति भी कहा जाता है। नित्य विभूति को शुद्ध सत्व इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें रहने वाला सत्व गुण प्राकृतिक न होकर दिव्य है। प्रकृति मे रहने वाला सत्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण से मिश्रित रहता है, किन्तु नित्य विभूति मे पाये जाने वाले सत्व गुण में रजोगुण एवम् तमोगुण का मिश्रण नहीं है। अतएव यह शुद्धसत्व है।

---

1 भारतीय संस्कृति और साधना प्रथम खण्ड पृ० ४०८, और द्वितीय खण्ड का पृ० २७६,

2 शुद्ध सत्व के विषय मे मतभेद– कुछ आचार्य उसे जड मानते है परन्तु वेंकटनाथ श्री निवास आदि अन्यमान्य आचार्य उसे चित् तत्व ही मानते है। श्री निवास ने यतीन्द्रमत दीपिका पृ० ३२ मे इसे स्वयं प्रकाश तथा अजड तत्व स्वीकारा है। वेंकटनाथ ने तत्वमुक्ताकलाप मे भी यही माना है इन वचनों से स्पष्ट है
नित्याभूतिर्मतिश्चेत्यपरम् १/६ ज्ञानत्वाजाड्यकण्ठोक्तानुगुणभवद्न् मुख्यतामालीव ३५२
श्री वैकुण्ठमुपेत्य नित्यमजड तस्मिन् परब्रह्मण।
सायुज्य समवाप्य नन्दति समतेनैव धन्य. पुमान (वरदगुरुरचना)
"कथन एतज्जड वदन्ति, कोयेदजडवदन्ति" (तत्वत्रय पृ० ३५)।
विशेष के लिए देखिए श्रीनिवासाचारी रचित दि फिलासफी आफ विशिष्टाद्वैत (अडयार मद्रास)।

नित्यविभूति का भोग्यत्व– नित्यविभूति में ईश्वर, नित्य जीव तथा मुक्ति जीवो का निवास हैं यह नित्य विभूति परमात्मा के संकल्प से उक्त तीनों भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थान होती है। नित्यमुक्त जीवों के लिए श्रीभगवान् के श्रीविग्रह का दर्शन ही अत्यन्त भोग है। श्रीभगवान् का भी शेषादि नित्यमुक्त जीवों का शरीर भोग्य है। ईश्वर तथा मुक्तजीवों के शरीर तो भगवान् की इच्छा से ही तत् तत् प्रकार के हैं। छान्दोग्योपनिषद् में बताया गया है कि मुक्तजीव आविर्भूत गुणाष्टक होते हैं। अतएवं वे अपने संकल्प मात्र से ही समकाल में अनेक शरीरो को धारण कर लेते हैं तथा वे अपने अतीतकालिक पितृगणों को देखना चाहते हैं तो वे भी अपना शरीर धारण कर उपस्थित हो जाते हैं। भगवान् के व्यूह, विभव तथा अर्चावतार के जो शरीर होते हैं, वे भी दिव्य होते हैं।[1]

अर्चावतारों की प्रतिष्ठा के पश्चात् प्रसादोन्मुख भगवान् के सत्य संकल्प से अप्राकृत शरीर आविर्भूत हो जाता है। यहां पर यह शंका नहीं करनी चाहिए कि प्राकृत वस्तुओ का दिव्य वस्तुओं से सम्बन्ध कैसे सम्भव है? जिस प्रकार श्रीराम, श्रीकृष्ण इत्यादि के शरीर दिव्य थे उसी प्रकार अर्चावतारों के भी शरीर दिव्य हो जाते हैं। इस प्रमाण के अनुसार उपर्युक्त शंका का समाधान हो जाता है।

नित्याविभूति की दिव्यता– मुक्तजीव भगवान् की प्रसन्नता के लिए शरीरों को धारण करते हैं। ईश्वर के शरीर के षाड्गुण्य का प्रकाशन शुद्ध सत्व करता है, अतएव नित्य विभूति को षाड्गुण्य भी कहा जाता है। शाश्वतिक, दोषरहित एवम् सीमातीत औज्ज्वल्य, सौंदर्य, सौगन्ध, सौकुमार्य, लावण्य, यौवन, मार्दव तथा आर्जव आदि श्रीभगवान् के विग्रह के दिव्यगुण हैं।[2]

---

1. सा विभूतिरीश्वरस्य नित्याना मुक्ताना चेश्वरसङ्कल्पाद् भोग्यभोगोपकरणस्थानरूपा च भवति। भोग्यानीश्वरशरीरादीनि। भोगोपकरणानि चन्दनकुसुमवस्त्रभूषणायुधादीनि भोगस्थानानि तु गोपुरप्राकारमण्डपविमानोद्यानपद्मिन्यादीनि। तत्रेश्वरस्य नित्यमुक्तानां च, शरीराणि च भगवन्नित्येच्छासिद्धानि। मुक्ताना शरीराणि तेषां पित्रादि सृष्टिर्युगपदनेकशरीरपरिग्रह इत्यादीनि भगवत्संकल्पादेव भवन्ति। भगवतो व्यूह विभवार्चावतार शरीराण्यप्राकृतानि। यतीन्द्रमतदीपिका, पृष्ठ–१०६
2. नित्यनिरवद्यनिरतिशयौज्ज्वल्यसौन्दर्यसौगन्ध्यसौकुमार्यलावण्ययौवनमार्दवार्जवादयोदिव्यमगलविग्रहगुणाः। यतीन्द्रमतदीपिका पृ० १०८.

भगवान् का मंगल विग्रह सर्वदा उज्ज्वल रहता है। भगवान् के दिव्य मंगल विग्रह के औज्जवल्य का वर्णन करते हुए श्रीयामुनाचार्य कहते हैं कि भगवान् का दिव्यमंगलविग्रह चमकते हुए किरीट, बाजूबन्द, हार, कंठा, कोस्तुभमणि, करधनी, नूपुरादि आभूषण तथा चक्र, शंख, कृपाण, गदा, धनुष आदि आयुधों तथा तुलसी एवं वनमाला आदि से देदीप्यमान है।[1]

नित्यविभूति का स्वरूप– यहां पर ईश्वर के नित्यविभूतिका स्वरूप बताया जा रहा है जो निम्न हैं।

१. त्रिगुण द्रव्य के अतिरिक्त जो सत्वगुण पदार्थ हो वह नित्यविभूति है।

२. नित्यविभूति सत्व, रजतम की प्रकृति से भिन्न तथा सत्वगुण वाला है।

३. शुद्ध सत्व वाला तथा स्वयं प्रकाश्य हो। तमोगुण रहित होना चाहिए।

४. काल, जीव, ईश्वर, धर्म भूत ज्ञान और अद्रव्य सेविलक्षण जो पदार्थ हो वे नित्यविभूति को बताते हैं।

५. चेतन और धर्मभूतज्ञान से व्यतिरिक्त जो स्वयंप्रकाश्य हो।

यदि निःशेष अवद्यिा निवृत्ति देशत्व ही माना जाये तो उस देश में विद्यमान नित्यसूरिविग्रह आदि को लेकर अतिव्याप्ति दोष होगा क्योंकि वे विग्रह इत्यादि निःशेषविद्या निवृत्ति देश नहीं है किन्तु उसे देश में रहते हैं। जो नित्यविभूति के अन्तर्गत है।

अचित् द्रव्य तीन प्रकार का होता है। शुद्धसत्व[2], मिश्र सत्व एवं सत्व शून्य। शुद्ध सत्व एक अप्राकृतिक द्रव्य है जिससे आध्यात्मिक या ईश्वरीय लोकों एवं विग्रहों का निर्माण होता है। मुक्त आत्मा का देह या शरीर शुद्ध सत्व से निर्मित होता है। इसी

---

1. स्फुरत्किरीटाङ् गदाहारकण्ठिका मणीन्द्रकाञ्चीगुणनूपुरादिभि.।
   रथाङ् गशङ्खासिगदाधनुवरैर्लसत्तुलस्या वनमालयोज्ज्वलम्।। स्तोत्ररत्न, श्लोक संख्या – ३६.
2. भारतीय दर्शन – डा० नन्द किशोर देवराज।

प्रकार ईश्वर का परम्धाम और उसका शरीर भी शुद्ध सत्व से निर्मित होता है। शुद्ध सत्व, उत्पत्ति विकार, ह्रास या विकास से परे होता है। मिश्र सत्व मूला प्रकृति को कहते है यह जगत का उपादान कारण है। ब्रह्माण्ड का निर्माण इसी से होता है मिश्र सत्व को माया या अविद्या भी कहते हैं। उससे उत्पन्न सृष्टि परम विचित्र एवं अविस्मरणीय है। इसलिए उसे माया कहते है। मिश्र सत्व ज्ञान का विरोधी है इसी लिए उसे अविद्या कहते है।[1]

"निःशेषान्वद्यानिवृत्तिदेशविजातीयान्यत्व" ऐसा लक्षण करने पर भी आत्माश्रय दोष होता है क्योंकि नित्यविभूति तत्व के भिन्न जाति से नित्य विभूतित्व का समावेश हो जाने से आत्माश्रय दोष होगा। अतः यहां पर लक्षण में नित्यविभूति का समावेश नहीं किया जाता। तात्पर्य यह है कि त्रिगुण द्रव्य काल जीव, ईश्वर एवं अद्रव्य से विलक्षण जो पदार्थ है वह ही नित्यविभूति हैं।

जहां पर अविद्यादि कर्मनष्ट हो जाते हैं वह प्रदेश निःशेषाविद्यानिवृत्ति देश माना जाता है प्रकृव्यादि प्रदेश उससे विजातीय हैं सम्पूर्ण नित्यविभूति इन विजातीयों से भिन्न है। नित्यविभूति के अन्य प्रदेश या भाग सम्पूर्ण अविद्या निवृति देश का सजातीय है। सम्पूर्ण अविद्या निवृत्ति देश शुद्ध सत्व गुण का है उसी प्रकार सम्पूर्ण नित्यविभूति शुद्ध सत्व गुणवाली हैं।[2]

नित्यविभूति के प्रमाण– नित्यविभूति के विषय में प्रमाण ये है कि **"आदित्यवर्णतमसःपरस्तात्"**– आदित्य के समान वर्ण युक्त दिव्य मंगल विग्रह से सम्पन्न भगवान का प्रतिपादन करता हैं। इससे शुद्ध सत्वमय नित्यविभूति में अन्तर्गत भगवत्विग्रह सिद्ध होता है। **"तेहनाकम्"** 'नाक' शब्द से नित्यविभूति का प्रतिपादन है। **"क्षयन्तस्य रजसः पराके"** इससे दिव्य मंगल विग्रह विशिष्ट भगवान का प्रकृति के ऊपर विद्यमान नित्यविभूतित्य सिद्ध होता हैं। **"तदक्षरेपरमेव्योमन"** वह परमात्मा अर्थात्

---

1. ज्ञानविरोधत्वादविद्या। तत्वत्रय, पृ० ७६.
2. न्याय सिद्धाञ्जन का पृ० ४७५.

अविनाशी परमाकाश में विराजमान हैं। यहां परमाकाश ही नित्यविभूति ही है। **"सहस्रस्थूणेविमितेदृढेउग्रे"** इसमें नित्यविभूति के अन्तर्गत मण्डपविशेष का वर्णन है। अतः नित्यविभूति लक्षण सम्पन्न सिद्ध है। **"तद्विष्णोः परमं पदं सदापश्यन्ति सूरयः"** यह वचन भी नित्यविभूति में प्रमाण है। किंच पद शब्द **"पद्यतेगम्यत [illegible]"** इस व्युत्पत्ति के अनुसार गन्तव्य स्थान विशेष का वाचक होता है **"किंच सद[illegible] सूरयः"** में सूरिगण दृष्टा है और परमपद दृश्य है, इनमें भेद होना न्यायतः सिद्ध है। इससे सिद्ध होता है कि द्रष्टा नित्यसूरि और मुक्तों का परिशुद्ध आत्मस्वरूप यहां के परमपद शब्द से बोध्य नहीं है।

जिस प्रकार पूर्व मीमांसा में **"यदग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यामापौर्णमास्यां चाच्युतो भवति"** इस वाक्य में प्रतिपाद्यमान अग्नि देवता अष्टाकपाल संस्कृत पुरोडाश द्रव्य और याग में पौर्णमासी अमावस्या का काल सम्बन्ध और याग इत्यादि अर्थ प्रमाणान्तर से. विदित न होने के कारण यह माना जाता है कि यह वचन अग्नि देवता के सम्बन्ध में अष्ठाकपाल से संस्कृत पुरोडाश द्रव्य के सम्बन्ध से अमावस्या पौर्णमासी के काल सम्बन्ध से विशिष्टयाग का विधान करता है। इसी प्रकार प्रकृति में भी **"सदा पश्यन्ति"** यह वचन सदा देखनें वाले अनेक सूरियें से विशिष्ट स्थान विशेष का विधान करता है यह स्थान विशेष मोक्ष धर्म में **"एतेवै निरयास्तातस्थानस्यपरमात्मनः"** इत्यादि के द्वारा विस्तार से वर्णित है।

संसार से छूटने वाला साधक मस्तक (कपाल) का भेद न करके ऊपर जाता है। ब्रह्माण्ड का भेदन करता है अक्षर तत्व का भेदन करता है तम् अर्थात् प्रकृति का भेदन करता है इस प्रकार इन तत्व का भेदन कर ऊपर जाता हुआ मुक्त पुरुष अन्त में श्रीभगवान् धाम में चला जाता है। इससे सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् का धाम प्रकृति के ऊपर है।

नित्यविभूति की अनन्तताः-- यह नित्यविभूति ही अनन्त और अपरिचिछन्न है क्योंकि कि नित्यविभूति का ऊपरी परिच्छेद नहीं होता। यह नित्यविभूति नीचे के प्रदेश

को लेकर परिचिछन्न है क्योंकि नीचे आने पर नित्यविभूति प्रकृति से परिच्छिन्न रहती है नित्यविभूति को अनन्त एवं प्रकृति से परे कहा गया है। नित्यविभूति में आनन्त्य एवं प्रकृतेः परत्व का समन्वय करने के लिए यह मानना चाहिए कि नित्यविभूति नीचे प्रकृति से परिच्छिन्न है ऊपर अपरीच्छिन्न। यद्यपि प्रकृति एवं नित्यविभूति दोनों इस प्रकार अनन्त है कि प्रकृति नीचे अपरिच्छिन्न तथा नित्यविभूति ऊपर अपरिच्छिन्न है। शास्त्रों में प्रकृति को न्यून (छोटी) तथा नित्यविभूति को अधिक अर्थात् बड़ी कहा गया है। आदित्य के ऊपर जो आकाश देश है वह अनन्त है भूमण्डल के ऊपर जो आकाश देश है वह उससे भी अधिक अनन्त है। पाताल के ऊपर जो आकाश देश है वह उससे अनन्ततम् है। **"पादोऽस्यविश्वाभूतानित्रिपादस्यामृतंदिवि"**[1] इस पुरुष सूक्त से यह सिद्ध होता है कि प्रकृतिमण्डल में विद्यमान सभी बद्धजीव इस पुरुष के एक पाद हैं द्युलोक के अपाकृत स्थान में इस पुरुष का अमृत तीन पाद विद्यमान है वे तीनपाद ही तीन प्रकार के जीवात्मा का वर्ग है। उनमें **तत्वभिमानी नित्यसूरि** और **मुक्तगण** इस प्रकार के तीन वर्ग है। इस प्रकार यह प्रकृति मण्डलवर्ती बद्ध जीव और नित्यविभूति में विद्यमान जीवों में तारतम्य को बतलाती है, प्रकृति और नित्यविभूति में विद्यमान तारतम्य को नहीं बतलाती तथापि एक पाद जीवों का आधार प्रकृति मण्डल और त्रिपाद जीवों के आधार नित्यविभूति में भी तारतम्य होता है। **बुद्धयर्थपादवत्**[2] से प्रमाणित होता है कि इसका अर्थ है **"पादोस्यविश्वाभूतानि"** से जो पादादि रूप परिमांण कहा गया है वह बुद्धयर्थ है अर्थात् उपासना इत्यादि बुद्धि के लिये वैसा कहा गया है जिस प्रकार "वाक्पादः" प्राणपादः इत्यादि वागादिपाद का निर्देश उपासना के लिये होता है।

नित्यविभूति का स्वयंप्रकाशत्व– यह नित्यविभूति स्वयं प्रकाशन में वाली हैं क्योंकि नित्य विभूति शास्त्रों में ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप कहीं गयी है। स्वयं प्रकाशने वाला पदार्थ ही ज्ञान कहा जाता है तथा अनुकूल ज्ञान ही आनन्द कहलाता है। नित्यविभूति में आनन्दमय लोक और आनन्दात्मक भोग हैं। उनदोनों के लिए अर्थात्

---

1. पादोऽस्य भूतानित्रिपादस्यामृतं दिवि।
   एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। ऋग्वेद पुरुषसूक्त।
2. ब्रह्मसूत्र शंड्कार भाषय।

लक्ष्मी और नारायण के लिए परमाकाश नित्यविभूति निर्द्वन्द्व उत्तम सुख स्वरूप है। ज्ञान और शक्ति इत्यादि ६ गुणों का प्रसार ही श्री भगवान की नित्य स्वेच्छा से देशरूपता को प्राप्त हुआ है। इन वचनो से नित्यविभूति आनन्द स्वरूप सिद्ध होता है। अनुकूल ज्ञान ही आनन्द है अतः ज्ञानरूव सिद्ध होता है, स्वयं प्रकाश वाला पदार्थ ही ज्ञान होता है। अतः ज्ञानरूप सिद्ध होती है, स्वयं प्रकाशों वाला पदार्थ ही ज्ञान होता है। अतः स्वयं प्रकाश वाली सिद्धि होती है। प्रति वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री भगवान् का विग्रह ज्ञानद्रव्य है श्री भगवान् का विग्रह जो द्रव्य है, नित्यविभूति भी वही द्रव्य है। इसमें फलित होता है कि सम्पूर्ण नित्यविभूति का ज्ञानात्मकत्व ही उचित है। ज्ञानात्मकत्व और स्वयंप्रकाशत्व एक ही पदार्थ हैं। नित्यविभूति स्वयं प्रकाश्य होने से ज्ञान होने पर भी स्वयं विषयों का ग्रहण न करें, अतएव निर्विषय होकर रहे, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं। जिस प्रकार धर्मभूतज्ञान स्वयं प्रकाश होने पर भी कर्त्ता नहीं माना जाता, क्योंकि कि वह ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्न का आधार नहीं है उसी प्रकार नित्यविभूति ज्ञानहोने पर भी कर्त्ता नही है क्योंकि वह ज्ञान इच्छा और प्रयत्न का आधार नहीं है। आत्मा ही ज्ञान इच्छा और प्रयत्न का आधार होने से कर्त्ता है।

नित्यविभूति भी दूसरों के लिए ईश्वर नित्यसूरि और मुक्तों के लिए भासने के कारण पराक् पदार्थ मानी जाती है। नित्यविभूति भी बृद्धावस्था में जीवों के लिए नहीं भासता है। जिस प्रकार धर्म भूतज्ञान सुषुप्तिकाल में स्वयं भासने पर भी जागने पर ज्ञानान्तर का विषय बनकर भासता है उसी प्रकार यह नित्यविभूति भी बद्ध जीवों के लिए स्वयं न भासने पर उनके धर्मभूत ज्ञान विषय बनकर भासती है। भले ही नित्यविभूति ईश्वरादि के धर्मभूत ज्ञानका विषय है, तथापि उस धर्मभूत ज्ञान की अपेक्षा न रखकर उसी प्रकार स्वयं प्रकाशित होती है जिस प्रकार आत्मा धर्मभूत ज्ञानका विषय होने पर भी धर्मभूतज्ञान की अपेक्षा न रखकर स्वयं प्रकाशता है।[1] नित्यविभूति भी ईश्वरदि के धर्मभूत ज्ञान का विषय होने पर भी उसकी अपेक्षा न रखकर स्वयं उसके लिए प्रकाशती रहता है। इस प्रकार नित्यविभूति का स्वयंप्रकाशत्व सिद्ध है। नित्यविभूति को स्वयंप्रकाश एवं

---

1. न्याय सिद्धाञ्जन का पृ० ४८०.

ज्ञान इत्यादि जो कहा गया है उसका भाव यह है कि नित्यविभूति अत्यन्त दीप्ति युक्त है तथा ज्ञान पर आवरण डालने वाली नहीं हैं जिससे वह स्वयं प्रकाश एवं ज्ञान कहीं गई है।

नित्यविभूति में गन्ध रूप रस स्पर्श और शब्द इत्यादि विषय अत्यन्त अनुकूल होकर रहते है वहां कोई भी विषय प्रतिकूल नहीं रहता अतः उसे आनन्द और सुख स्वरूप कहा गया है।[1]

नित्यविभूति की विविधरूपताः– नित्यविभूति पञ्चोपनिषन्मन्त्रों से प्रतिपाद्य पृथिव्यादि पञ्चभूत और एकाशद इन्द्रियों के रूप में रहती है, इस सोलह तत्वों से यह परिपूर्ण है। नित्यविभूति, नित्यसृरि युक्त और ईश्वर को उनकी इच्छा के अनुसार शरीर इन्द्रिय और प्राण और भोग्यविषय बनकर आनन्द देती है। कुछ आचार्यो का मत है कि जिस प्रकार प्रकृति चौबीस तत्वों के रूप में रहती है उसी प्रकार नित्यविभूति भी चौबीस तत्वात्मिका है परन्तु उन तत्वों में प्रकृति विकृति भाव अर्थात् कार्य कारण भाव नहीं होता है, सभी तत्व नित्यसिद्ध है क्योंकि श्री भगवान् के दिव्य मंगल विग्रह इत्यादि शास्त्रों में नित्य कहे गये हैं, वे सभी पञ्चभूतात्मक है इससे वहां के पञ्चभूत इत्यादि तत्वों में नित्यतासिद्ध होती है। शरीरादि की अवयव रचना इत्यादि उसी प्रकार की होती है जिस प्रकार शरीर इत्यादि में अवयव रचना होती है। वहां विराजमान् श्री भगवान् का शुभाश्रय अर्थात् विग्रह इत्यादि शरीरों में प्रणि और पाद इत्यादि रहते हैं। यह अर्थ शास्त्रों में वर्णित है। शास्त्रों में **"इन्द्रियच्छिद्रविधुरा द्योतमानाश्च सर्वशः"**[2] इत्यादि वचनों से यह कहा जाता है कि नित्यविभूति में विद्यमान जीव इन्द्रियच्छिद्रों से रहित हैं, तथा चारों ओर सब तरह से प्रकाशते हैं। यहां यह प्रतीत होता है कि नित्यविभूति जीवों में इन्द्रिय नहीं है परन्तु भाव यह है कि नित्यविभूतिस्थ जीवों को कर्मकृत इन्द्रियों नहीं होती। जिस प्रकार शरीर रहित होकर रहने वाले मुक्त जीव को प्रिय एवं अप्रिय स्पर्श नहीं करते हैं। इस अर्थ को बतलाने वाले **"अशरीरव वसन्तंनाप्रियाप्रिये स्पृशतः"** इत्यादि वचनों का

---

1. न्याय सिद्धाञ्जन का पृ० ४८१.
2. न्याय सिद्धाञ्जन का पृ० ४८३.

उत्सर्गपवादन्याय के अनुसार कर्मकृत शरीर आदि के निषेध मे ही तात्पर्य माना जाता है क्योंकि युक्त जीव को अप्राकृत एवं अकर्मजन्य देहेन्द्रियादि होते हैं। उसी प्रकार नित्यविभूतिस्थ जीवों का अप्राकृत इन्द्रियादि सद्भाव विशेषवचनसिद्ध होने से उत्सर्गापवादन्याय के अनुसार **"इन्द्रियच्छिद्रविधुराः"** इत्यादि वचनों का भी कर्मकृत इन्द्रियो के निषेध में ही तात्पर्य मानना चाहिए। श्री भाष्यकार के अनुसार पञ्चमहाभूत और एकादश इन्द्रिय इन षोडस पदार्थो को मुक्त अपना लेते हैं तथा उनका फल भी उन्हे प्राप्त होता है। देववचन इस अर्थ में प्रमाण है कि **"मनशेतान पश्यन् रमते"** अर्थात् मुक्तपुरुष मन से इन अप्राकृत भोग्य पदार्थों को देखता हुआ आनन्द लेता है। **"मनोऽस्य दिव्यं चक्षु"** इसका मन दिव्य चक्षु है। **"सोऽन्यं कामं मनसा ध्यायीत"**। यह परमात्मा मन से अन्य कामना विषय वस्तुओं पर ध्यान करवा था।

"एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वोन्द्रियाणि च"– प्राण, मन, सभी इन्द्रियां इस परमात्मा से उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार परमात्मा और जीवात्मा के प्रकरणों में उनके मन को सिद्ध करने वाले बहुत से वचन हैं। बुद्धि और मन एक ही पदार्थ है, क्योंकि बुद्धिमान पुरुष मनस्वी अर्थात् मन वाले कहलाते है। बुद्धि के स्वयंप्रकाश्य होने से उसकी अवस्था में प्रत्यक्ष हो सकती है। इससे मन और बुद्धि में अभेद सिद्ध है। नित्यविभूति में भूषण आयुध, आसन, परिवार निवास स्थान उद्यान, वापी, क्रीडा पर्वत इत्यादि अनेक भोग्य विषय है जो अत्यन्त विचित्र एवं नित्य है। उनमें कई उत्पन्न एवं अनित्य होते है क्योंकि वहां भी वृक्षों में पल्लव पुष्प और फल इत्यादि परिणाम होते रहते है। नदियों में फेन तरङ्ग और बुद्बुद् इत्यादि परिणाम होते हैं। दिव्य मंगल विग्रह में व्यूह और विभव इत्यादि परिणाम होते हैं।

ईश्वर और नित्यसूरियों के जो शरीर है वे नित्येच्छा से परिग्रहीत होने के कारण नित्य है। ये शरीरनित्य बने रहें ऐसी ही उनकी इच्छा है, अतएव वे नित्य हैं। मुक्तों के सभी शरीर उत्पन्न ही होते है तथा अनित्य होते हैं क्योंकि भाष्यादि ग्रन्थों में यह स्पष्ट बताया गया है कि मुक्त पुरुष बिना शरीर के रहते हैं तथा कभी शरीर भी

धारण करके रहते हैं। कई इन्द्रियां नित्यसूरि और ईश्वर से नित्य परिगृहीत रहती है। तथा कई इन्द्रियां उनसे कदाचित् परिगृहीत होती है। जिस प्रकार मुक्तों द्वारा शरीर का परिग्रह काल विशेष में ही किया जाता है उसी प्रकार उनके द्वारा इन्द्रियो का परिग्रह भी काल विशेष मे ही किया जाता है।

मुक्त और नित्यसूरियों का शरीर परिग्रह कभी केवल श्री भगवान् के संकल्प से और कभी भगवत्संकल्प का अनुसरण करने वाले, अपने संकल्प से ही होता हैं यह अर्थ **'तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः'**[1] 'भावे जागद्वतं'[2] इन दोनो ब्रह्मसूत्रों में स्पष्ट कर दिया गया है।

ईश्वर एवं नित्यविभूति का सम्बन्ध— नित्यविभूति और ईश्वर के बीच क्या सम्बनध है इस प्रश्न के बारे में पंचरात्र और अहिर्बुध्न्य संहिता का यह मत है कि प्रलय में जीव, विष्णु में अव्यक्त रूप से रहते हैं और नव सर्जन के समय उसमें से पृथक हो जाते है। मुक्त होने के बाद वे विष्णु से अभिन्न हो जाते है उस समय आवागमन नहीं होता। मुक्त होने पर वे ईश्वर में प्रवेश तो करते हैं किन्तु उनमें एक नहीं होते, वे विष्णु से अपना भिन्न अस्तित्व रखते हैं या विष्णुधाम में वास करते हैं। अहिर्बुन्यसंहिता के १४वें अध्याय में मुक्ति को ईश्वरत्व की प्राप्ति कहा हैं।[3] निस्वार्थता से पुण्यकर्म करना मुक्ति पाने का उत्तम् साधन माना जाता है।[4]

ईश्वर शरीर में सूक्ष्म व्यूह और विभव इत्यादि भेद होते हैं।[5] भाव यह है कि ज्ञान, शक्ति, बल ऐश्वर्य, वीर्य और तेज इन छः गुणों से परिपूर्ण विग्रह वाले वासुदेव नामक परब्रह्म ही सूक्ष्म स्वरूप है, यही वासुदेवख्य सूक्ष्म परब्रह्म **"सहसस्थूणेविमितेद्रढ़उग्रे यत्र देवानामविआस्ते"** इस वाक्य से प्रतिपाद्य है। इस स्वरूप

---

1. ब्रह्मसूत्र साङ्कारभाष्य – (वेदानत दर्शन) ४/४/१३- ३१७
2. ब्रह्मसूख शंकार भाष्य – ४/४/१४ – ३६७.
3. भगवत्कायथी मुक्तिया वैष्णवं तद् विशेष पदम्। – **अहि० सं० १४/३/४/१४.**
4. साधनं तस्य च प्रोक्तो धर्मेनिरभिसंधिकः – **अहि सां १४/४.**
5. मम प्रकाराः पञ्चेति प्राहुर्वेदान्तपारगाः।
   परो व्यूहश्च विभवो नियन्ता सर्वदेहिनाम्।।
   अर्चावताराश्च तथा.......................। इत्यादि
   पञ्चरात्र की विष्वक्सेन संहिता से उद्धृत।

में शान्तोहित और नित्योदित दो रुप है। मुक्तों के अनुभाव्य वासुदेव[1] नित्योदित कहलाते है। इनसें उत्पन्न हैं शान्तोदितवासुदेव जो तीन व्यूहों के कारण है। व्यूह, वासुदेव संकर्षण पद्युम्न और अनिरूद्ध रूप से चार प्रकार का है। इनमें उत्तरोत्तर पूर्व–पूर्व से उत्पन्न होते हैं। वासुदेव में ज्ञानादि ६ गुण हैं। संकर्षण– इत्यादि तीनों में सभी गुण परिपूर्ण होने पर एक–एक में दो–दो गुण अविर्भूत है तथा चार गुण तिरोहित है। संकर्षण मे ज्ञान और बल। वे ज्ञान से शास्त्र का प्रवर्तन तथा बल से जगत का संहार। प्रद्युम्न से ऐश्वर्य और वीर्य– जिसमें ऐश्वर्य से जगत की सृष्टि तथा वीर्य से धर्म का प्रवर्तन करते हैं। अनिरुद्ध में शक्ति और तेज अविर्भूत हैं। वे शक्ति से जगत का पालन और तेज से तत्वज्ञापन करते हैं। पद्यमनाभ इत्यादि तथा मत्स्य इत्यादि इसके विभव भेद[2] अर्थात् अवतार विशेष है। अर्चावतार अर्थात् मन्दिरादि मे पूज्य श्री भगवान् में स्वयं व्यक्त, दैव आर्ष इत्यादि भेद होते है। स्वयं प्रकट हुये भगवान् स्वयं व्यक्त कहलाते हैं तथा देवताओं से प्रतिष्ठापित भगवान् दैव, ॠषियों से प्रतिष्ठापित भगवान आर्ष कहे जाते है। श्री भगवान का विग्रह सर्वव्यापक है, सर्वकारण है, इत्यादि अर्थो को श्री भाष्यकारने भगवद् गीता के एकादश अध्याय की व्याख्या में है कि है अर्जुन इस हमारे एक विग्रह में एक देश में विद्यमान सम्पूर्ण चराचर जगत को देखों और भी जो कुछ देखना चाहते हो उसे भी इस एकदेह के उपदेश में ही देखों"। विष्णुपुराण के अस्त्रभूषण अध्याय में[3] श्री भगवान का विग्रह किस प्रकार सबका आश्रय होता है" कहा गया है। श्री भाष्य में यह कहा गया है कि साधक विभव का अर्चना करके व्यूह हो प्राप्त करता है और व्यूहों का अर्चन करके परस्वरूप को प्राप्त करता है।[4] जो नित्यविभूति ज्ञान स्वरूप है वह निर्दोष है। रज् और तम से अस्पृष्ट सत्वगुण वाली है तथा लक्ष्मी के पति श्रीमन्नारायण भगवान के भोग के लिए उनकी इच्छा के अनुसार बैकुण्ठ लोक इत्यादि बन जाती है, वह अचिन्त्य हैं, अनादि सिद्ध अज्ञान के सम्पूर्ण नष्ट होने का यह स्थान है।

---

1. यहां पर "**नित्योदितात् सम्बभूव तथा शान्तोदितोहरिः**" – भाव यह है कि मुत्तानुभाष्य नित्योदित संज्ञक परवासुदेव से शान्तोदित संज्ञक वासुदेव भगवान् उत्पन्न हुआ जो तीन व्यूहों के कारण हैं। – पाञ्चरात्र वचन – न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ४८६.
2. पद्यमंनाभो धुवोऽनन्तः शक्त्यात्मा मधुसूदनः।
   विद्याधिदेवः कपिलो विश्वरूपो विहंगमः।
   अन्त में – रामो रामश्च रामश्च कृष्ण. कल्कीति तेदश।।
   (वैखानस और अहिर्बुध्न्यि संहिता से उद्धृत नयाय सि० का पृ० ४६०.)
3. "क्षराक्षरमयो विष्णुर्बिभर्त्याखिलमीश्वरः"।
   पुरुषव्याकृतमयं भूषणास्त्रस्वरूपवत्।। – विष्णुपुराण के अस्त्रभूषण अध्याय से।
4. अर्चोपासनया क्षीणे कल्मषेऽधिकृतो भवते। विभवोपासने पश्चात् व्यूहोपास्ती ततः परम्।।
   सूक्ष्मे तदनु शक्तः स्यादन्तर्यामिणमीक्षितुम।। इत्यादि। – श्रीभाष्य से उद्धृत।

उपनिषद् में जिसे परमेश्वर कहा है वही वासुदेव है जिनसे संकर्षण की उत्पत्ति हुई हो सब जीवों के अधिपति है, उनसे प्रद्युम्न हुए जो मनस् है प्रद्युम्न से अनिरुद्ध जो अहंकार है। अनिरुद्ध से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई जिनसे यह सारी सृष्टि प्रकट हुई। प्रलय के बाद वासुदेव से कर्मपूर्वक संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध पैदा होते है। ये वासुदेव ही पंचरात्र के रचयिता है। यामुन ने अपने आगम प्रामाण्य और काश्मीरागम् प्रामाण्य में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि पंचरात्र भी वेद की तरह प्रमाण है क्यों कि उनका मूल उद्गम् स्थान एक ही दैवी पुरुष नारायण है।[1] यद्यपि श्री वैष्णव को वेद जितना ही प्रामाणिक मानते थे[2] पंचरात्रियों के अनुकूल पड़ने वाले पुराण हैं विशणु, नारदीय, भागवत्, गरूड़ पद्म और वराह जो सात्विक पुराण कहलाते है।[3] सात्वत् संहिता में ऐसा मिलता है कि श्री भगवान ने ऋषियो के लिए संकर्षण से प्रार्थना किये जाने पर पचरात्र शास्त्र का प्रवर्तन किया।[4] इस ग्रन्थ के २४ अध्याय है जो नारायण से उत्पनन ४ विभव देवताओं की पूजायविधि परिधान और आभूषण तथा मूर्ति स्थापना इत्यादि विषयों पर प्रकाश डालते हैं।

ईश्वर आनन्द मय एवं चैतन्य है वह सबसे परम और अन्तिम सत्ता है वह स्वयभूं है और सबका आधार है वह अनादि और अनन्त है जिसे सत् या असत् नही कहा जा सकता। ईश्वर अपने में से त्रिविध शक्ति के रूप से प्रकट होता है जो मनुष्यों में सूक्ष्म शरीर के रूप में स्थित है इस शक्ति की वजह से शुद्ध चैतन्य, मूल प्रवृतियों और अर्न्तजगत के सम्पर्क में आता है जिससे अन्त करण के व्यापार जड़ और अचेतन होते हुए भी चेतन रूप से व्यवहार करने लगते हैं। जिसके द्वारा योगी को अन्तिम सत्य की प्राप्ति होती है, योगी अन्त में ब्रह्मरध के द्वार से निकल जाता है और अपनी देह छोड़ देता है और मूल सत्यरूप वासुदेव से समरस हो जाता है।[5]

---

1. आगम प्रामाण्य में पृ०८५ पर काश्मीरागम् का उल्लेख है--इस ग्रन्थ की हस्तलिपि प्रति भी अभी अप्राप्त है।
2. इद महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्।
   साख्य योग कृतान्तेन पचरात्रानुशब्दितम्।। सेश्वर मीमांसा पृ० १६ वैंकटनाथ ने व्यास का उद्धरण देते हुए यह कहते हैं।
3. प्रमाणसंग्रहकामत–वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवत् शुभं।
   गारुड तथा पाद्मं वाराहं शुभ दर्शनें।।
   सात्विकानिपुराणानि विज्ञयानि च षट पृथक। तत्वकैस्तुभ पाण्डुलिपि पृ० १३.
4. सात्वत संहिता – कांजीवरम् से प्रकाशित १९०२.
5. जयाख्य संहिता, अध्याय ३३.

ब्रह्म की शक्ति उसे कहा गया, जिससे उसने समस्त विश्व को उत्पन्न किया है।[1] व्यूह तीन भिन्न प्रकार के कार्य करते हैं १. उत्पत्ति स्थिति और लय २. सांसारिक वस्तुओं का पोषण ३. मुमुक्ष भक्तों की सहायता। सकर्षण जीवों के अधिकष्ठाता है और वे उन्हें प्रकृति से अलग करते हैं।[2] अनिरुद्ध रूप से जगत की रक्षा करते हैं। यह अच्छे बुरे मिश्र वर्ण की सृष्टि भी करता हैं।[3] ये रूप वासुदेव से अभिन्न और विष्णु के शुद्ध या पूर्ण अवतार हैं।

पुनः प्रत्येक व्यूह से तीन उपव्यूह प्रकट होते हैं। वासुदेव से केशव नारायण, और माधव, संकर्षण से गोविन्द विष्णु और मधुसूदन प्रद्युम्न से लिविक्रम वामन और श्रीधर और अनिरूद्ध से हृषीकेश, पद्मयनाम और दामोदर प्रकट होते हैं। ये सब देवता प्रत्येक मास के अध्यक्ष है। जो बारह राशियों के सूर्यो के प्रतिनिधि हैं। ये देवता मात्र ध्यान करने के हेतु से ही उत्पन्न किए गये। इनके अतिरिक्त अहिर्बुध्न्य संहिता में ३६ विभव अवतारों का भी उल्लेख हैं।[4] व्यूह और विभव से अशुद्ध (शुद्धैतर) सृष्टि उत्पन्न होती है। अशुद्ध सृष्टि पुरुष गुण और काल रुप से तीन प्रकार की है। अनिरूद्ध ने क्रम से सत्त्व, रजस और तमस रुप मौलिक शक्ति को भी उत्पन्न किया। इसीलिए इसी सिद्धान्त को परिमित अर्थ में ही सत्कार्यवाद कहा जा सकता है क्योंकि अनिरूद्ध के उत्साह से संसिक्त हुए बिना प्रकृति तीनों गुणों को उत्पन्न नहीं कर सकती।[5]

---

1. "जगत् प्रकृति भावों य सा शक्ति परिकीर्तिता"। **अहि० सं० ३/२/५७**
2. सोऽयं समस्त जीवानाम् अधिष्ठातृतया स्थितः
   संकर्षणस्तु देवेशो जगत् सृष्टिमनांस्तत.
   जीव तत्वम् अधिष्ठय प्रकृतेस्तु विविच्य तत्।। – **तत्वमय टीका पृ० १२५.**
3. तत्वमय पृ० १२८.
4. दीपात् दीता इवोत्पन्ना जगतो रक्षणाय ते
   आर्या एवं हि सेनेश संसृत्युत्तरणाय ते
   मुख्या उपास्याः तैनेश नर्च्यानितरान्विदुः।। – तत्वमय पृ० १३१ – अहि० सं० पृ० ४६.
5. अंतरस्थ पुरुषां शक्ति तामादाय स्वमूर्तिगाम्।
   संक्षोभयति योगेन हयनिरुद्धः स्वतेजसा।। – अहिर्बुध्न्य स० ६/१४.

व्यूहों के वर्णन मे ऐसा कहा गया है कि रांकर्षण अपने सारे जगत को, कपाल में तिलक की तरह धारण करते हैं। (तलकालक) सकर्षण द्वारा धारण किया हुआ जगत अभी अव्यक्त रूप में ही है। वह अशेष भुवनाधार है।[1] मनु, काल और प्रकृति प्रद्युम्न से प्रकट होते हैं।[2] प्रद्युम्न के प्रभाव से ही मनुष्य शास्त्र विधि से कार्य करने को प्रेरित होते है।[3] अविरूद्ध जिसे महाविष्णु भी कहते है, बल और शक्ति का देवता है इसी की शक्ति से जगत की रचना और पालन होता है तथा जगत की बुद्धि। शंकराचार्य के कथनानुसार संकर्षण जीव है, प्रद्युम्न मनस् है और अनिरुद्ध अहंकार हैं।[4]

ईश्वर भक्ति की प्रेरणा करता है ईश्वर की दृष्टि रो आत्मा सम्पर्क परोक्षधर्म है तथा जिस मार्ग से योगी भगवान का साक्षात्कार करता है वह साक्षात धर्म है जो पांचरात्र ग्रन्थो में उपदिष्ट है ओर शात्वत शासन कहलाता है। मोक्ष धर्म अर्थ और काम की तरह साध्व है यद्यपि ये तीनों आपस में एक दूसरे के सहायक भी है।[5]

ईश्वर मुक्त एवं नित्य का सम्बन्ध– जीवात्मा का धर्म भूतज्ञान राक है और नित्य है। जीव और ईश्वर दोनों ही आत्मा हैं हां जीवात्मा और ईश्वर में यह अन्तर अवश्य है कि जीवात्मा के ज्ञानादिगुणअनित्य होते हैं, जबकि ईश्वर के गुण नित्य है।[6] अतएव ईश्वर को नित्य और मुक्त भी कहा जाता है।[7] उद्योतकर ईश्वर के ज्ञान आदि गुण को नित्य मानते है। इस नित्यता को उन्होंने अतिशय कहा है।[8] इन्होंने ईश्वर की नित्यवृद्धि को ही क्रिया शक्ति इच्छा और प्रयत्न का प्रतिनिधि मानते है।[9] इसीलिए ईश्वर में एक मात्र ज्ञान ही विशेष गुण है।[10] ईश्वर का उक्त ज्ञान नित्य[11] एक तथा अपरोक्षात्मक है।[12] इसीलिए ईश्वर इस जगत का निमित्त कारण, जीवात्माओं के अद्वष्टो का उद्‌वोधन करने वाला ज्ञान, इच्छा प्रयत्न आदि गुणों से सम्पन्न नित्यमुक्त सर्वशक्ति सम्पन्न आत्मा है।

---

1. आहिबुर्ध्न्य संहिता ५५, १६.
2. अहि० सं० ६/६/१२.
3 अहि० स० ५५, १८ प्रद्युम्न को बीर भी कहा है।
4. लक्ष्मीतत्र – ४, ११–२० एव विष्वक्सेन संहिता भी तत्प्रमग मे उद्धृत
5. अहिर्बुध्यसहिता – १३
6. तात्पर्य टीका ४/१/२१ पृ० ५६५
7. न्याय कन्दली पृ० १४२.
8. न्याय वार्तिक, ४/१/२१ पृ० ४६४
9. न्याय क० पृ० १४२ ('अन्ये तु' प्रतीक के अन्तर्गत)
10. न्याय व्यार्तिक ४/१/२१ पृ० ४६४.
11. न्याय वा० ४/१/२१ पृ० ४६४ न्याय म० भाग १ पृ० १८४.
12. न्याय वा० ४/२/२१ पृ० ४६५ न्याय म० भाग १ पृ० १८४.

जो मुक्त नित्यसूरि और ईश्वर ऐसे है, जिनमें कर्म और काल इत्यादि उपाधियों का सम्बनध सर्वधा नहीं है, तथा जिनका धर्मभूत ज्ञान, संकोच विकास शून्य है एवं सभी वस्तुओं को ग्रहण करता है इस प्रकार के नित्यमुक्त और ईश्वर में अप्राकृत विचित्र देह परिणाम होने के लिए जो इच्छा और संकल्प इत्यादि होते है ये सब ज्ञानावस्था विशेष हैं। सर्वज्ञ ईश्वर का नित्य एक ज्ञान है ईश्वर के ज्ञान में अनेक प्रकार के उल्लेख न मानकर केवल एक प्रकार का उल्लेख मान जाय तो ईश्वर के कार्यो में भूतत्व भविष्यत्व वर्तमानत्व जो ज्ञान होता है वह कैसे उत्पन्न होगा। अतः यह मानना पड़ता है कि कार्य की भूतस्व दशा में ईश्वर उस कार्य को भूत समझता है तथा उसी कार्य को भविष्यत् दशा में भविष्य एवं वर्तमान दशा में ईश्वर उस कार्य को वर्तमान समझता है। अतः ईश्वर के ज्ञान नाना प्रकार के हैं।

चक्र के समान इच्छा संकल्प और सृष्टि इस प्रकार होते हैं कि ईश्वर समान रूप से इच्छा करता है अनन्तर संकल्प करता है बाद में सृष्टि करता है सृष्टि के उत्तर क्षण में अर्थान्तर के विषय में उसकी सामान्य रूप से इच्छा होती है तदन्तर संकल्प उसके बाद सृष्टि होती है। इस प्रकार ईश्वर की इच्छा, संकल्प और सृष्टि चक्र लगातार चलते रहते है। इस प्रकार ईश्वर के धर्मभूत ज्ञान में अनेक प्रवाह रूपी अवस्थाएं बीजांकुरन्याय से उत्पन्न होती रहती है। प्रथमपक्ष में पूर्व इच्छा से उत्तर उत्तर इच्छा की उत्पत्ति बताई गई है। अतः वह प्रवाहानादित्व पक्ष कहलाता है। इस प्रकार नित्य एवं अनित्य इच्छाओं के अनुसार ईश्वर आदि को नित्य एवं अनित्य शरीर होते हैं।

मुक्ति का अर्थ आत्मा से परमात्मा से मिलकर एकाकार में जाना नहीं है। मुक्त आत्मा शुद्ध निर्मल ज्ञान से युक्त तथा दोषों से रहित हो ब्रह्म के सदृश हो जाता है।[1] समस्त प्रकार के अज्ञान और बंधनों से मुक्त जाने पर मुक्तात्मा पूर्ण ज्ञान और भक्ति के साथ ब्रह्म चिन्तन के अशीम आनन्द का अनुभव करता है यही मुक्ति है।[2]

---

1. "ज्ञानैकाकारतयाब्रह्मप्रकारता उच्यते" श्री भाष्य पृ० ७१.
2. श्री भाष्य, चतुर्थ अध्याय का चतुर्थ पाद।

अन्य वैष्णव मतो में नित्य विभूति

रामानुज के अनुसार नित्यविभूति— ज्ञान शून्य और विकारास्पद द्रव्य को अचित् कहते है। यह तीन प्रकार का होता है। मिश्रसत्व या प्रकृति, शुद्धसत्व या नित्यविभूति और सत्वशून्य का काल मिश्रसत्व को लीलाविभूति भी कहते हैं। रामानुज में प्रकृति नित्यविभूति से सीमित है। यह ईश्वर पर आश्रित है तथा उनका शरीर ईश्वर से अपृथक है। शुद्धसत्व या नित्यविभूति रजस्तम शून्य होने से अप्राकृत और दिव्य है। यह धर्मभूत ज्ञान के समान अजड़ है किन्तु ज्ञान शून्य है। ईश्वर का विग्रह नित्य तथा मुक्त पुरुषों के शरीर तथा वैकुण्ठ लोक इसी शुद्ध सत्व निर्मित है। भगवान के व्यूह विभव आदि रूप भी इसी से निर्मित है। मोक्षदशा में कर्मजन्य प्राकृत देहपात के बाद मुक्तपुरुष के भगवत्संकल्प से निर्मित अप्राकृत शुद्ध सत्व शरीर प्राप्त होता है नित्यविभूति अचित् के अन्तर्गत है। मुक्तात्मा का देह या शरीर शुद्ध सत्व से निर्मित होता है। मिश्रसतमूला प्रकृति को कहते है। यह जगत का उपादान कारण है। मिश्र सत्व ज्ञान का विरोधी है। इसीलिए इसे अविद्या कहते है।[1] जगत् की सत्ता पारमार्थिक है क्योंकि कि यह अनुग्रह करने की विभूति है।[2]

भगवान् से भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने तथा जगत की रक्षा करने के पवित्र उद्देश्य से ईश्वर पांच प्रकार के (पर, व्यूह, विभव, अर्न्तयामी तथा आर्चावतार) रूपों को धारण करता हैं ईश्वर के इस पञ्चविध रूप की कल्पना रामानुज ने प्राचीन भागवत सम्प्रदाय से ग्रहण की थी।

माध्वदर्शन में नित्यविभूति— प्रकृति साक्षात् या परमात्मा विश्व का उपादान कारण है। द्वैतवादी माध्वों के मत में इस जगत के जन्मादि व्यापार में परमात्मा केवल निमित्त कारण है। अन्यवैष्णव मतों के अनुरूप माध्वमत भी शुद्ध सत्व की सत्ता स्वीकार करता है जिससे मुक्त जीवों के लीलामय विग्रह निर्मित होते है। मध्व का भेद पर इतना दुर्निवार आग्रह है कि उन्होंने मुक्त जीवों में भी ज्ञान और आनन्द के तारतम्य रूपी भेद

---

1. ज्ञान विरोधत्वादविद्या। तत्वत्रय पृ० ७६.
2. परं ब्रह्म सविशेषं तद् विभूतिभूतं जगदपिपारमार्थिकमेवेति ज्ञायते। श्री भाष्य – १/१/१.

को स्वीकार किया। माध्व का वस्तुवादी द्वैतवाद ईश्वर जीवो और जगत की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार करता है। पर ब्रह्म ईश्वर स्वतंत्र तत्व है जब कि प्रकृति और जीव परतंत्र तत्व है। इस प्रकार स्वतंत्र एवं परतंत्र रूप से तीनों तत्वो का दो वर्ग है।[1] ये तीनों सत् हैं क्यों कि इनकी सर्वकदा प्रतीति होती है।[2] कुछ भी हो माध्वमत सामान्य अर्थ मे न तो द्वैतवाद है और न अद्वैतवाद। वह एकेश्वरवाद अवश्य है।[3] सभी विषय ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है।[4] किन्तु इन विषयों का अस्तित्व है जो ईश्वर की इच्छा से भिन्न भी है।

निम्बार्क मत में नित्यविभूति– निम्बार्क के मत मं चित् उचित् और ईश्वर तीन पदार्थ माने जाते हैं। चित् जीवात्मा है यह ज्ञानस्वरूप और ज्ञानाश्रय है जैसे सूर्य प्रकाश स्वरूप तथा प्रकाश का आश्रय है। वह अणुपरिणाम है। प्रत्येक देह में वह भिन्न है। वह देह से संयुक्त तथा वियुक्त हो जाता है वह ईश्वर के अधीन है।[5] जीव ईश्वर का अंश है। अंश ईश्वर की शक्ति के रूप में है।[6] अचित् या अचेतन ३ प्रकार का है। १. अप्राकृत, जिससे दिव्य लोक और दिव्य शरीर निर्मित होते हैं। यह शुद्ध सत्व नित्यविभूति के समान है। ईश्वर परब्रह्म और सगुण है। वे स्वभाव से ही समस्त दोषों अविद्या अस्मिता आदि से रहित है और ज्ञान आनन्द बल आदि समस्त कल्याण गुणों के निधान है। वे चर्तुव्यूहों में तथा अवतारों में अभिव्यक्त होने वाले अङ्गी है। वे परम् बरेण्य नारायण हरिर्या कृष्ण है जिनके अनुग्रह से जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान होता हे।[7] इस समस्त चित्चिद्रूव विश्व के भीतर और बाहर व्याप्त होकर भगवान नारायण स्थित है।[8] निम्बार्क चिद्चिद को ईश्वर का शरीर न मानकर उन्हें ईश्वर के शक्ति रूप

---

1 स्वतात्रमस्वतंन्त्र च द्विविधं तत्वमिष्यते । तत्वसंख्यान।
2. सदिति प्रतीयमानत्वात् अतः सर्वदा प्रत्यक्षेण प्रतीयमान वस्तु सदित्यवे प्रतीयते। **तत्त्वोद्योत पृ० १६** **प्रथम** न्यायामृत पृ० ६५–६७.
3. History of Philosophy, Esternand Estern – Radha Krishan Part Page 1/336.
4. द्रव्य कर्म कालश्च स्वभावों जीव एवं च।
   यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया।। **विष्णु तत्वनिर्णय।**
5. ज्ञानस्वरूप न हरेरधीनं शरीरसंयोग नियोग योग्यम्।
   अणुहि जीव प्रतिदेहभिनं ज्ञातृत्वन्तं मदनन्तमाहुः।।
6. अशों हि शक्तिरूपों ग्राह्याः **कौस्तुभ २/३/४२.**
7. स्वभवतोऽपास्तसमस्तदोषमशेण कल्याणगुणैक राशिम्।
   व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्य ध्यायेम कृष्ण कमलेक्षण हरिम्।। दशश्लोकी ४
8. अन्तवर्हिश्च तत् सर्व व्याप्य नारायणः स्थिति। **'दशश्लोकी'**

अंश मानते है। ईश्वर सर्वशक्तिमान अंशी है और चिद्‌चिद् उसके शक्ति रूप अंश है। अंशपद यहां अंग का वाचक न होकर शक्ति के वाचक है।

बल्लभ मत में नित्यविभूति– बल्लभ वेदान्त में ब्रह्म ही एक मात्र सत् है। वह एक ओर अद्वितीय है। वह भगवान्, ईश्वर, पुरुषोत्तम कृष्ण आदि नामों से वाच्य है। वह अनेक रूप होकर भी एक रूप रहता है। परम भक्ति के फलस्वरूप यह साकार रूप में ही प्रकट होता है। स्वरूप ब्रह्म पर ब्रह्म है, उसकी सारी लीलाएं अलौकिक है। उसका लोक चिदानन्दमय और नित्य है। यह सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत या पुष्टिमार्ग कहलाता है। काधिरय के अनुसार शुद्धाद्वैत का अर्थ है। शुद्धं चतत् अद्वैतम् अर्थात् शुद्ध ब्रह्म ही अद्वैत तत्व है।[1] शुद्ध का अर्थ है माया सम्बन्ध रहित।[2] और अद्वैत का अर्थ है सजातीय विजातीय, स्वगत् द्वैत वर्जित।[3] बल्लभ मत में आविर्भाव का अर्थ अनुभव योग्य होना और तिरोभाव का अर्थ अनुभव योग्य न होना है।[4] ब्रह्म अपने विजातीय जड़जगत् सजातीय जीव और स्वगत अर्न्तयामी इन तीनों रूपों में अनुस्यूत है अतः वह इन तीनों का अर्न्तयामी हैं।[5] और वह अपने परात् पर रूप में पुरूषोतम् भगवान श्री कृष्ण है। अक्षर ब्रह्म उसी का आध्यात्मिक रूप है जो ज्ञानियों का आराध्यदेव है। जिससे जीवात्माएं अग्नि से चिनगारी के समान प्रकट होती है या निकलती है।[6] भाष्यकार बल्लभ के अनुसार अपने माहत्म्य को प्रकट करने के लिए ब्रह्म अपने से सृष्टि करता है।[7]

खण्डन– हम देख चुके है कि प्रकृति तीन गुणों से युक्त है। यदि इनमें से हम रजस और तमस को छोड़ दे और प्रकृति को केवल सत्व से युक्त मानें तो हमें

---

1. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, २७.
2. माया सम्बन्ध रहित शुद्धमित्युच्यते बुधैः – **शुद्धमार्तण्ड** – २८.
3. सजातीय–विजातीय–स्वगत् द्वैतवर्जितम् – **तत्वार्थ दीप १६६.**
4. अनुभवविषयत्वयोग्यता आविर्भावः। तद्‌विषयत्वयोग्यता तिरोभावः। **विद्वन्मंडन पृ० ८५, ८६.**
5. सजातीयाजीवा विजातीया जड़ा स्वगता अन्तर्यामिनः। त्रिष्वपि भगवान् अनुस्यूत–**तत्वार्थदीप प्रकाश** १/६६
6. विस्फुलिंगा इवाग्नेहि जड़जीवा विनिर्गताः।
   सर्व पाणिपादान्तात्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखात्।। **बल्लभ का दर्शन, ३१**
7. सापेक्षमपि कुर्वन्तीश्वर इति माहात्म्यम्। – अणुभाष्य – २।१/३४.

नित्यविभूति का कुछ आभास हो जाता है। हम समझ जाते है कि इसे ही शुद्ध सत्व कहा गया है। इस असाधारण स्वरूप के कारण यह जड़ नहीं रहती बल्कि पहले बताये हुये अर्थ में अजड़ हो जाती है। यह उदात्ती भूत प्रकृति एक प्रकार से अधि–प्रकृति हो जाती है। फिर भी चूंकि यहां तीन गुणों को प्रकृति के स्थाई विशेषण के रूप में माना गया है, नकि सांख्य की तरह उसके घटक। इसीलिए यह कल्पना करना कठिन हो जाता है कि जब शेष दो गुणों का वैषम्य नहीं रह जायेगा तब केवल एक गुण उसमें कैसे बना रहेगा।

इसके अलावा प्रकृति और नित्यविभूति में सत्व सामान माना गया है। और यहां तक तो प्रकृति को अजड़ होना चाहिए। इन असंगति का कारण शायद यह है कि विशिष्टाद्वैत ने विस्तार की बाते अलग–अलग दर्शनों से ग्रहण की हैं इसीलिए वाद के विशिष्टाद्वैतियों ने नित्यविभूति के सत्व का प्रकृति के सत्व से भेद किया है। दोनों को विल्कुल विलक्षण माना है। इस महत्वपूर्ण बात को छोड़कर अन्यबातों में नित्यविभूति प्रकृति के समान है। संक्षेप में वह उत्पाद्य है जिसमें आदर्श जगत की वस्तुएं और ईश्वर तथा मुक्त जीवों के शरीर बनते हैं। नित्यविभूति का क्षेत्र अधोदिशा में प्रकृति के द्वारा सीमित है पर उर्ध्व दिशा में वह अनन्त है ईश्वर के लोक वैकुण्ठ इसके एक भाग में है यद्यपि प्रकृति और नित्यविभूति को एक सीमा के द्वारा विभक्त किया गया है। तथापि नित्यविभूति का प्रकृति के क्षेत्र के अन्दर भी अस्तित्व माना गया है जैसे श्री रङ्गम इत्यादि तीर्थों में पूजी जाने वाली देवमूतियां यह समझ जाता है कि प्रकृति नित्यविभूति के क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करती।

अष्टम् – अध्याय
बुद्धि परिच्छे॰

(१) **बुद्धि का लक्षण एवं स्वरूप–** कार्य को लेकर होने वाला जो प्रकाश है वह बुद्धि है कर्तृकारक हो लेकर होने वाला जो प्रकाश है वह बुद्धि है। घट को मैं जानता हूँ इत्यादि रूप से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रकाश रूप है। उसमें अहमर्थकर्ता है। तथा घट विषयक कर्म कारक है। ज्ञान का यह प्रकाश कर्ता और कर्म को लेकर हुआ है। न्याय तत्व ग्रन्थ में बहुत से इतर लक्षणों का खण्डन करके उपसंहार ग्रन्थ के कर्त्ता ने किया है।[1] भाव यह है कि यह बुद्धि अत्यन्त बेगवाली है अत्यन्त बेगवान होना ही बुद्धि का लक्षण है। बेगवान होने के कारण ही वह बुद्धि मुक्त प्रुरुष की बुद्धि उभयविभूतिस्थ सब पदार्थो से संयुक्त हो जाती है। अत्यन्त सूक्ष्मता बुद्धि का दूसरा लक्षण है। इसके कारण ही वह बुद्धि जो सबको व्याप्त करने की क्षमता रखती है संसार दशा में मशक इत्यादि क्षुद्र जन्तुओं के शरीर में अनुप्रविष्ठ होकर रहती है। यह अत्यन्त सूक्ष्मता का ही प्रभाव है। अत्यन्त लाघव अर्थात् निर्भरता बुद्धि का तीसरा लक्षण है। अत्यन्त हल्का होने के कारण ही बुद्धि उस प्रकार के बेग से सम्पन्न रहती है। प्रकाशमान होकर रहना बुद्धि का चतुर्थ लक्षण है यही स्वयं प्रकाशत्व कहलाता है। यह लक्षण आत्मा में अतिव्याप्त है।

(क) **बुद्धि का स्वयं प्रकाशत्व–** बुद्धि विषय प्रकाशन के समय अपने आश्रम आत्मा के लिए स्वयं प्रकाशती है। जो ज्ञान कालान्तर में हुए हो तथा जो ज्ञान इतर पुरुष में हो रहें हैं वे सभी ज्ञान स्मृति और अनुमान आदि के द्वारा मनुष्य के द्वारा जाने जाते है। अद्वैतियों द्वारा जो ज्ञान का स्वयं प्रकाशत्व कहा गया है वह ज्ञान विषयों को प्रकाशित करते समय ज्ञाता आत्मा के प्रति स्वयं प्रकाशता है। प्रत्येक मनुष्य किसी पदार्थ को जानते समय यह समझता है कि मैं इसे जानता हूँ इस अनुभव से ज्ञान का स्वयं प्रकाश वस्तु होना सिद्ध है।[2]

---

1. अत्यन्त बोगिताऽत्यन्तसौक्ष्म्य निर्भरता तथा।
   स्वरात्ताकाल माव्याप्तिज्ञाने लक्ष्मचतुण्टयम् न्यायतत्व।।
2. "यत्वनुभूतेः स्वयंप्रकाशत्वमुक्तम् तद्विषयप्रकाशन वेलायां ज्ञातुरात्मनस्तथैव, न तु सर्वेषां सर्वदा तथैवेति नियमोऽस्ति" ।। श्री भाष्य।

मैं इसे जानता हूँ इस अनुभव के आधार पर ज्ञान का स्वयं प्रकाश होना सिद्ध होता है यह अनुभव ही स्वयंप्रकाशत्व में प्रमाण है।[1]

ईश्वर के बारे में सभी यह मानते है कि ईश्वर सर्वज्ञ है। ईश्वर में एक नित्य ज्ञान है उससे वह सबको प्रत्यक्ष रूप में सदा मराझता है। ज्ञान ईश्वर के प्रति अपने को स्वयं प्रकाशित करता रहता है। यदि ईश्वर अपने ज्ञान को न समझता हो तो असर्वज्ञ हो जायेगा।[2]

क्योंकि ज्ञान को स्वयं प्रकाश मानने पर ईश्वर के सर्वज्ञताकी उत्पत्ति लग जाती है अतः ज्ञान को स्वयंप्रकाशत्व मानना ही उचित है। किञ्च स्वपरनिर्वाह न्याय से भी ज्ञान का स्वयं प्रकशत्व सिद्ध होता है। दूसरो को प्रकाशित करने वाला दीप स्वयं प्रकाशता है। अपने सम्बन्धों से दूसरे पदार्थों को सत् बनाने वाली सत्ता स्वयं सत् बन जाती है। अतः ज्ञान का स्वयं प्रकाशत्व सिद्ध है। यदि ईश्वर अपने ज्ञान को छोड़कर और सबको समझते हैं तो मानना पड़ेगा कि अनेक अर्थों को ईश्वर नहीं जानते है। उस ज्ञान को लेकर में जितने पदार्थ बनते हैं उन सबको ईश्वर नहीं समझ सकेगें। जिस प्रकार अनन्त अतः ईश्वर में पदार्थ विषयकज्ञान सिद्ध होते है। उसी प्रकार अनेक पदार्थ विषयक अज्ञान भी सिद्ध होगें। ईश्वर के ज्ञान को स्वयं प्रकाश मानकर ईश्वर की सर्वज्ञता का उपपादन करना ही उचित हैं इस प्रकार ज्ञान की स्वयं प्रकाशता सिद्ध है।

(ख) अनुमेयवाद का खण्डन– ज्ञान के विषय में प्रकाश नामक धर्म उत्पन्न होता है। उस कार्य को देखकर कारण ज्ञान का अनुमान होता है। **"यह है"**, " यह एक" ऐसी बुद्धि अपेक्षा बुद्धि कहलाती है। विषय प्रकाश का उत्पादक कारण जिस पुरुष में रहता है, उस पुरुष के प्रति ही विषय प्रकाशता है। यह कारण ज्ञान ही है। इस प्रकार ज्ञान का अनुमान होता है। जिस प्रकार किसी पुरुष में विद्यमान अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होने के कारण अद्वित्वादि सांख्या का प्रकाश उसी पुरुष के प्रति होता है उसी प्रकार किसी पुरुष में विद्यमान कारण द्वारा उत्पन्न होने के कारण ही विषय प्रकाश उसी पुरुष के प्रति हुआ करता है। वह कारण ज्ञान है।

---

1. धियः स्वयंप्रकाशत्वे वेद्मीत्याद्युपलम्भनम्।।
   मानसाध्यक्षभङ्दिरपि मानमितीष्यताम्।। – श्रीभाष्य।
2. ज्ञानमस्तीति विज्ञानं स्वात्मानं साधयेत्र या।
   पूर्णय स्वप्रकाशत्वं सर्वासिद्धिरतोऽन्यथा ।। श्री भाष्य ।

प्राकट्यानुमेयवाद में ज्ञान की सिद्धि हीन हो सकेगी। जो वादी ज्ञान को प्रत्यक्ष मानता है, उसके मत में प्रकाश से सामग्री का अनुमान मानकर ज्ञान का अपलाप नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थ का लाधव युक्ति से अपलाप नहीं करना चाहिए वैसा करने पर शून्यवाद होगा।

ज्ञान कर्त्ता में विद्यमान क्रिया के रूप में "देवदन्त घट को जानता है" ऐसा कर्तरि प्रयोग में प्रतीत है इसके अनुसार जो घट ज्ञान का कर्मकारक है उस घट में विद्यमान क्रिया के रूप में घट प्रकाशता है। अतः ज्ञान और प्रकाश में भेद प्रतीत होता है। ज्ञान और पदार्थ एक पदार्थ होने पर भी व्यापारतावच्छेदक सम्बन्ध भिनन होने के कारण ही देवदत्त घट को जानता हैं घट प्रकाशता है, देवदन्त से घट जाना जाता है और देवदत्त से घट प्रकाशित होता है। है, इत्यादि रूप से कर्तरि प्रत्यय और कर्मणि प्रत्यय को लेकर कर्त्तारि एवं कर्मणि प्रयोग हुआ करते हैं। भाव यह है कि अपृथक सिद्धि सम्बन्ध से ज्ञाता में विद्यमान 'ज्ञान' ज्ञा धातु का अर्थ है इससे कर्तारि प्रयोग होता है।

ज्ञान और प्रकाश एक ही पदार्थ है। धातु के भिन्न–२ होने से ही उस धातुस्वभाव के अनुसार कर्मरि तथा कर्यवि प्रत्यय को लेकर विभिन्न प्रयोग होतें है। अतः ज्ञान और प्रकाश को भिन्न मानना उचित नहीं। घट प्रकाशता है, घट जाना जाता है, इस प्रकार विभिनन रीति से जो प्रयोग होते है। उराका कारण धातुभेद है। अर्थभेद नहीं। उदाहरण जैसे– काटने की क्रिया में परशुकरण कारक होता है। गिराने की क्रिया में परशु कर्म कारक होता है। इसका कारण धातुओं में भेद ही है, वाच्यार्य भेद नहीं। इसी प्रकार प्रकृत में भी जानता है प्रकाशता है, ऐसे विभिन्न व्यवहार धातु भेद के कारण सम्पनन होतें है। दोनों धातु से एक ही व्यापार कहा जाता है, उसमें सम्बन्ध भेद होने से उभयविधि व्यवहार होता हैं।[1]

---

1. न्याय सिद्धाञ्जन का पृष्ठ – ५००.

बुद्धि से ही अर्थविशेष में व्यवहार और विषय नियम तथा अर्थ विशेष का प्रकाश्यत्व ये तीनों सिद्ध हो जायेगें, क्योंकि बुद्धि का यह स्वभाव है कि वह अर्थविशेष को ही प्रकाशित कर सकती है, अर्थ विशेष को विषय बना सकती है। अतः ये तीनों अर्थ बुद्धि स्वभाव से उत्पन्न हो जाते हैं। तदर्थ प्राकट्य को मानने की आवश्यकता नहीं। किञ्च भूत भविष्यत् पदार्थ अभाव और ज्ञातता अर्थात् प्राकट्य ये सब भी ज्ञान के विषय होते हैं अतः ज्ञान से प्राकट्य कैसे उत्पन्न होता है क्योंकि भूत और भविष्यत पदार्थ ज्ञानकाल में नहीं हैं उनमें ज्ञान प्राकट्य के कैसे उत्पन्न कर सकता है। वैसे अभाव भावधर्म का आश्रय नहीं होता। अतः अभाव में प्राकट्य रूप भाव धर्म ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है? यहां यह सिद्ध होता है कि प्राकट्य अप्रामाणिक है उसमें ज्ञान का अनुमान नहीं हो सकता। ज्ञान स्वयं प्रकाश पदार्थ है। न्यायतत्व में यह कहा गया है कि पदार्थ का अनुभव से दूर न होना, किन्तु अनुभव से ऐसा सन्निहित होना जिससे उत्तर काल में उस पदार्थ का स्मरण हो सके। यही पदार्थ का प्रकाश है।[1] **"संविद दूरत्वं प्रकाशः"** अतः अनुभव से दूर न होना प्रकाश है। श्री भाष्य में यह कहा गया है कि चेतन और अचेतन सभी पदार्थ ज्ञान से प्रकाशित होते हैं।[2] इन सब पदार्थों में विद्यमान प्रकाश क्या पदार्थ है। ज्ञान होने पर पदार्थ व्यवहार के अनुगुण अर्थात् योग्य बनते हैं पदार्थों में विद्यमान व्यवहारानुगुण्य ही प्रकाश है। ज्ञान् इच्छा और प्रयत्न तीनों के सम्पन्न होने पर पदार्थ व्यवहार का विषय बन जाता है उन तीनों में ज्ञान मात्र ही तो पदार्थ व्यवहार का अनुगुण या योग्य बन जाता है। यदि तीनों ही न होतो पदार्थ व्यवहार का अयोग्य रहता है। पदार्थ में विद्यमान व्यवहारानुगुणत्व ही पदार्थ का प्रकास है अतः ज्ञान प्रकाश से अनुमेय नहीं है किन्तु एक प्रकाश है।

वैष्णव आचार्य भट्टषराशर के अनुसार बुद्धि का स्वरूप– भट्ट पराशरपाद ने "तत्व रत्नाकर" ग्रन्थ में यह बताया कि ज्ञान प्राकट्य से अनुमेय नहीं हो सकता क्योंकि प्राकट्यानुमेयवाद अनुपपन्न है, ज्ञान प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाला पदार्थ है।[1] ज्ञान स्वं प्रकाशने वाला पदार्थ है। किच ज्ञान के स्वंप्रकाशत्व में यह अनुमान भी प्रमाण है कि ज्ञान स्यं प्रकाश ने वाला पदार्थ है क्योंकि ईश्वर में एक ही ज्ञान है, उससे ही उसका प्रकाश होता है, उसी प्रकार अस्मदादि का ज्ञान भी ज्ञान होने से स्वयं प्रकाश है।

जिस ज्ञान के बीच में कोई दूसरा ज्ञान उत्पन्न नहीं होता वह ज्ञान धारावाहिक ज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान के होने के बाद मनुष्य यह स्मरण करता है कि मैं इतने समय तक इसी स्तम्भ को देखता रहा इस स्मरण से सिद्ध होता है कि धारावाहिक ज्ञान उत्पन्न होते समय निरन्तर आत्मा के लिए प्रकाशता रहा। वह प्रकाश दूसरे ज्ञान के द्वारा हो नहीं सकता क्योंकि दूसरा ज्ञान होने पर धारा टूट जायेगी। अतः ज्ञान स्वयं प्रकाश है। धारावाहिक ज्ञान के विषय में उत्तर काल में होने वाला स्मरण तभी उत्पन्न होगा, जब कि धारावाहिक ज्ञान स्वयं प्रकाशित हो अतः ज्ञान का स्वयं प्रकाशत्व सिद्ध है। भट्ट पराशर पाद ने स्वयं प्रकाशत्व साधक हेतुआ का संग्रह है।[2] भाव यह है कि जिस ज्ञान के विषय में यह संशय है कि वह स्वयं प्रकाश है या नहीं उस ज्ञान को पक्ष बनाकर यह अन्वय व्याप्ति वालाअनुमान कहा जा सकता है, क्योंकि वह व्यवहार का हेतु होते हैं वे अपने द्वारा होने वाले व्यवहार के लिए जो सहायता करते हैं उस सहायता में सजातीय दूसरे किसी की अपेक्षा नहीं रखते उदाहरण जैसे विषय इन्द्रिय और दीप इत्यादि घट ज्ञान को उत्पन्न कराकर घट व्यवहार है के हेतु बनते है। ये विषय इन्द्रिय और दीप आदि में व्यवहार हेतुस्त रूप हेतु है। तथा उपर्युक्त साध्य भी है।

---

1. धिय. प्रत्यक्षभावत्वात् परस्तदसम्भावत्।
   पारिशेष्यात् स्वतो भानं प्रमाणाञ्च ततस्वतः।।
   प्रतीतेर्व्याहरणातः सन्देहपरिवर्जनात्।
   सताया सिद्धत्यकाराद् ज्ञान भातीति भावितम्।।
   परस्यादर्शनाद् व्याप्तादन्वयिव्यतिरेकितः
   अर्थापन्तेश्च युक्तेश्च वचनाच्च स्वादृयगति।। – तत्वरत्नाकर।
2. "व्याप्तादन्वयिव्यतिरेकितः"। – तत्वरत्नाकर।

ज्ञान में हेतु के होने से साध्य भी होना चाहिए, साध्य के होने पर परिणाम यह होगा कि ज्ञान के विषय में होने वाले व्यवहार के लिए ज्ञान के द्वारा जो प्रकाशरूपी सहायता पहुंचायी जाती है उसमे ज्ञानयदि सजातीय है तो यह सिद्ध होगा कि ज्ञान स्वयं को प्रकाशित कर अपने व्यवहार को सम्पन्न करता है अतः ज्ञान स्वयं प्रकाश है। ज्ञान स्वयं प्रकाश होने से स्वानुभव स्वरूप है। अतएवं वह स्वं विषयक के दूसरे अनुभव की अपेक्षा न करके स्वयं ही अपने विषयमें संस्कार को उत्पन्न करता है। इससे यह फलित होता है कि जिस प्रकार ज्ञान विषय को प्रकाशित करते हुए विषय के विषय में संस्कार को उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार ज्ञान रूपी स्वरूप को प्रकाशित करते हुए अपने विषय में ज्ञान संस्कार को भी उत्पनन करते है। अतः ज्ञान स्वयं प्रकाश हैं। ज्ञान से उभय संस्कार अर्थात् विशय संस्कार और ज्ञान संस्कार उत्पन्न होते हैं ज्ञान इन दोनों का उत्पादक है ऐसा मानने में ही लाधव है उभय विषयक ज्ञान से ये दोनों संस्कार उत्पनन होते है। श्री भाष्य में स्वयं प्रकाशत्व के साधन को अनुमान के रूप में माना है।[1]

अजड़त्व एवं ज्ञानत्व इत्यादि हेतुओं से ज्ञान स्वयं प्रकाशत्व को सिद्ध करता है, ज्ञान स्वयं प्रकाश है क्यों कि वह अजड़ है। तथा ज्ञान है। जो पदार्थ स्वयं प्रकाश नहीं है वे अजड़ नहीं है तथा ज्ञान भी नहीं हैं– उदाहरण जैसे घटादि पदार्थ स्वयं प्रकाश नहीं है तथा ने अजड़ एवं ज्ञान भी नहीं है इस प्रकार व्यतिरके व्याप्ति है। ज्ञान अजड़ एवं ज्ञान स्वरूप है अतएव ज्ञान स्वयं प्रकाश है। ज्ञान दूसरे से प्रकाश्य होने वाला नहीं है। यदि वह घटादि की तरह दूसरे सऐ प्रकाश्य होता तो परपकाश्य होने पर ज्ञान भी दूसरों का अप्रकाशक हो जायेगा परन्तु ज्ञान दूसरों का अप्रकाशक नहीं है प्रकाशक है। अतः ज्ञान को परप्रकाश्य न मानकर स्वयं प्रकाश ही मानना चाहिए।[2]

---

1. "पुरस्च" इत्युक्त्वा" सविदनन्याधीनस्वधर्मव्यवहारा" – श्रीभाष्य।
2. "अनुभूतिः स्वजन्यपरगतधर्मात्यन्तसजातीयधर्मभाक्त्वेस्वात्यन्तराजातीयअपेक्षा नियमरहिता विजातीये स्वावश्यंभाविधर्मात्यन्त सजातीय स्वसम्बन्धतुल्यकालधर्म हेतुत्वात्"। – श्रुतप्रकाशिका।

ज्ञान के स्वप्रकाशत्व में ये वचन भी प्रमाण है। १. **"अत्रायंपुरुषाः, स्वयंज्योतिर्भवति", "आत्मैवास्य ज्योतिः" "स्वेन ज्योतिषा आस्ते", आत्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसम्मितम्"**। अपने द्वारा प्रकाशित होने वाला ज्ञान ब्रह्मशब्द बोध्य है, यद्यपि ये प्रमाण शब्द ज्ञान वाच्य जीव को स्वयं प्रकाश सिद्ध करते हैं। तथापि धर्मभूत ज्ञान भी ज्ञान होने से स्वयं प्रकाश्य है। जीवात्मा रत्न, सूर्य और दीप के समान है जीवात्मा की धर्म भूत ज्ञान रत्न इत्यादि की प्रभा के समान है। जिस प्रकार एक सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रभा के द्वारा प्रकाशित करता है उसी प्रकार हे भारत! जीवात्मा सम्पूर्ण शरीर को ज्ञान प्रभा के द्वारा प्रकाशित करता है।[1]

जिस प्रकार सूर्य और उसकी प्रभा स्वयं प्रकाशने वाला पदार्थ है उसी प्रकार आत्मा और धर्मभूत ज्ञान स्वयं प्रकाशय हैं। विषय प्रकाशन के समय ज्ञान ज्ञानान्तर की अपेक्षा न रखकर प्रकाशता है। स्वयं ही प्रकाशत क्रिया कर्ता एवं कर्म होती है ऐसी बात नहीं। इस प्रकार ज्ञान के विषय न बनने पर भी ज्ञान की सिद्धि होती है।

वरदविष्णु मिश्र के अनुसार बुद्धि का स्वरूप— इन्होंने सुख और दुःख को ज्ञान का स्वरूप बतलाया है अन्तर मात्र यह है कि इच्छा द्वेष, और प्रयत्न मानस प्रत्यक्ष का ग्राहय है भाव यह है कि ज्ञान से व्यतिरिक्त इच्छा इत्यादि गुण होते है। इनके अनुसार सुख और दुःख के समान इच्छा द्वेष और प्रयत्न भी अवस्थान्तरापन्न ज्ञान ही है। सुख और दुखाभाव पदार्थ हैं— दुःखभाव ही सुख है तथा सुखाभव ही दुःख है। इस प्रकार सुखज्ञान के लिए दुखज्ञान आवश्यक होता है तथा दुःख सुखभावरूप होतो दुख को समझने के लिए सुख को समझना होगा। किंच सुख और दुःख भाव पदार्थ के रूप में प्रतीत होते है। इनका अभाव रूप मानना इस भाव प्रतीति से बाधित है। यदि सुख और दुःख परस्पर के अभाव होते तो मध्यमावस्था न होगी क्योंकि सुख न होने से सुखभाव रूप दुख होना चाहिए तथा दुखभाव रूप सुख। सुख एवं दुख परस्पराभाव रूप नहीं है किन्तु परस्पर विरोधी भाव पदार्थ हैं—

---

1. यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमियं रवि.।
   क्षेत्र क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।। गीता १३/३३.

(क) ज्ञान का संकोच विकास– धर्म भूत ज्ञान अनेक पुरुषों में रहता है तथा प्रति पुरुष भिन्न–भिन्न है, प्रत्येक पुरुष के धर्म भूत ज्ञान का यह स्वभाव है कि वह सभी पदार्थे का ग्रहण करें। इस प्रकार स्वभाव होने पर भी बुद्धि संसारवस्था कर्म से संकुचित हो जाती है। बुद्धि कर्मों के अनुसार रहती है। इस प्रकार विभिन्न पुरुषों में तारतम्य से रहती है तथा इसका विकास इन्द्रियों के अधीन है। इन्द्रियों के अधीन होकर फैलने के कारण ही बुद्धि तत्तत् इन्द्रिय ग्राह्य व्यवस्थित विषयों को ग्रहण करती है। अतः बुद्धि भी भिन्न–२ कहलाती है। प्रसरण उत्पन्न होने पर बुद्धि उत्पन्न कहीं जाती है। तथा नष्ट होने पर तथा संकोच होने पर बुद्धि नष्ट हो गयी ऐसा कहा जाता है। सार यह है कि प्रसरण भेद के कारण ही बुद्धि उत्पन्न, नष्ट तथा भिन्न कहीं जाती है अतएव श्री भाष्य में कहा गया है कि इन्द्रिय द्वारा होने वाले ज्ञान प्रसरण को लेकर ज्ञान में उत्पत्ति एवं विनाश का व्यवहार होता है।[1] धर्मभूत ज्ञान के स्वरूपतः नित्य होने पर भी उसके प्रसरण के लिए इन्द्रिय की अपेक्षा होती है। इससे नित्य धर्मभूतज्ञान इन्द्रियों की अपेक्षा क्यों रखता है इसका भी समाधान हो जाता है।

(ख) धारावाहिक ज्ञान– एक पदार्थ के विषय में धारा रूप से जो ज्ञान होता है वह धारावाहिक ज्ञान कहलाता है। उदाहरण जैसे स्तम्भ के विषय में स्तम्भ स्तम्भ और स्तम्भ इस प्रकार धारा रूप से (लगातार) होने वाला ज्ञान धारावाहिक ज्ञान है। धारावाहिक विज्ञान के विषय में दो पक्ष हो सकतें हैं वरद् नारायन के अनुसार कतिपयवादी यह मानते है कि धारारूप से होने वाले ज्ञानों में प्रथम ज्ञान को छोड़कर आगे होने वाले सभी ज्ञान प्रथम ज्ञान से गृहीत अर्थ का ही ग्राहक होने से स्मरण रूप है किन्तु यह मत समीचीन नहीं है क्यों कि धारावाहिक ज्ञान में प्रत्येक ज्ञान अनुभूति है। प्रभा है, वह स्मरण नहीं है, क्यों कि प्रत्येक ज्ञान यह घट है यह घट है इस प्रकार पदार्थ का ग्रहण करता है। यह शब्द, काल एवं देश में होने वाला होता है। इसमें काल शब्द से वह क्षण बोधित होता है जिसमें ज्ञान उत्पन्न होता है। प्रत्येक धारावाहिक ज्ञान स्वोत्पत्ति क्षण में विद्यमान रूप में अर्थ का ग्रहण करता है।

---

1. "तमिममिन्द्रियद्वारा ज्ञानप्रसरमपेक्ष्योदयास्तमृव्यपदेशः प्रवर्तते" – श्री भाष्य

प्रत्येक ज्ञान का उत्पत्तिक्षण उसी ज्ञान से गृहीत होता है पूर्वज्ञानों से नही। "इस क्षण में घट है" इत्यादि रूप से घटादि अर्थ का ग्राहक होनें से अज्ञातार्थ का ग्राहक होता है अतएव प्रमा है स्मरण नहीं। अतः सिद्ध है कि धारावाहिक ज्ञानों में द्वितीयादि ज्ञान स्मरण नहीं है। परवादीगण एक वस्तु के विषय में धारारूप से निरन्तर होने वाले ज्ञानों के सन्तान को धारावाहिक ज्ञाग कहते हैं परन्तु हमारे अनुसार धारावाहिक ज्ञान एक ज्ञानव्यक्ति है। वह धारा रूप से होने वाले अनेक ज्ञानों का सन्तान नहीं है किन्तु एक ही ज्ञान व्यक्ति उतने समय तक बना रहता है। अतः आत्म का ज्ञान नित्य है। वह कर्म से जब संकुचित होता है तब विषय का ग्रहण नहीं करता। जो ज्ञान विकसित होकर चिरकाल तक विद्यमान रहकर विषयों का ग्रहण करता है वही धारावाहिक ज्ञान कहलाता है। वास्तव में धारारूप से प्रशिक्षण उत्पन्न होने वाले अनेक ज्ञानों का सन्तान वहां नहीं होता। आगम से ईश्वर का ज्ञान नित्य सिद्ध होता है। उसी प्रकार जीव का भी ज्ञान आगमप्राणाण्य से नित्यसिद्ध होता है यह नित्य ज्ञान कर्म द्वारा प्रतिबन्ध होने से विकसित नहीं होता। अतः एक स्थिर ज्ञात ही धारावाहिक ज्ञान हे। दूसरे[1] वादी यह मानते है कि धारावाहिक ज्ञान स्थल में क्षणिक ज्ञानों की परम्परा होती है यही पक्ष समीचीन है क्योंकि, भगवत्स्वरूपविषय में होने वाले ज्ञान की सन्तति ध्यान कहलाती है जो फलान्तर और विषयान्तर से शून्य है श्रीभाष्य[2] ग्रन्थ से भी यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान क्षणिक है तथा स्मरणों का सन्तान ही ध्यान हैं।

(ग) प्रज्ञापरित्राण– प्रज्ञापरित्राण के स्वयंसिद्धि प्रकरण में कुछ विद्वान् सुख और दुख को ज्ञानविशेण मानते हैं जो समीचीन नहीं है क्योंकि ज्ञान आत्मा का धर्म है और सुख दुख शरीर के धर्म हैं। तभी तो हमारे पाद में सुख है, शिर में वेदना है ऐसी प्रतीति होती है यह भी युक्तियुक्त नहीं लगता क्यों कि अलग अणु है वह हृदय में रहता है पाद तथा शिर इत्यादि में वह सन्निहित नहीं हो सकता। क्योंकि धर्मभूत ज्ञान आत्मा का धर्म होने के कारण आत्मा को छोड़कर पादादि अङ्गों में पहुंच नहीं सकता। इस प्रकार कहकर पक्षापरित्राणकार ने बन्ध और मोक्ष में जीव में अणुत्व का उपादान किया है।

---

1. "सङ्कोचेऽपि करण संप्रयोगावधिकस्थैर्याभ्युपगमात्" – भट्टपरासर पाद – प्रज्ञापरित्राण।
2. तद्रूपपत्यये चैका सन्तति श्चान्यनिरस्पृहा. -- विष्णुपुराण

तथा कहा कि जिस ज्ञान के विषय में यह सन्देह है कि ज्ञान अपने आश्रय आत्मा से बाहर जाता है या नहीं यह अनुमान से सिद्ध है कि ज्ञान वहाँ तक नहीं पहुंचता। जिस प्रकार ईश्वर का धर्म बनने वाला वहां नहीं पहुंचता जहां ईश्वर की पहुंच नहीं है। वास्तव में ईश्वर सर्वव्यापक होने से सर्वत्र है तथा उसका ज्ञान भी सर्वत्र है परन्तु जीव अणु है अतएव वह सर्वत्र नहीं है। जिस प्रकार अतीत एवं अनागत पदार्थ ज्ञान के संयोग न होने पर भी ज्ञान केषल से प्रकाशित होते है उस प्रकार वर्तमान घटादि भी ज्ञान के साथ संयोग न होने पर भी ज्ञान से प्रकाशित हो सकते है क्योंकि कि ज्ञान संयोग की अपेक्षा न रखकर ही विषयों को प्रकाशित करता है।

ज्ञान स्वभावतः गुण होने पर भी इतर गुणों से विलक्षण होने के कारण भाष्य में द्रव्य कहा गया है वह द्रव्यत्व औपचारिक है। उसमें गुणत्वाभाव सिद्ध नहीं होगा। बुद्धि इस प्रकार की नहीं है क्योंकि वह स्वाश्रय आत्मा से सम्बन्ध न रखने वाले दूरस्थ पदार्थों में भी प्रकाश इत्यादि अपने कार्य को करती है। भाष्य में बुद्धि को जो द्रव्य कहा गया है उस बुद्धि को गुणविलक्षण कहने में ही तात्पर्य है। प्रकृति काल शुद्धसत्व जीव और ईश्वर इन पांच द्रव्यों में से किसी का भी परिणाम बुद्धि नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में वह द्रव्य नहीं मानी जा सकती किञ्च कुछ लोग द्रव्य की सिद्धता के लिए कहते है कि बुद्धि विषयों से संयुक्त होकर उनको प्रकाशित करती है अतः बुद्धि को द्रव्य मानना चाहिए। क्योंकि द्रव्य ही संयोग वाला होता है। द्रव्य और गुण दोनों से विलक्षण एक भाव पदार्थ है। सुख और दुःख आत्मा का धर्म नहीं है। किन्तु देह का धर्म है क्योंकि देह के प्रदेश विशेषों में वे उत्पन्न होते हैं। अतएव सुख दुख जब होते रहते है तब–२ उनका प्रकाश होता है यदि उनका प्रकाश न हो तो उत्पत्ति व्यर्थ हो जायेगी। जिस सुख दुख हमारे पाद में वेदना है हमारे शिर में सुख है इस अनुभव के अनुसार शरीर के एक देश में उत्पन्न होते है। वैसे ही इच्छा और द्वेष इत्यादि के विषय में भी ऐसा अनुभव नहीं होता कि हमारे पाद में इच्छा है हमारे शिर में द्वेष है। अतः मानना पड़ता है कि इच्छा द्वेष इत्यादि शरीर के धर्म नहीं है। किन्तु आत्मा के धर्म हैं अतएव वे ज्ञान विशेष है। जिस प्रकार अनेक जलाशयों में सूर्य की उपलब्धि होती है। उसी प्रकार

अनेक देहों में आत्मा की उपलब्धि हो सकती है। योगियों की शक्ति वैचित्रय से अथवा ईश्वर के अनुग्रह से बहु देहों में उसी प्रकार प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है जिस प्रकार एक शरीर में प्रवृति होती है।

"यह शरीर मेरा है" इस प्रकार का इच्छा विषयत्व ही परिग्रह है। इस प्रकार मुक्त पुरुष भी स्वेच्छा से अनेक शरीरों का ग्रहण करता है तथा सर्वज्ञ एवं सर्वविध भोग्य पदार्थो का अनुभव लेता हुआ यथेच्छा रूपों का ग्रहण कर लोकों में स्वेच्छा से जहां तहॉ संचार करता है। जो उपनिशद् एवें ब्रह्मसूत्रों में कहा गया है उसका भाव यही है कि ज्ञान के द्वारा सब प्रकाशित होते हैं। श्रुतिप्रमाण से सिद्ध होता है कि परमात्मा स्वरूप से एवं धर्मभूत ज्ञान से सर्वव्यापक है, तथा सर्वान्तर्यामी एवं अनन्त है अतएव परमात्मा सर्वगत माना जाता है। सुसुप्ति में विषयों के प्रति इन्द्रिय व्यापार नहीं होता। सुषुप्ति में ज्ञान के द्वारा विषयों का भान नहीं होता मात्र ज्ञान से केवल ज्ञान और आत्मा स्वयं प्रकाशते रहते हैं। सोकर उठा पुरुष यह परामर्श करता है कि मैं खूब सोया, अतः सिद्ध होता है कि सुसुप्ति में भी आत्मा ज्ञान से प्रकाशता था। सुषुप्ति काल में प्रत्यकत्वादि विशिष्ट रूप से आत्मा के विषय में होने वाला भान धर्मभूत ज्ञान से ही हो सकता है अतः धर्म भूत ज्ञान का नित्यत्व सिद्ध है। इन सबका वर्णन करके प्रज्ञापरित्राणकार ने आत्मा को अहमर्थ सिद्ध किया, ज्ञान के अनुमेयत्व पक्ष का खण्डन किया। सुख–दुख के प्रति उन्होंने स्पष्ट किया कि भोग के लिए ही सुख–दुख की उत्पत्ति है। यदि सुख दुख नाम से हैं तो उनका भोग भी नहीं सकेगा। इच्दा द्वेष और प्रयत्न इत्यादि आत्मा के धर्म है। जो ज्ञानविशेष हैं। सुख–दुख का ज्ञान अनुभव से होता है। प्रज्ञापरित्राण, के पांच अर्थ बताए गये–

१. पाणि और पाद दैहिक होने के कारण–सुख दुख देह के ही धर्म है।

२. देह के एकदेश में अनुभूत न होने से ज्ञान विशेषसिद्ध होता है।

३. ज्ञान वहां पहुंचकर विषय को प्रकाशित नहीं करता जहां पर आत्मा नहीं होती।

४. ज्ञान विषयों के साथ संयोग रखे बिना ही विषय विषयिभाव सम्बन्ध से पदार्थो का प्रकाशक होता है।

५. ज्ञान अद्रव्य है।

ये नियम भाष्य के विरुद्ध हैं– भाष्य के अनुसार सुख–दुख इच्छा द्वेष इत्यादि ज्ञानविकास विशेष है ये आत्मा के धर्म है। ज्ञानविषयों से संयुक्त होकर ही उनका प्रकाशन होता है तथा ज्ञान द्रव्य है। न्याय सुदर्शन में सुख दुख को आत्मा का ही धर्म सिद्ध किया है। आत्मा के विशेषण बनने वाले सुखदुख शरीर के धर्म है– क्योंकि केवल आत्मा ही सुख का आश्रय होता है।

(घ) शास्त्रसंमत रति इत्यादि स्थाई भावों की स्थिति– भरत नाट्य शास्त्र एवं अलकार शास्त्र में रस रूप में परिणत होने वाले जो रति इत्यादि स्थाई भाव वर्णिति है। वे भी बुद्धि के परिणाम विशेष ही हैं। संचारिभावों में निर्वेद इत्यादि भी बुद्धि विशेष ही हैं अपना अवमान समझना निर्वेद है। ग्लानि इत्यादि शरीर के अवस्था विशेष है। स्वप्न शब्द का दो अर्थ है:– १. प्रसिद्ध स्वप्न २. सुषुप्ति। यदि स्वप्न शब्द का प्रसिद्ध स्वप्न दर्शन को अर्थमानकर प्रयोग किया जाय, तो वह स्वप्न दर्शन ज्ञान विशेष रूप होने से स्वप्न शब्द ज्ञान विशेष का वाचक होता है। यदि सुषुप्ति के अभिप्राय से स्वप्न शब्द का प्रयोग हो तो उस शब्द का अर्थ होगा कि मूर्छा में न पड़कर जीवित रहने वाले जीव की जो सम्पूर्ण ज्ञान प्रसारण शून्य अवस्था होती है उस अवस्था का वाचक है स्वप्न शब्द। इसी प्रकार जाड़यादि के स्वरूप को भी मानना चाहिए। बुद्धि को निर्विषय, निराश्रय एवं निःधर्मक सिद्ध करने के लिए परवादियों द्वारा जो अनुमानाभास एवं तर्काभाष प्रस्तुत किए जाते हैं जिस प्रकार अनुभव विरोध दोषों से शून्यवाद का खण्डन किया जाता है उसी प्रकार इस अनुमानाभास और तर्कभासों का भी अनुभव विरोध इत्यादि दोषों से खण्डन होगा।

अन्यवैष्णव आचार्य के मत में बुद्धि का स्वरूप–

रामानुज दर्शन में बुद्धि– ज्ञान, चेतन आत्मा तथा ईश्वर का गुण है इसी लिए ज्ञान एक गुण द्रव्य है। ज्ञान आत्मा पर आश्रित है क्योंकि आत्मा से अलग इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। आत्मा और ज्ञान के बीच उसी प्रकार का सम्बन्ध में जैसा दीपक और उसके प्रकाश के बीच। ज्ञान प्रकाश है आत्मा दीप है। उसी प्रकार आत्मा ज्ञान से भिन्न है परन्तु पृथक नहीं। प्रकाश स्वयं अपने आश्रय रुप दीपक को तथा अन्य पदार्थो को उदभाषित करता है। ज्ञान भी स्वयं को, आत्मा को तथा वस्तुओं को प्रकाशित करता है।[1] आत्मा तथा ईश्वर के गुण के रुप में ज्ञान धर्मभूत ज्ञान कह लाता है।

ज्ञान द्रव्य है इसीलिए इसमें संकोच विकास रूपपरिवर्तन होता है। धर्मभूत ज्ञान का विस्तार और संकोच कर्म के द्वारा संभव है, इसके विपरीत तत्वबोध पर आधारित ईश्वर की आराधना के रूप में सम्पादित कर्म धर्मभूत ज्ञान का विकास करते हैं। ज्ञान का संकोच विकास ही उसका नाश या प्रार्दुभाव हैं। स्वयं प्रकाश, असंकुचित ज्ञान ईश्वर और आत्मा का स्वरूप है श्री भाष्य में इसे सार भूत ज्ञान कहा गया है।[2] सारभूत ज्ञान नित्य एवं अविकारी है संकोच या विकास धर्मभूत ज्ञान में ही होता है सारभूत ज्ञान में नहीं है। ज्ञान स्वरूप आत्मा ऐसा अजड़ अहमर्थ तत्व है जो अपनी सत्ता मात्र से अपने प्रति प्रकाश रूप सिद्ध होता है किन्तु स्वयं उसका प्रकाश अपने लिए नहीं होता बल्कि धर्मभूत ज्ञान का प्रकाश उसी के सम्बन्ध से होता है।[3] अतः स्वयं प्रकाश आत्मा ज्ञाता है वह प्रकाशक ही है प्रकाश्य नहीं। यह प्रकाश ही उसका सारभूत ज्ञान है।

---

1. स्वसत्तयैव स्वाश्रयंप्रति कस्यचिद्विषयस्य प्रकाशनं हि संवेदनम्। यत्वनुभूतेः स्वयं प्रकाशत्वमुक्तम तद्विषयप्रकाशन वेलाया ज्ञातुरात्मनस्तक्शैव तु सर्वेषां सर्वदा तथैवेति नियमोऽस्ति। श्रीभाष्य १/१/१.
2. विज्ञानगुणसारत्वात् आत्मनो विज्ञानमिति व्यपदेशः, विज्ञानमेवास्य सारभूतोगुणः – श्रीभाष्य – २/३/२६.
3. ज्ञानस्यापि प्रकाशता तत्संवन्धीयत्ता। तत्कृतमेव हि ज्ञानस्य सुखादेश्वि स्वाश्रय– चेतनं प्रतिप्रकटत्वमितरं प्रतिअप्रकत्वं च ।। भीभाष्य – १/१/१.

निम्बार्क दर्शन में बुद्धि— निम्बार्क उसी प्रकार वस्तुवादी या वाह्यार्थ सत्यवादी तथा ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय एवं ज्ञान के साधन (प्रमाणत्रया) को स्वीकार करते है जिस प्रकार रामानुज। ज्ञान यर्थाथ, वस्तुविषयक तथा आत्मा का धर्मभूत द्रव्य है। यर्थाथ ज्ञान या प्रभा बुद्धि वृत्ति के नहीं जीव के आश्रित होती है प्रभा या धर्मभूत ज्ञान में संकोच विकास कर्मवंश होता है इसीलिए कि आत्मा के स्वरूप ज्ञान के समान यह स्वयं प्रकाश नहीं है। आत्मा सदा ही ज्ञातृत्व धर्मवाला होता है अतः ज्ञान का कभी अभाव नहीं होता। इन्द्रिय आदि निमित्त न मिलने से सुषुप्ति मूर्च्छा आदि दशा में वह प्रकट नहीं हो पाता। यदि उसका अभाव माना जाय तो कभी भी अविर्भाव सम्भव नहीं होगा।[1] ज्ञान आत्मा में गुण और गुणी के सम्बन्ध में नित्य जुड़ा है। गुण और गुणी में भेदाभेद सम्बन्ध होता है गुण आत्मा से भिन्न होते हुए भी उससे अभिन्न या अपृथकस्द्धि है। निम्वार्क का यह ज्ञान सिद्धान्त रामानुज के मत में साम्य रखता है।[2]

निम्बार्क भी रामानुज के समान प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाणों को मानते हैं। ये सत्ख्यातिवादी हैं, अनिर्वचयीनख्याति, अख्याति अन्यथा ख्याति जैसे सिद्धातों का खण्डन करते हुए सत्ख्यातिवादी निम्बार्क कहते हैं कि प्रमाण के बल पर भ्रान्त ज्ञान का बाध उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पुण्य से पाप का या औषधि से रोग का। द्विचन्द्र का ज्ञान एक चन्द्र के ज्ञान से बाधित हो जाता है। सद्सदनिर्वचनीय कोई वस्तु ही नहीं होती अतः सत् और असत् में विवर्त या अध्यारा मानना भी मिथ्या है ही पञ्चीकरण प्रक्रिया में शुक्ति रजत के भ्रम स्थल में दोष संस्कार ही कारण है। अतः अद्वैत वेदान्त का विवर्तवाद गलत है और परिणामवाद ही श्रुति प्रतिपादित है।

---

1. अस्य ज्ञानस्य सुषुप्त्यादौ सत एवं जाग्रदादौ अभिव्यक्तिसंभवात् यावदात्मभवित्वमेव यथा पुंस्वादे वाल्ये सत् एवं योवेनेऽभिव्यक्तिः। वेदान्त पारिजात सौरभ २/३/३०.
2. गुण भूतस्य ज्ञानस्य व्यक्तिकेस्तु गन्धदुपपद्यते। वे० पा० सौ० २/३/२६.

माध्व दर्शन में बुद्धि– अन्य वैष्णव वेदान्तियों के संदृश माध्व भी ज्ञान के सविशेष–विषयत्व, स्वतः प्रामाण्य, वस्तुवाद ब्रह्मार्थवाद का समर्थन करते है तथा निर्विशेषत्व और विज्ञानवाद का खण्डन भी करते हैं। इनकी ज्ञान मीमांसा न्याय वैशेषिक की अपेक्षा सांख्य के अधिक सन्निफट है। ज्ञान किसी वास्तविक पदार्थ का होता है उस वस्तु के अकारों वाली बुद्धि वृत्ति के माध्यम से ही ज्ञाता को वस्तु का ज्ञान होता है। वस्तुओं के आकार से मतलब उसके धर्मो का साक्षी द्वारा ग्रहण साक्षी ज्ञान स्वरूप एवं स्वयंप्रकाश है अतः स्वयं को तथा सत्यज्ञान के सत्यत्व को जानता है अतः ज्ञान का स्वतः प्रामण्यसिद्ध है। उसकी प्रामाणिकता स्वयं उसी में उसकी उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति में नहित होती है। ज्ञान के प्रामाण्य का स्वतस्त्व द्विविध होता है, उत्पत्ति और ज्ञप्ति। ज्ञान का कारण मात्र से जन्म होना उसका **उत्पत्ति–स्वतस्त्व है** अर्थात जिसके द्वारा ज्ञान पैदा होता है उसी के द्वारा उसकी प्रामाणिकता भी उत्पन्न हो जाती है। **ज्ञप्तिरूप** स्वतस्त्व का तात्पर्य यह है कि ज्ञान के ग्राहक द्वारा ही उसकी प्रामाणिकता भी ग्राहय होती है। अर्थात् ज्ञाता–ज्ञान के साथ–साथ ज्ञान का प्रामाष्य भी ग्रहण कर लेता हैं। इसी प्रकार अयर्थाथ ज्ञान या अप्रभा का परतः प्रामाण्य की उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति में सम्पन्न होती है। माध्व के मत में साक्षी बिन्ध ज्ञान प्रामाणिक नहीं होता क्यों कि ज्ञान साक्षी का बोध या पौरूषेय बोध है। अनवस्था दोष से बचने के लिए ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य होना आवश्यक है अन्यथा एक ज्ञान की प्रामाणिकता किसी अन्य ज्ञान से, माननी होगी। माध्व के अनुसार साक्षी ही सभी प्रमाणों का प्रमाण है, क्योकि वही सारे निश्चय अध्यवसाय या अनुभव के मूल में है। अतः प्रमाण या वृत्तिजन्य ज्ञान पौरुषेय बोध रूप या साक्षी के निर्णय रुप अनुभव में पर्यवसित हो जाता है।

बल्लभ के दर्शन में बुद्धि– इस दर्शन का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है शुद्धाद्वैत अर्थात्, माया के सम्बन्ध से रहित शुद्ध ब्रह्म का अद्वैत। इसमें ब्रह्म की स्वरूपगत शुद्धता बताई गयी है। दूसरा अर्थ है माया के सम्बन्ध से रहित शुद्ध ब्रह्म् और जगत् का अद्वैत जो यह बताता है कि कार्य कारण रूप ब्रह्मृ भी शुद्ध है अर्थात् यह मायिक नहीं।[1] बल्लभ वेदान्त में ज्ञान या प्रभा अन्तःकरण का सात्विक परिणाम है

1. ये भोगाः परमात्मना भुज्यन्ते न एवं भुक्तै यन्ते। **अणुव्याख्यान – १७७.**

जो सत्व गुण बढ़ाने वाली सामग्री द्वारा होता है, मानी गयी है। यह अवाधित अथवा बाधित न होने की योग्यता रखती हैं।[1] सात्विक ज्ञान ही सर्व था प्रामाणिक होता है। दूसरा राजस ज्ञान है। जो सविकल्पक ही होता है सविकल्पक ज्ञान के पूर्व इन्द्रियों का जब प्रथम व्यापार विषय के साथ होता है तब सत्य का उदय होता है, अतः वस्तु की सत्ता मात्र का बोध भी सात्विक होता है जिसे निर्विकल्पक ज्ञान कहतें है। जागृत अवस्था में इन्द्रियों की सावित्कता के कारण वस्तु मात्र एक ही प्रकार का सात्विक निर्विकल्पक ज्ञान ही सर्व प्रथम उत्पन्न होता है।[2] राजस ज्ञान या सविकल्पक ज्ञान में भ्रम और वाध की संम्भवना रहती है। सविकल्पक ज्ञान दो प्रकार का है:– विशिष्ट बुद्धि जैसे दण्ड से युक्त दण्डी व्यक्ति तथा समूहालम्बन बुद्धि दण्ड के साथ पुस्तक आदि से भी युक्त व्यक्ति का बोध इस प्रकार सात्विक, राजस और तामस भेद से ज्ञान को तीन प्रकार का माना गया। माध्व मत में मान्य निर्विकल्पक सात्विक भी राजस अर्थात् संविकल्पक की ही कोटि में आता है और विशिष्ट ज्ञान है या विकल्पों अर्थात् विशेष से युक्त वस्तु की सत्ता मात्र का इन्द्रिय जन्य प्रथम ज्ञान है। यह सविकल्पक ज्ञान पांच प्रकार का होता है:– **संशय विपर्यय, निश्चय, स्मृति,** और **स्वप्न**। एक वस्तु में अनेक विरोधी धर्मो की प्रतीति संशय है। वाह्य वस्तुओं का वह ज्ञान जो इन्द्रिय संपृक्त वस्तु से भिन्न वस्तु का हो जाता है, विपर्यय या विपर्यय। यह विषय के दोष से भी होता है और इन्द्रिय दोष के कारण भी निश्चय ज्ञान यथार्थ अनुभव या प्रमा को कहते हैं। जैसी वस्तु हो वैसा ही ज्ञान देश काल आदि से युक्त विषय का पूर्ण निश्चयात्मक ज्ञान या सनिकल्पक ज्ञान साक्षात् प्रमाणजन्य होता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद इस ज्ञान के है। शब्द का ज्ञान अपरोक्ष नहीं होता अतः ईश्वर का ज्ञान या साक्षात्कार इसमें नहीं

---

1. तत्व सात्विकं ज्ञानं प्रभास्वभेव। सत्वगुण हेतु सामग्रया सत्ववृद्यावन्तः करणेन प्रमितैख जननात्। सत्वस्यैव प्रमाणत्वश्चयात् तज्जन्यमेव ज्ञानं प्रमाणम्। अबाधित ज्ञानत्वम् बाध योग्य व्यक्तित्कंव व तत्वक्षणम्। **प्रस्थान रत्नाकर पृ० ५–६.**
2. तत्र राजसंज्ञानं सविकल्पमेव। ततः पूर्व चेन्द्रियेषु सात्विकमुत्पद्यतेनिर्विकल्पकम् तच्च सन्मात्रबगाद्यकेविधमेव। जागदवृत्ते. सातित्कत्वेन प्रथमत. एवं सत्वानुग्रहे इन्द्रियैः प्रथमं तस्योत्पादनात – **प्रस्थान रत्नाकर पृ० ७.**

शामिल है।[1] संस्कार मात्र से जन्य ज्ञान को स्मृति कहते है। स्वप्न की रचना को विषय बनाने वाला ज्ञान स्वप्न ज्ञान हैं सुषुप्ति स्वप्न का ही अवान्तर भेद है। प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द ये तीन ही अलग–२ प्रमाण मान्य है। अज्ञात् वस्तु का बोध कराने वाले साधन को प्रमाण कहते हैं।[2] लोक से अज्ञात ब्रह्मविषय अन्य प्रमाणों का विषय नहीं हो सकता अतः वेदात्मक शब्द ही ब्रह्म विषय के बोधक होने से सर्वाधिक प्रामाणिक है।[3] अनुमान एवं तर्क की गति उस विषय में विल्कुल नहीं हो सकती। जिस ज्ञान का साधन ज्ञान हो उसे अनुमान कहते हैं।[4]

वृत्तिज्ञान और स्वरूप ज्ञान का भेद इस मत में स्वीकृत हैं। स्वरूपभूत ज्ञान ब्रह्म ही है क्योंकि जीव आनन्द विरोहित ब्रह्म है। जीव का चैतन्य गुण से अविनाभव सम्बन्ध है।[5] गुण दीप प्रभा के समान व्यापक और सहज तथा पूर्ण से ही विद्यमान रहता है जैसे वाल्यावस्था में देह में पुंस्त्व।[6]

अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय में बुद्धि का स्वरूप

चार्वाक दर्शन– भारतीय दर्शन में प्रमाणों की संख्या के बारे में काफी मतभेद है। चार्वाक मत में प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है, अनुमान शब्द आदि को प्रमाण मानना निराधार है।[7] इन्द्रिय और अर्थ के (विषय) सनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है सुख दुःख आदि का अनुभवइन्द्रिय प्रत्यक्ष पर निर्भर है। प्रमेय की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो सकती है। अनुमान का आधार व्याप्ति होती है जो हेतु और साध्य के बीच साहचर्य का नियम है। जब तक व्याप्ति का निश्चय ने होगा तब तक अनुमिति के बारे

---

1. तच्च निश्यात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्ष–परोक्ष भेदेन द्विविधम्। तत्र इन्द्रियार्थ सत्संप्रयोग जन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। एतदेव लोकं साक्षात्कार पदेनोच्यते। ईश्वर ज्ञानं तु न लक्ष्यम्। शब्दाद्वपरोक्षं न च युक्ति सहम्। **प्रस्थान रत्नाकर पृ० २१.**
2. अनधिगतार्थगन्तृत्वात्प्रमाणस्य। **अणुभाष्य १/१/२.**
3. **प्रस्थान रत्नाकर का पृष्ठ – ३८.**
4. ज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिः। **अणुभाष्य पृ० १३८.**
5. **प्रस्थान रत्नाकर पृ० – २.**
6 **अणुभाष्य – २/३/२३–२८.**
7. प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। बृहस्पतिसूत्र।

में निश्चय नहीं हो सकता। व्याप्ति सम्बन्ध में उपाधि का अभाव आवश्यक है और इस अभाव का निश्चयात्क ज्ञान संभव नहीं हौं। अग्नि और धूम के साहचर्य में गीलें ईधन की उपाधि प्रत्यक्ष गम्य हो।[1] यदि अनुमानगम्य होगी तो अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष हो जायेगे। अर्थात् साध्य की समव्याप्ति होते हुए जो साधन (हेतु लिंङ्गा) में अव्याप्त है उसे उपाधि कहते है। व्याप्ति का दूसरा नाम अविनाभाव सम्बन्ध है।

अविनाभाव या व्याप्ति दो प्रकार की होती है, समव्याप्ति और असमव्याप्ति। पृथ्वीत्च औ!र गंध का सम्बन्ध समव्याप्ति है दोनों एक दूसरे को व्याप्त करते है। अग्नि द्वारा धूम की व्याप्ति है। धूम और गीले ईधन के संयोग के बीच समव्याप्ति किन्तु अग्नि और गीले ईधन के संयोग में असमव्याप्ति है। अतः अनुमान को प्रमाण मानने वाले दार्शनिक–दिग्गज इस अनुमानभङ्गपङ्क में गढ़े में फंसकर बाहर निकलने में विवस हो जाते है।[2] चार्वाक का सिद्धान्त स्वभाव वाद के नाम से दर्शन के क्षेत्र में विख्यात है। वे जगत की उत्पत्ति तथा विनाश का मूल कारण **स्वभाव** ही मानते है। वस्तु. स्वभाव जगत की विचित्रता का कारण है कुछ अन्य नहीं।[3] चार्वाक कार्य कारण वाद को नहीं मानते क्योंकि बिना हेतु के ही सदभाव अकस्मात् भूति को अङ्गीकार करते है।[4] अतः ये अनुमान प्रमाण के विरोधी हैं।

बौद्ध एवं जैन दर्शन में बुद्धि– बौद्ध एवं जैन मतानुसार जीव चैतन्य है, ज्ञान उसका साक्षात् लक्षण हैं अर्थात् जीव निसर्गतः अनन्त् ज्ञान, अनन्त दर्शन एवं अनन्त चरित्र विशिष्ट है। कर्मो के आवारण के कारण ही उसका शुद्ध चैतन्य रूप ओझल रहता है और पुनः कर्मो का सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाने के बाद वह सर्वज्ञ बन जाता है। साधारणतः ज्ञान के दो प्रकार के माने जाते है। १. साधारण अथवा **लौकिक ज्ञान**, २.

---

1. उपाध्यभावोऽवि दुखगम। उपाधीना प्रत्यक्षनियमारांभवने, प्रत्यक्षाणामभावस्थ प्रत्यक्षत्वेऽप्यक्षाणामभावस्याप्रत्यक्ष– तयाऽनुमानाद्यपेक्षायामुक्तादूषणानीवृत्ते.– **सर्वदर्शन संग्रह पृ० १०–११.**
2. विशेषोऽनुगमाभावात् सामान्ये सिद्ध साधनात्। अनुमाभङ्गपङ्केऽस्मिन निमग्ना वादि दन्तिनः– **भा० दर्शन सी० डी० शर्मा।**
3. अपरे लोकायतिकाः स्वभावं जगतः कारणमाहु. स्वभावादेव जगद् विचित्रमुत्पद्यते, स्वभावतो विलयं याति। **भट्टोत्पल बृहत्संहिता १/७ की ठीका।**
4. हेतुभूतनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च। स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः।। **न्याय कु० १/५.**

अराधारण अथवा **अलौकिक ज्ञान**। राधारण ज्ञान अथवा आत्मेतर इन्द्रिय मन सापेक्ष ज्ञान परोक्ष कहा जाता है। असाधारण अलौकिक ज्ञान आत्म सापेक्ष होता है जिसे प्रत्यक्ष कहते है। जिस ज्ञान की उपलब्धि में आत्मा स्वयं कारण भूत हो उसे प्रत्यक्ष कहते है। जैन आत्म प्रत्यक्ष को भी वास्तविक प्रत्यक्ष मानता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद माने गये है– अवधि, मयपर्यय एवं केवल। इनमें से दो ज्ञान विकल प्रत्यक्ष है क्योंकि इनकी कुछ सीमाएं हैं। केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है क्योंकि वह पूर्ण हैं। जिसे **रूप, रस, स्पर्श गन्ध** वही अवधि ज्ञान का विषय है ये मनके चिंतित अर्थ को प्रकट करने वाला ज्ञान मनः पर्याय है। यह ज्ञान आत्म पूर्वक होता है।[1] मनः पर्याय के दो प्रकार हैं– **श्रृजुभति** एवं **विपुलमति**[2] ये मन के सूक्ष्मतर परिणामों को जानने में समर्थ होता है। अवधि ज्ञान एवं मनः पर्याप एक ही ज्ञान की दो भूमिकाएं है। दोनों में अन्तर यही है कि अवधि की अपेक्षा मनः पर्याय ज्ञान अधिक सूक्ष्म अंश को जानता है। अवधि ज्ञान, देव, मनुष्य, नरक, और विर्मक ज्ञान अधिक सूक्ष्म अंश को जानता है। अवधि ज्ञान, देव, मनुष्य, नरक, और तिर्यक को हो सकता है लेकिन मनः पर्यय केवल चरित्रवान मनुष्यओं को ही। समस्त ज्ञानावरण का समूलानाश होने पर प्रकट होने वाला निरावरण ज्ञान केवल ज्ञान हैं या आत्मा की ज्ञान शक्ति का पूर्णविकास या आविर्भाव केवल ज्ञान है। ज्ञान के प्रतिबन्ध क्रमशः चार है– **मोहनीय, ज्ञानवारण, दर्शनावरण** और **अंतराय**। इस ज्ञान की प्राप्ति के क्रम में सर्वप्रथम मोह का क्षय होता है तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त के वाद ही ज्ञानावरण, दर्शनाकरण एवं अन्तराय कर्म क्षय हो जाते है। वस्तुतः यह ज्ञान व्यक्ति के ज्ञान के विकास का अन्तिम सोपान है। शास्त्र निवद्ध ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। या आप्त पुरुष द्वारा रचित् शास्त्रों में जो मतिपूर्वक ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है।[3] यह **अंगप्रविष्ट** और **अंगवाहय** दो प्रकार का होता है।

---

1. तदन्तभागे मनः पर्यायस्य – तत्वार्थसूत्र १/२६.
2. ऋजुभति एवं विपुलमति– तत्वार्थसूत्र १/२४.
3. श्रुतमतिपूर्वद्वन्येनकव्दादशन्मेदम्। तत्वार्थ सूत्र १/२०.

जैन न्याय प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम इन तीन प्रमाणों को ही स्वीकार करता है। प्रत्यक्ष की सत्ता सर्वमान्य है। जैन आगम से प्रतिपादित सत्य जैन दर्शन की मूलभित्ति है। सब कर्मो का नाश हो जाने पर ये बाधायें भी नष्ट हो जाती है। तभी ऐसा संभव होता है।[1]

न्यायदर्शन में बुद्धि– जिस प्रकार दीपक का प्रकाश अपने सामने उपस्थित होने वाली समस्त वस्तुओं के स्वरूप को प्रकट कर देता है उसी प्रकार बुद्धि (ज्ञान) समस्त पदार्थो को प्रकाशित कर देता है। ज्ञान का अधिष्ठाता आत्मा होता है इसीलिए यह प्रकाश का आत्माश्रय कहा गया।[2] बुद्धि उपलब्धि, अनुभव ये सब ज्ञान के पर्याय है। न्यायकट्टर वस्तु वाद है वह ज्ञान को ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध मानता है बिना ज्ञाता और ज्ञेय के ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। जब आत्मा या ज्ञाता ज्ञेय के सम्पर्क में आता है तो उसमें ज्ञान नामक गुण उत्पन्न होता है। ज्ञान का कार्य ज्ञेय पदार्थो को प्रकाशित करना है।[3] जब ज्ञाता ज्ञेय पदार्थ के सम्पर्क में आता है तब ज्ञेय पदार्थ द्वारा ही ज्ञाता में ज्ञान नामक गुण उत्पन्न किया जाता है जिससे ज्ञेय पदार्थ ज्ञेय के रूप में प्रकाशित होता है अतः बिना ज्ञेय पदार्थ या विषय के ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।[4] न्याय दर्शन में सांख्य योग दर्शन के पक्ष के विपरीत, ज्ञान, उपलब्धि बुद्धि आदि शब्दों को समानार्थक माना गया है।[5] जीव मात्र का समस्त व्यवहार ज्ञान पर ही निर्भर हैं यह आत्मा का एक विशेष गुणहै। ज्ञान स्वप्रकाश आत्मसंवेदन नहीं है।[6] इसका प्रकाश विषयों पर निर्भर है। प्रत्यक्षों का सामान्य लक्षण इन्द्रियों संयोग नहीं, वरं साक्षात् प्रतीति है। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान तब होता है जब उसका साक्षात्कार होता है। अर्थात् जब उस वस्तु का ज्ञान बिना किसी पुराने अनुभव या बिना किसी अनुमान से होता है।[7] कुछ भारतीय तार्किक साक्षात् प्रतीति को ही प्रत्यक्ष कहते है। यद्यपि वे मानते है कि अधिकांश प्रत्यक्ष इन्द्रिय स्पर्श के ही कारण होते है।[8]

---

1. षऽदर्शन – समुच्चय पर गुणरत्न की टीका– श्लोक २५–चौखभा संस्करण।
2. अज्ञानान्धकार तिरस्कार कारकः सकलपदार्थस्यार्थप्रकाशकः प्रदीपः इव देदीप्यमानः आत्माश्रयो यः प्रकाशः सा बुद्धि – जिनवर्धन सप्तपदार्थी टीका।
3. अर्थप्रकाशों बुद्धिः। – तर्कभाषा।
4. न चाविषया काचिदुपलब्धिः। तर्कभाषा।
5. न्याय सूत्र – १/१/१५.
6. विज्ञानमनात्मसम्वेदनम्। ता टीका पृ० ४.
7. तर्कभाषा पृ० ५ सिद्धान्तमुक्तावली पृ० २३५–२३६– तत्वचिन्तामणि पृ० ५३६/४३/५५२.
8. ज्ञानाकरणकं ज्ञानम् प्रत्यक्षम् – गंगेश उपाध्याय, तत्वचिन्तामणि।

वैशेषिक दर्शन में बुद्धि– ज्ञान सामान्यतः दो प्रकार का होता है १. **विद्या** तथा २. **अविद्या**। ये दोनों चार–चार प्रकार के होते है। **संशय् विपर्यय अनध्यवसाय** और **स्वप्न**। विशेषण वाले दो पदार्थो में सादृश्य मात्र के दर्शन से दोनों के विशेषों के स्मरण ने करने से उभयावलम्बी विमर्श कों संशंय कहते है। यह दो प्रकार का होता है अन्तः और बाध्य। विपर्यय का अर्थ है अवस्तु में वस्तु का ज्ञान **(अतस्मिन् तदिति प्रत्यक्षः)** अर्थात् भ्रम। अनध्यवसाय से तात्पर्य अनिश्चय से है। प्रशस्तपाद के मत से स्वप्न के तीन कारण होते हैं। १. **संस्कारपाटवा, धातुदोष,** तथा **अदृष्ट**। विद्या चार प्रकार की होती है– प्रत्यक्ष, लैंगिक (अनुमान) स्मृति और आर्प। प्रत्यक्ष तथा अनुमान की कल्पना नैयायिकों के ही समान है। स्मृति प्रसिद्ध है। श्रृषियों का अतीन्द्रिय विषयों पर प्रतिमाजन्य यर्थार्थ निरूपमात्मक ज्ञान आर्प कहा जाता है। प्राचीन काल में वैशेषिक दर्शन का साहचर्य बौद्ध दर्शन के साथ विशेष घनिष्त प्रतीत होता है।

सांख्य योग दर्शन में बुद्धि– भारतीय दर्शन में अनुसार तत्व को जानने का साधन प्रमाण है इसी लिए प्रत्येक दर्शन अपनी प्रमाण मीमांसा और ज्ञान मीमांसा का प्रतिपादन करता है। न्याय वैशेषिक की भांति सांख्य दर्शन श्रुतिपर विशेष निर्भर नहीं करता वह अपने प्रमेयों की सिद्धि के लिए मुख्यतः अनुगान पर निर्भर करता हैं वह श्रुति को मानता है इसीलिए आस्तिक दर्शन कहलाता है। सांख्य के अनुसार प्रमाण तीन हैं, प्रत्यक्ष अनुमान एवं आप्तवचन। प्रमेय का ज्ञान किसी प्रमाण से ही होता है। जो वस्तुएं इन्द्रियसंवेद्य नहीं है उन्हें हम श्रुति अथवा आप्तवचन से जानते हैं। सांख्य में प्रकृति और पुरुष ही दोनों अपरोक्ष तत्व है। उनकी सिद्धि के लिए सांख्य अनुमान का प्रयोग करता है। जो प्रमा या यर्थाथ ज्ञान का कारण है वह प्रभाण है। सांख्य में प्रमा या यर्थार्थ ज्ञान बुद्धि या चित्त का धर्म हैं। ज्ञान उत्पन्न होता है, उत्पन्न होना इस बात का द्योतक है कि ज्ञान का आश्रय विकारशील है। यह विकारशीलता पुरुष में नहीं होती क्योंकि सांख्य का पुरुष निर्विकार है वह शुद्ध चैतन्य रूप एवं नित्य है। अतः सांख्य के पुरुष में किसी भी तरह का विकार नहीं होता। सांख्य के अनुसार यर्थाथ ज्ञान और भ्रान्त ज्ञान आदि बुद्धि की या चित्त की वृत्तियां हैं।

योग सूत्रों के व्यासभाष्य में प्रमा की दूसरी परिभाषा को माना गया। उक्त के अनुसार अर्थ या वस्तु के विशेष या सामान्य रूप को ग्रहण करने वाली वृत्ति प्रमाण है और पुरुष में उस चितवृत्ति का बोध प्रभा है।[1] वाचस्पति के मत में मुख्य अर्थ में बुद्धि वृत्ति प्रमा हैं और गौण अर्थ में पुरुष का बोध। सुख दुख ज्ञान आदि परिणाम बुद्धि के होते है, अविवेक के कारण पुरुष उन्हें आत्मसात् करता प्रतीत होता है। इस प्रतीति के कारण ही प्रमा या बोध (ज्ञान) को पुरुष कहा गया। यदि प्रमा पुरुषनिष्ठ है तो बुद्धि वृत्ति प्रमाण है और यदि प्रमा को बुद्धि निष्ठ माना जाय तो इन्द्रिय सन्निकर्ष को प्रमाण माना जायेगा। कारिकाओं की युक्तिदीपिका टीका के अनुसार बुद्धिवृत्ति ही प्रमाण है इसीलिए सांख्य को अध्यवसायप्रमाणवादी कहा जाता है।[2] यह मान लेने पर प्रमाण फल या प्रमा पुरुष निष्ठ कहीं जायेगी। यह प्रमा अध्यवसाय रूप प्रमाण से भिन्न है। सुख और दुख वस्तुतः मन के होते है। आत्मा इन सबसे मुक्त होता है। परन्तु अज्ञान के कारण वह बुद्धि या मन से अपने को पृथक नहीं समझता तथा उनके समस्त धर्मो को अपने ऊपर आरोपित करता है।

मीमांसा दर्शन में बुद्धि– अज्ञात तथा सत्यभूत पदार्थ के ज्ञान को प्रमा कहते है। अज्ञात कहने से स्मृति और अनुवाद का व्यवच्छेद हो जाता है क्योंकि इनका विषय पूर्वतः ज्ञात होता है। जिस ज्ञान में अज्ञात पूर्व वस्तु का अनुभव हो, जो अन्य ज्ञान के द्वारा बाधित न हो तथा दोष रहित हो वही प्रमाण है।[3] प्रभाकर अनुपलब्धि को प्रमाण नहीं मानते। मीमांसा भी दो प्रकार का ज्ञान मानती है। प्रत्यक्ष और परोक्ष। यथार्थ ज्ञान वह है जिसमें किसी विषय में नयी बात मालुम होती है जो दूसरे प्रमाण से बाधित नहीं होता और जिसके मूल में कोई दोष नहीं रहता।

---

1. इन्द्रिय प्रणालिकया चित्तस्य वाहयस्तुपरागात तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्थ विशेषावधारणप्रधानावृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। फलम् विशिष्टः पौरुषेयश्चित्तबोधः। यो० भा० १/१७ हरि भद्र सूरिकृत।
2. तस्मात् सिद्धमध्यवसाय प्रमाणवादिनः प्रमाणत्फलमर्थान्तरमिति। सांख्य कारिका ६.
3. कारणदोष बाधक ज्ञान रहितम् अग्रहीतग्राहि ज्ञान प्रमाणम् शास्त्र दीपिका १/१/१५.

इन्द्रियों के साथ संपर्क होने पर प्रथम क्षण में ही वाह्यविषय और उसके नाना धर्मो का अस्फुट ज्ञान हो जाता है।[1] शावर तथा प्रभाकर के मत में ज्ञानत्रिपुटी सम्वित् हैं प्रत्येक ज्ञान में **विषयानुभूति, आत्मानुभूति** तथा यह अनुभूति रहती है कि ज्ञान है। विषय के ज्ञाता के रूप में आत्मा की चेतना ही ज्ञान है। ज्ञान स्वयं प्रकाश है, वह स्वय अपने आप को प्रकाशित करता है एवं किसी अन्य ज्ञान का विषय नहीं होता। प्रभाकर के मत में ज्ञान द्विविध है परोक्ष तथा अपरोक्ष। अपरोक्ष या प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय के साथ इन्द्रिय का साक्षात् सम्बन्ध रहता है। किन्तु परोक्ष ज्ञान के विषय में साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। आत्मा मन की सहायता से इस ज्ञान को प्राप्त करता है। प्रतिज्ञान में यह उपलब्धि होती है कि ज्ञान है किन्तु विषय ज्ञान में यह उपलब्धि अप्रकट रहती है। मीमासको के मत में अबाधित ज्ञान स्वतः प्रामाष्य है। ज्ञान की यर्थाथता अन्य किसी ज्ञान की सहायता से प्रकाशित नहीं होती। नहीं तो अवस्था दोष आ जायेगा। प्रत्येक ज्ञान यथार्थ है जब तक कि वह दूसरे ज्ञान द्वारा बाधित न हो। यद्यपि ज्ञान स्वतः प्रामाण्य है तथापि संदेह के निरसन के लिए अन्यान्य ज्ञान की सहायता से किसी ज्ञान विषयक सन्देह को दूर करना पड़ता है। भ्रम के सम्बन्ध में उनका मतवाद **अन्यथाख्याति** नाम से विदित है।

वेदान्त दर्शन में बुद्धि– शङ्कराचार्य के अनुसार मोक्ष का साधन केवल ज्ञान है जो प्रतिबन्धभूत अविद्या को दूर करता है। उपासना ध्यान रूपीमानसी क्रिया है। कर्म और उपासना अविद्या में ही संभव है। ज्ञान और कर्म, प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरुद्ध है ज्ञान अविद्या की निवृतित करता है। ब्रह्मज्ञान का अवसान (परिणति) अपरोक्ष अनुभव में होता है।[2] ज्ञान ब्रह्म को इदंतया विषय नहीं बनाता, वह ब्रह्म को अविषय बताते हुए अविद्या कल्पित ज्ञात् ज्ञेय भेद की निवृत्ति से अपरोक्षानुभूति गम्यप्रतिपादित करता है।[3] ब्रह्मज्ञान सविकल्पक बौद्धिक ज्ञान नहीं है। अपितु निर्विकल्पक अपरोक्षानुभूति है। ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति मात्र होती है।

---

1. प्रकरण पंचिका पृ० ५४/५५.
2. अनुभवावसानत्वात् भूतवस्तुविषयत्वात् च ब्रह्मज्ञानस्य। शारीरक भाष्य १/१/४.
3. अविद्या कल्पित भेद निवृत्तिपरत्वात् शारीरक भाष्य – १२४.

ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। उसी को चित् या संवित् कहा गया है वह स्वयंप्रकाश है वह ज्ञान निर्विशेष और निर्विकल्पक है यह साक्षात् अपरोक्ष तथा सत्य है। इस ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञान का एक अन्य प्रकार है जो सविशेष सविकल्पक तथा परोक्ष ज्ञान है। वह ज्ञान अविद्या जन्य है। इसमें प्रमाण, प्रमेय और प्रमाण के त्रिविध भेद है। सविशेष ज्ञान का मूल निर्विशेष ज्ञान ही है। निर्विशेष ज्ञान को पूर्वाक्षिप्त करते ही सविशेष ज्ञान संभव है। शंकर के अनुासर ज्ञान प्रमाण जन्य है। प्रमाण यथा भूल वस्तु विषयक होता है अतः ज्ञान कारक अकारक या अन्यथा कारक नहीं होता वह वस्तुतंत्र होता है।[1] स्वय मान ज्ञान पर आश्रित है और ज्ञान मन पर नही। उनके अनुसार ब्रह्म ज्ञान की वस्तुतंत्र है क्योंकि वह भूतवस्तुविषयक है।[2] ब्रह्म ज्ञान निर्विशेष है वह सविशेष ज्ञान की भांति किसी सद्रवस्तु का निराकरण नहीं करता। वह केवल अविद्या या अज्ञान का निर्वतक है। यही सविशेष ज्ञान का भी कार्य है। वह भी अकारक है और केवल मिथ्या ज्ञान का निवर्तक है।[3] **विज्ञानं च मिथ्याज्ञानं निर्वतकत्व व्यतिरेकेण अकारणत्व इति अवोच्पम्।**[4] ज्ञापकत्व ही ज्ञान का लक्षण है। इसी को शंकरोत्तर वेदान्तियों ने स्वयं प्रकाश माना है। ज्ञान में क्रिया की गन्धमात्र भी नहीं होती।[5] ज्ञान वस्तु तंत्र होता है। वह भूतवस्तु विषयक हैं ज्ञान प्रमाणजन्य अनुभवासान और वस्तुतंत्र होता है। पुनश्च कर्म का फल अश्युदय, (लौकिक एवं परलौकिक सुख) है। ज्ञान का फल निःश्रेयस मोक्ष है। मोक्ष नित्य आनन्द है अतः उसे ज्ञान का फल कहना भी उपचार मात्र है। क्योंकि ज्ञान मोक्ष को उत्पन्न नहीं करता केवल अविद्या की निवृत्ति करता है जिससे स्वप्रकाश आत्मतत्व का साक्षात् अनुभव होता है। कर्म का उपदेश चित शुद्धि के लिए और

---

1. ज्ञान तु प्रमाण जन्यम्। प्रमाणं च यथाभूत वस्तुविषयम्
   यतोज्ञानं कर्त्तुम अकर्त्तुम चान्यथा का कर्त्तुम अशक्यम् केवल वस्तुतंत्रमेव तत्। **शारीरक भाष्य १/१/४.**
2. तत्रैवसति ब्रहमज्ञानं वस्तुतंत्रमेव भूतवस्तुविषयकत्वात्। **शारीरक भाष्य १/१/२.**
3. नहि क्वचित् साक्षात् वस्तु धर्मस्य अपोदी कर्त्री वा दृष्टा ब्रह्मविद्या।
   अविद्यायास्तु सर्वत्रैव निवर्तिका दृश्यतें। नतु
   पारमार्थिक वस्तु कर्त्तुम निवर्तयितुम वा अर्हति ब्रह्मविद्या। **ब्रह्मदारण्यतेकोपनिषद् भाष्य (गीताप्रेम)** पृ०२४६
4. **ब्रहदारण्यकोपनिषद् भाष्य (गीता प्रेस)** पृ० २४७.
5. क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह्व नोपाद्यते। -- **ब्रह्मदारण्यतेकोपनिषद् भाष्य (गीताप्रेम)** पृ० २४७

उपासना (ध्यान) का उपदेश चिन्त की एकाग्रता के लिए है वेद का अर्थ ही ज्ञान है। ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वरूप में प्रतिपादित करने वाली अनेक कृतियों के होते हुए भी मीमासक को यह कथन है कि भूतवस्तुपरक वेदभाग नहीं है, दुःसाहस मात्र है।[1] कर्म और उपासना अविद्या में सम्भव है और ब्रह्मज्ञान से अविद्या की सर्वथा निवृत्ति होती है।[2] समस्त अनर्थो की जड़ अविद्या का विनाश और हेयोपादेय शून्य तथा अखण्ड आनन्द स्वरूप ब्रह्मानुभव जीवन का चरम पुरूषार्थ है तथा वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन है।[3]

खण्डन– विशिष्टाद्वैत वेदान्त में बुद्धि परिच्छेद की ज्ञान मीमांसा और धर्मभूत ज्ञान के दर्शन के गुण जीव में प्रवाहित करता है। जिससे ज्ञान का स्वयं प्रकाशत्व सिद्ध होता है।

विशिष्टद्वैत वेदान्त में बुद्धि परिच्छेद प्रमाण मीमांसा के रूप में सम्मिलित किया जाता है। धर्मभूत ज्ञान के साथ ही साथ दर्शन में पदार्थ के ज्ञान, और गुण की विशेषता बताना तथा द्रव्य तथा जीव के साथ प्राण धारण करना या जीना निश्चित करता है। जिससे बुद्धि का स्वयं प्रकाशत्व सिद्ध होता है।

---

1. अतोभूतवस्तुपदो वेदभागों नास्तीति वचन साहसमात्रम् शारीरक भाष्य – १/१/४.
2. अतो न कर्तव्य शेषत्वेन ब्रह्मोपदेशों युक्त। – शारीरकभाष्य १/१/४.
3. हेयोपादेयशून्य ब्रह्मात्म तावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात् पुरुषार्थ सिद्धेः। शारीरक भाष्य १/१/४.

नवम् – अध्याय
अद्रव्य परिच्छेद

१. अद्रव्य क्या है?

२. अद्रव्य का लक्षण

३. अद्रव्य के भेद या प्रकार

४. सिद्धान्त के अनुसार संख्या का द्रव्य का कार्य

५. अन्य शास्त्रों दर्शन में न्याय, वैशं, जैन, बौद्ध मीमांसा, अद्रव्य एवं लक्षण

६. अन्य बौधिक

नवम् – अध्याय

अद्रव्य परिच्छेद

अद्रव्य– जिस पदार्थ में अवस्था न होती हो वह पदार्थ अद्रव्य है।[1] वह द्रव्य से भिन्न है। एवं उसमें द्रव्यत्व नहीं हैं, इसलिए वह अद्रव्य कहा जाता है। द्रव्य एवं (तद्भिन्न) अद्रव्य के रूप मे विभाजन में तीसरा प्रकार असंभव है।

द्रव्याद्रव्य विभाग में जो द्रव्य कहे गये हैं, वे स्थिर हैं बौद्ध लोग क्षणभंग को सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं, अर्थात् एक क्षण रहकर द्वितीय क्षण में नष्ट हो जाते हैं, जबकि उनके इस क्षणभंगवाद में कोई प्रमाण नहीं हे। अतः द्रव्य स्थिर हैं।[2] प्रश्न है कि बौद्ध प्रत्यक्ष से क्षणभंगवाद को सिद्ध करते हैं अथवा अनुमान से? प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से क्षणिकत्व सिद्ध नहीं होता, बल्कि स्थिरत्व ही सिद्ध होता है। 'यह वही घट है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष लोक में होती रहती है, उससे घटादि पदार्थों में स्थिरत्व अर्थात् पूर्वोत्तरकालवर्तित्व सिद्ध होता है, प्रत्यक्ष से पदार्थो का क्षणिकत्व सिद्ध नहीं होता।

अनुमान के द्वारा भी क्षणभंगवाद उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि क्षणभंगपक्ष में जब स्मरणसामान्य ही अनुपपन्न होता है, तब व्याप्तिस्मरण इत्यादि कैसे हो सकते है? व्याप्तिस्मरण इत्यादि असंगत होने पर अनुमान–सामान्य निर्मूल हो जाता है। ऐसी स्थिति में क्षणभंगवाद में क्षणिकत्वसाधक अनुमान कैसे सिर उठा सकता है। क्षणभंगवाद एवं क्षणिकत्वसाधक अनुमान में सामञ्जस्य नहीं हो सकता हैं। आस्था को दूर करने के लिए 'सर्व शून्यम्' ऐसा शून्य उपदेश ही देना चाहिए। जबकि यह वैभाषिक बौद्धों को अभिमत नहीं है। अतः इस विवेचन से स्पष्ट है कि आस्थानिवृत्यर्थ अप्रामाणिक क्षणिकत्व का उपदेश भी उचित नहीं है। इस प्रकार उक्त विवचेनों से द्रव्य स्थिर है।[3]

---

1. देखिए – अध्याय – ५.
2. द्रव्याणि स्थिराण्येव, न्यायसिद्धाञ्जन, पृ० १६.
3. न्याय सिद्धाञ्जन, पृष्ठ ३२.

अद्रव्य क्या है– विशिष्टाद्वैत[1] दर्शन में प्रमेय अर्थात् पदार्थ दो प्रकार का माना गया है–द्रव्य और अद्रव्य। जड़ और अजड़ भेद से द्रव्य भी दो प्रकार का है। प्रकृति और काल जड़द्रव्य हैं अजड़ द्रव्य पराक और प्रत्यक भेद से २ प्रकार का है। नित्यविभूति और धर्मभूतज्ञान अजड़ पराक द्रव्य हैं। जीव और ईश्वर में अजड़ प्रव्यक तत्व है। जो पदार्थे संयोग से रहित हो अर्थात् जिसमें किसी दूसरे का संयोग नहीं होता तथा जो दूसरे में संयुक्त नहीं होता, वह अद्रव्य है अद्रव्य परिच्छेद में १० अद्रव्यों की जैसे **सत्व, रजस, तमस्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध संयोग तथा शक्ति**[2] की संक्षिप्त् रूप रेखा प्रदान करता है, तथा उनको तर्क युक्त, बहस करके परिभाषित करना है। श्री वरद् विष्णुमिश्र भी तीन अद्रव्य (सत्व, रजस, तमस्) को द्रव्य के रूप में धारण करने के लिए प्रचण्ड रूप से आलोचना की है। न्याय वैशेषिक रीति से अन्य गुण जैसे गुरूत्व द्रवव्व स्नेह संख्या इत्यादि की भी १० अद्रव्यो के अन्तर्गत ही आलोचना की गई। यह भी सुझाव दिया गया है कि द्रव्य और अद्रव्य पदार्थो का विभाजन भी उनके द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव की अपेक्षा अधिक तार्किक तरीके से संक्षिप्त और विस्तार पूर्ण ढंग से किया गया है।

अद्रव्य का लक्षण– जो पदार्थ संयोग रहित तथा दूसरे से कभी संयुक्त नहीं होता वह अद्रव्य है।[3] इस प्रकार द्रव्य अनन्त हैं। प्रकृति में प्रलय काल में प्रतिक्षण सदृश अवस्था की सन्तति होती रहती है तथा सृष्टि काल में विसदृश अवस्थाओं का प्रवाह होता रहता है, काल में क्षणत्व, लवत्व और निमेषत्व से लेकर परार्धपर्यन्त अवस्थाएं होती हैं। बुद्धि में प्रत्यक्षत्व अनुमिति और शब्दत्व इत्यादि अवस्थाएं होती रहती है ये सभी अवस्थाएं अद्रव्य हैं। इस प्रकार अद्रव्य अनन्त प्रकार के होते हैं।

---

1. यहाँ पर चित् (जीव) और अचित् (जड) से विशिष्टब्रह्म का ही अद्वैत होता है, अर्थात् चित् और अचित् जिसमें अंश रूप से विधमान रहते है, ऐसा अशी रूप विशिष्ट ब्रह्म ही एक मात्र तत्व है। 'विशिष्टद्वैत' शब्द इसी अभिप्राय को व्यक्त करता है। यहा चित् और अचित् की भी वास्तविकता है, शङ्कर वेदान्त के समान मिथ्या नहीं। वस्तविक होते हुए भी वे ब्रह्म के अंश है। इनके अशांशिमाव से सम्बद्ध होने के कारण इनकी पृथक् स्थिति नहीं रहती। अपृथग्भाव संश्रित होने के कारण ही इनका अद्वैतत्व अव्याहत रहता है। – न्यायसिद्धाञ्जन के पृष्ठ ५५.
2. तानि सत्वरजस्वतमांसि, शब्दादयः पञ्चसंयोग, शक्तिरिति दशैव। वही पृ. ५५८.
3. संयोग रहितमद्रव्यम् – न्यायसिद्धाञ्जन पृष्ठ – ५५६.

किस किस में कौन कौन अवस्था रूपी अद्रव्य होता है यह अर्थ उन प्रमाणों के अनुसार जानने योग्य है। इन अवस्था रूपी अद्रव्यों की अनन्तता में ध्यान रखकर ही श्री वरद विष्णु मिश्र ने कहा कि **"गुणअनन्त होते हैं"**[1] ये अवस्था रूची अद्रव्य अनन्त है उनमें परस्पर भेद भी अनन्त है उनका अलग–२ स्पष्ट निर्देश करना अशक्य है अतः प्रसिद्ध अद्रव्यों का ही निरूपण किया जाता है।

अद्रव्य के भेद या प्रकार– अद्रव्य १० प्रकार के हैं:– जिनमें– सत्व, रज, तम, शब्द, रूप, रस गन्ध संयोग और शक्ति। इन अद्रव्यों में ही गुरूत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार या वासना, संख्या परिमाण पृथकत्व विभाग, परात्वापख्व, कर्म, सामान्य, सादृश्य विशेष समवाय वैशिष्ट्य और अभाव का यथासम्भव अर्न्तभाव हो जाता है। इस सम्प्रदाय के कुछ विद्वान इनमें कतिपय का पूर्वोक्तों में जो अर्न्तभाव नहीं मानते हैं किन्तु वहिर्भाव ही मानते हैं, यह अर्थ उन–उन प्रसगों में भी लागू होगा। द्रव्यों के साथ एकत्व इत्यादि अद्रव्य विशेष का भी प्रतिपादन तत्व मुक्ता कलाप के अनुसार ही हुआ है।

न्याय सिद्धाञ्जन के अनुसार अद्रव्यों का निरूपणः–

त्रिगुण (सत्व, रजस, तसम्) निरूपण– सत्व का यह लक्षण है कि वह (सत्व) प्रकाश सुख और माधव इत्यादि का कारण हो अतीन्द्रिय हो शक्ति से अतिरिक्त हो एवंविध अद्रव्य सत्व हैं।[2] इनमें रज और तम में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए कहा गया हैं। अतीन्द्रियत्व विशेषण शब्दादि को व्यावृत करने के लिए दिया गया है।[3] यह सत्व दो प्रकार का है। १. शुद्धसत्व और २. अशुद्ध सत्व। रज एवं तमोगुण से रहित द्रव्यों में विद्यमान सत्व शुद्ध सत्व है यह शुद्ध सत्व नित्यविभूति में विद्यमान हैं जो सत्वगुण रजोगुण एवं तमो गुण के साथ रहता है वह अशुद्ध सत्व है जो प्रकृति में रहता है सत्व गुण के लक्षण में सत्व वह तत्व है जो सुख एवं ज्ञान का प्रकाशत्व स्वरूप होने

---

1. "गुणाश्चानन्ताः" – न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ५५८.
2. प्रकाशसुखलाघणादिनिदानमतीन्द्रियं शक्त्यतिरिक्तगद्रव्यं सत्वम्। तद् द्विधा–शुद्धमशुद्धं चेति। रजस्तमः शून्य द्रव्यवृति सत्वं शुद्ध सत्वम्– न्यायसिद्धाञ्जम पृ० ५५६.
3. तंत्र प्रकाश सुखलाधवादिनिदानमतीन्द्रियं शक्याधतिरिक्तगद्रव्यं सत्वम्। यतीन्द्रमत दीपिका पृ० २५६

और सुख की अभिव्यक्ति में बाधक न होने के कारण जीवों में सुख एवं ज्ञान के प्रति आशक्ति का कारण बनता है।[1] लोभ एवं प्रवृति इत्यादि का कारण होना ऐसा विशेषण रजोगुण[2] का लक्षण बनाता है। प्रमाद और मोह इत्यादि का कारण होना तमोगुण[3] का लक्षण बन जाता है। सत्व गुण के लक्षण में वर्णित इतर विशेषणों को इन लक्षणों में अर्न्तभूत करना चाहिए तभी अति व्याप्ति दूर होगी। ये तीनों सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त हैं, अनित्य है परन्तु इनका सन्तान प्रवाह की तरह सदा बने रहते हैं। ये तीनों गुण प्रलय काल में अत्यन्त साम्मावस्था में पहुंच जाते है तथा सृष्टि और स्थिति काल में वैषम्यावस्था में आ जाते हैं। लोक में देखा जाता है कि एक ही स्त्रीभर्त्ता के प्रति सुख का कारण, सपली जनों के प्रति दुःख हेतु तथा दूसरे कामुक के प्रति मोह का कारण बन जाती है वहां भर्त्ता में सत्वगुण का आविभवि और इतर गुणों का अभिभव, सपली जनों में रजोगुण का आविर्भाव तथा इटर गुणों का अभिभव तथा दूसरे कामुक में तमोगुण का आविर्मवि और इतर गुणों का अभिभव सिद्ध होता है।

शब्द का निरूपण– श्रोतेन्द्रिय के द्वारा जो जाना जाता है वह शब्द है।[4] जो पांच भूतों में रहता है, क्योंकि शंखवजता है। **"भेरीवजती है समुद्र गरजता है"** इस प्रकार की प्रतीति सब को होती है। शब्द दो प्रकार के होते हे। १. वर्णनात्मक शब्द २. अवर्णात्मक शब्द **१. वर्णनात्मक शब्द वह शब्द हैं** जो, अ, क, च, ट, त, प, व, य इत्यादि प्रकार के अभावों से शून्य हो। अभावों का समुदाय अवर्णात्मक शब्दों में ही रहता है वर्णात्मक में नहीं। वर्णात्मक शब्द, देव और मनुष्य इत्यादि के तालु आदि स्थानों में अभिव्यक्त होने वाला है। इस शब्द के विषय में वाचकत्व, प्रमाणत्व, नित्यत्व, और अनित्यत्व इत्यादि का विचार किया है। यह वर्णनात्मक शब्द क्षकार को लेकर ५१ प्रकार का होता है। इनमें अ, आ, इ, ई,उ, ऊ, ऋ, लृ, लृ, ए, ऐ, ओ, औं, अं, अः, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ,ज, झ, अ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, थ, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व,

---

1. सुखानाशकत्वे प्रकाशकत्वे सुखात्मकत्वे च सति सुखासक्त्या ज्ञानशक्त्या च देहिनो देहाद्यसक्ति जनकसत्वम्–अनुभाष्य टीका पृ० १७० न्याय सिद्धाञ्जन।
2. लोभप्रवृत्यादिनिदानंरजसलक्षणम् – न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ५५६.
3. प्रमाद मोहादिनिदानमितिविशेषणविनिमयेन तमसोवक्षिणम् सिद्धाञ्जन पृ० ५५६.
4. शब्दोऽस्मदादिश्रोत्रग्राध्यः। स च क्षकारेण सहैकपञ्चाशत् प्रकारः–न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ५६२

श, ष, स, ह, क्ष, त्र, इस प्रकार ५१ प्रकार का होता है। मातृका पाठ में कहीं–कहीं ल और ळ को एक मान कर ही ५० माने गये है अतएवं वर्णनात्मक शब्द ५० प्रकार का कहा गया है। य, र, ल, इत्यादि के मिश्रण से, क्या और क इत्यादि अक्षर होते हैं वे स्वतत्र वर्ण नहीं हैं ए, ऐ, ओ, औ, ये सन्ध्यक्षर है इनके भी ह्रस्व होते हैं। संस्कृत में वे ह्रस्ववाचक नहीं है अतएवं संस्कृत के मातृकापाठ से वहिष्कृत हो गये है।

दूसरा अवर्णात्मक शब्द वह है कि जिसमें अ, क, च, ट, त, प, य, इत्यादि सभी प्रकार के अभावों का समूह विद्यमान हो।[1] क्योंकि अवर्णात्मक शब्द वाद्य, मेघ, वायु, और अव्यवों के विभाग से अभिव्यक्त होता है। शब्द आकाश मे ही रहने वाला है वह श्रोतैन्द्रिय से ग्रहीत होता है। भेरी आदि अवयवों के शब्द गुण को लेकर श्रोत के समीप आ जाना असंम्भव है अतः आकाशस्त शब्द का ही श्रोत से ग्रहण हो सकता है। वाद्य इत्यादि में विद्यमान शब्द वहां रहते समय वहां पहुंचे श्रोतेन्द्रिय से गृहीत होता है। पञ्चभूतों में विद्यमान होगे पर भी शब्द श्रोतेन्द्रिय से गृहीत होता है। यदि दूर से श्रोतेन्द्रिय के समीप तक पहुंची हुई शब्द माला श्रोतेन्द्रिय से समवाय सन्निकर्ष के द्वारा गृहीत होती है तो शब्द गत इस मान्द्यत्व हेतु से अनुमान किया जाता है कि वह शब्द दूर से आ रहा है। इत्यादि दूरस्थ एवं समीपव्त इत्यादि का पता चला सके परन्तु यह शब्द प्राची दिशा का है, यह शब्द प्रतीची दिशा का है सर्वथा असंम्भव है। प्रकृति का परिणाम विशेष चाहे वह आकाश का हो अथवा वायु परमात्मा का शरीर ही है प्रकृति का परिणाम विशेष रूप शरीर से विशिष्ट परमात्मा शब्द का उपादान कारण है उनसे शब्द उत्पन्न होता है। प्रकृति का परिणाम जो शब्द है तादृश शब्द मय है वेद। तथा **"यस्य वेदाः शरीरम्"** इत्यादि वचनों से भी शब्द का द्रव्यत्व सिद्ध होता है। दोनों ही प्रकार के शब्दों का गृहण श्रोतेन्द्रिय से होता है।[2]

---

1. अ क च ट तपयादि समस्त प्रकाराभाव समुदायवान् वर्णात्मकः। न्यायसिद्धाञ्जन ५६३.
2. एवम्भूतशशब्दः श्रोतेन्द्रियेण गृह्यते– यतीन्द्र मत दीपिका – २५,३

स्पर्श का निरूपण– त्वगिन्द्रिय से ग्राहय होने वाले जो पदार्थ हैं उनसे विजातीय जितने पदार्थ हैं उनसे भिन्न जो अद्रव्य है वह स्पर्श[1] है। यह स्पर्श तीन प्रकार का होता है। १. शीतस्पर्श २. ऊर्ष्णस्पर्श, ३. अनुष्णाशीत स्पर्श। जल में शीत स्पर्श है, तेज में ऊर्ष्ण स्पर्श, पृथ्वी और वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श। जल का सम्बन्ध होने पर पृथ्वी और वायु में शीत स्पर्श प्रतीत होता है, वास्तव में वह जल का है पृथ्वी और वायु का नहीं। यह मानना उचित है कि शीत स्पर्श जल का गुण है तथा ऊर्ष्य स्पर्श तेज का गुण है। इस प्रकार वायु और जल में ऊष्णता का अनुभव होते समय वायु के स्वामानिक अनुष्णाशीत स्पर्श एवं जल के स्वाभाविक शीत स्पर्श का जो अनुभव नहीं होता है उसका कारण जल और वायु में तेज का अनुप्रवेश ही है। त्वगिन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण होने पर ही वह तादात्म्य द्रव्य का ग्रहण कर सकती है। जिस प्रकार शीत कभी ऊष्ण नहीं होता उसी प्रकार भिन्न पदार्थ भी अभिन्न नहीं हो सकता। वायु में जिस ऊष्णता का अभाव होता है वह वायु में मिस्रित तेज का ही धर्म है। वायु एवं पृथ्वी में विद्यमान अनुष्णाशीत स्पर्श भी एक प्रकार का स्पर्श ही है जो शीत स्पर्श एवं ऊष्ण स्पर्श का अभाव मात्र नहीं है। अभाव मात्र ही तो आकाशदि में भी शीत स्पर्श एवं ऊष्ण स्पर्श का अभाव होने से अनुष्णाशीत का अनुभव होना चाहिए परन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता है। किन्तु वायु और पृथ्वी में स्पर्श श्रुत्यादि प्रमाण से सिद्ध है। प्रत्युत उससे भिन्न ही है। और भिन्न होने के कारण ही वह अनुष्णाशीत कहा जाता है। अतः अनुष्णाशीत स्पर्श को विशेष रूप में मानना ही उचित है बिना विशेष के सामान्य नहीं रह सकता जहां सामान्य रहेगा वहां कोई न कोई विशेष अवश्य रहेगा। स्पर्श पुनः दो प्रकार का होता है– १. पाकज २. अपाकज जो पाक अर्थात विजातीय तेज संयोग से उत्पन्न होता है, पृथ्वी में रहने वाला पाकज स्पर्श है पाकज विशेष के अवान्तर विशेष निम्न है– अमृत का स्पर्श, जो जीवन का हेतु हैं २. विद्युत का स्पर्श जो मरण का हेतु है। कपि कच्छूनामक ओषधि विशेष का स्पर्श जो खुजली का हेतु है तूल का स्पर्श जो मृदु है पत्थर का स्पर्श जो कठोर है गौर

1. अस्मादीयस्पर्शनेन्द्रिय ग्राहयविजातीयव्यावृताद्रव्यं स्पर्शः। सः त्रिविधः– शीतोष्णानुभयात्मकभेदात्। न्यायसिद्धाञ्जन पृ० ५८६.

का बाह्य स्पर्श जो शुद्धि का हेतु है। चाण्डाल का इत्यादि का स्पर्श जो अशुद्धि का हेतु है। पाक से मृदुस्पर्श की उत्पत्ति सर्वविदित है। मार्दव एवं काठिन्य इत्यादि स्पर्श विशेष है। दूसरा प्रकार अपाकज जो पाक से उत्पन्न नहीं होता। इतर, जल, तेज, वायु में विद्यमान, स्पर्श अपाकज है। कार्य भेद के कारण वे स्पर्श विशेष मानने योग्य है। कार्य भेद शास्त्र विरुद्ध है अतः इनके कारण स्पर्श भेद को मानना होता है।

रूप का निरूपण– चक्षुरिन्द्रिय से गृहीत होने वाले पदार्थों से भिन्न जितने पदार्थ हैं उनसे भिन्न बना हुआ जो अद्रव्य है वही रूप है।[1] चमुरिन्द्रिय से जितने रूप गृहीत होते हैं उनसे विजातीय है रसादि एवं उनसे भिन्न बने हुये सभी अद्रव्य रूप हैं। वह रूप श्वेत, रक्त, कृष्ण और पीत के आवान्तर भेद से युक्त है श्वेत इत्यादि ज्ञान और व्यवहार का विषय होना, श्वेत इत्यादि रूपों का लक्षण है अग्नि जवापुष्प दाडिम फल (अनार) बन्धु जीव पुष्प विद्रुत्र अर्थात् मूँगा और पद्मराग मणि इत्यादि रक्त के अवान्तर भेद है। सोना कचनार के पुष्प, हरिताल धातु और हरिद्रा। इत्यादि पीत के अवान्तर भेद हैं। मरकतमणि, भमारमेघ, अन्धकार एवं दूर्वा इत्यादि कृष्ण रूप के अनान्तर भेद है। रूप दो प्रकार के हैं– १. भास्कर और २. अभास्कर।

१. जो चमकदार होते हैं तेज में विद्यमान् रूप भाष्वर हैं, अतएव यह दूसरों को प्रकाशित करता है तेज में रक्त भाष्वर रूप है।

२. जो चमकदार नहीं होते, भूमि और जल में विद्यमान रुप अभाष्वर है अतएव वह दूसरे पदार्थो को प्रकाशित करने में असमर्थ रहता है। जल में अभाष्वर शुक्ल रूप है। पृथ्वी में अनेक प्रकार के अभाष्वर रूप रहतें है। यह मानना चाहिए कि इतर भूतों के संसर्ग के कारण अन्यान्य रूप भासवें हैं अतएव पृथ्वी के संसर्ग के कारण यमुना जल श्याम प्रतीत होता है। तुष्यतुन्याय से अबयवी को मानने पर की यह कहा जा सकता है कि अवयवी प्रतीति के अनुसार नाना रूपों का आश्रय होता है।

---

1. असमरीयस्पर्शेन्द्रियग्राह्यविजातीयव्यावृताद्रव्यं स्पर्शः। सः त्रिविधः– शीतोष्णानुभयान्मक भेदात्। न्याय सिद्धाजन पृ० ५८६

रस का निरूपण– एक मात्र जिहवा रो गृहीत जो पदार्थ है उससे विजातीय जितने पदार्थ हैं उनसे जो भिन्न पदार्थ है वे रस हैं।[1] यद्यपि सारे रस अस्मदादि के रसनेन्द्रिय से ग्रहीत नहीं होते हैं परन्तु अरमदादि के रसनेन्द्रिय से जो रस गृहीत होते हैं उनरो विजातीय जितने रूपादि पदार्थ है एवं अन्यायन्य सभी रस उसके भिन्न ही है। इस प्रकार सभी रसों में लक्षण का सम्बन्ध हो जाता है। ये रस ६ प्रकार के हैं– १. मधुर, २. अल्म, ३. लवण ४. तिथ्ज ५. ऊष्ण ६. कषाय। इन सबका लक्षण उसी प्रकार होता है। जिस प्रकार रूप के अवान्तर भेदों का। ईख, दूध गुण में मधुर रस के अवान्तर भेद है, आम, इमली, आमलक में अम्ल रस के अवान्तर भेद है। सैन्धव, लवण और समुद्र जल के विकार लवण रस के अवान्तर भेद है। किंपाक अर्थात् विषवृख और निम्ब इत्यादि का रस तिक्त रस का अवान्तर भेद है। शुष्ठी मरीन्पिये, ऊष्ण रस के अवान्तर भेद है। हरीतकी विभीतिका और आम्रके अंकुर इत्यादि में जो रस है वे कषाय रस के अवानतर भेद हैं– ऊष्णरस इत्यादि तिक्तरस के अवान्तर भेद ही हैं। इस विशद् विवरण आयुर्वेद से समझना चाहिए।

गन्ध का निरूपण– धाणेन्द्रिय से ग्राह्य जो गन्ध है उससे विजातीय जितने पदार्थ है एवं उनसे भिन्न जो वस्तु है वह गन्ध है।[2] यह गन्ध भी दो प्रकार का है। १. सुरभि गन्ध २. असुरभिगन्ध **"यह सुगन्ध है"** इस प्रकार की प्रतीति एवं व्यवहार का जो विषय होता है वह सुगन्ध है। **"यह दुगर्न्ध है"** इस प्रकार की प्रतीति एवं व्यवहार का जो विषय होता है वह दुर्गन्व हैं। चन्दन, करतूरी कुंकुम ओर चम्पकपुष्ण इत्यादि के गन्ध सुरभिगन्ध के अवान्तर भेद है। दुर्गन्ध और विस्रगन्ध इत्यादि असुरभि गन्ध के अवान्तर भेद ही है। यह गन्ध एक मात्र पृथ्वी में रहता है। जिस प्रकार लोहे में अग्नि का संसर्ग होने के कारण **"लोहा जलता है"** ऐसी प्रतीति होती है उसी प्रकार जल एवं वायु इरयादि में चम्बक पुष्प ओर पाटल पुष्प इत्यादि के संरार्ग में जल सुगन्ध वाला है

---

1. अरमदादिजिहवैकग्राह्यविसजातीयेतरो रसः। स षोढाः मधुराम्ल लवण तिक्तोष्णकषाय भेदात्– न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ५६४.
2. अरमदादिघ्राण ग्राह्यविसजातीययेतरो गन्धः। सच द्विविधः सुरभिरसुरभिश्चेति। सिद्धाञ्जन पृ० ५६४.

वायु सुगन्धित है, ऐसी प्रतीति होती है क्योंकि उनका संसर्ग होने पर ही वैसी प्रतीति होती है अन्यथा नहीं। ऐसा उनमें अवयव साह्चर्य एवं व्यतिरके साहचर्य है शास्त्र प्रमाण के अनुसार सृष्ट्यारम्भ में पञ्चीकरण प्रक्रिया से एक भूत में दूसरे भूत का संसर्ग प्रमाणित होता है। पाञ्लपुष्प इत्यादि का संसर्ग इस रामय होता है जो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हैं। जिन पदार्थो का ग्रह्य केवल हमारी घ्राणेन्द्रियों द्वारा होता है, उन पदार्थो से विजातीय जो पदार्थ है, उनके भिन्न जो अद्रव्य, है वे सभी गन्ध है।[1]

संयोग का निरूपण– ये दोनों पदार्थ संयुक्त हैं इस प्रकार की प्रतीति का जो निमित्त हैं वह संयोग हैं।[2] कुछ के अनुसार संयुक्त होने वाले पदार्थो का स्वरूप ही संयोग है अथवा संयुक्त होने वाले पदार्थो में जो नैरन्तर्य अन्तराल शून्यत्व है यह नैरन्तर्य ही संयोग है। पदार्थो में काल विशेष में होने वाला कोई आगन्तुक कार्य ही संयोग है या पदार्थो का नैरन्तर्य मात्र ही संयोग है। अन्तराल भाव रूप नैरन्तर्य भी एक भाव पदार्थ ही है वह भाव पदार्थ संयोग ही है इस प्रकार संयोग की सिद्ध होती है जैसे **"घट पर से निरन्तर है"** इस प्रतीति में जो नैरन्तर्य प्रतीत होता है उसका स्वरूप संयोग ही है। अपने अभाव के साथ एक देश में रहना यह संयोग का स्वभाव हैं। जिस वृक्ष में वानर का संयोग है उसी वृक्ष में वानर के संयोग का अभाव भी रहता है। विभिन्न प्रदेश रूपी अंशों को लेकर संयोग एक उसका अभाव हित भी विधि हो सकता है। रह सकता है। इसमें को विरोध नहीं क्योंकि एक प्रदेश में ही यदि संयोग एवं उसका अभाव रहे तभी कोई विरोध हो सकता हैं। जो निरवयव पदार्थ से यह अपने संयोग रखने वाले पदार्थ है पूर्व रूप से सयुंक्त होता है वह संयोग सम्पूर्ण निरवयव पदार्थ में रहता है। यह संयोग २ प्रकार का है।[3] १. कार्य और २. अकार्य।

---

1. अरमदादि घ्राणग्राह्य विजातीयेतरो गन्धः यतीन्द्रमत दीपिका – पृ० २६२.
2. सयुक्त प्रत्ययनिमिंत सयोगः। – न्यायसिद्धाञ्जन पृ० ६०१
3. स चायं संयोगोद्विधा–(कार्योऽकार्यश्चेति) न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ६०१.

१. परिमित मूर्त पदार्थो का संयोग कार्य है क्योंकि वह उत्पन्न होता है, तथा परिभित भूर्त पदार्थ एवं अपरिमित विभु पदार्थ में रहने वाला संयोग भी कार्य ही है, यह कार्य रूप संयोग दोनों पदार्थो में होनी वाली क्रिया से उन पदार्थो में उत्पन्न होता है।[1] उदा० भेड़ों के युद्ध में दोनों भेड़ों में होने वाली क्रियाएं संयोग उत्पन्न करती है। कहीं–कहीं एक पदार्थ में होने वाली क्रिया से भी संयोग उत्पन्न होता है जैसे जब श्येन पक्षी उड़कर वृक्ष में बैठता है तब दूसरे श्येम पक्षी में होने वाली क्रिया से श्येन की वृक्ष में संयोग होता है।

२. **अकार्य–** यह संयोग उन द्रव्यों में होता है जो निश्चल होते हुए अन्तराल रहित हो कर रहते हैं काल और ईश्वर इत्यादि विभुद्रव्य निश्चल हैं।[2] उनमें क्रिया नहीं होती वे सभी मूर्त द्रव्यों से संयुक्त रहते हैं। दोनों विभुद्रव्यों के मध्य में ऐसा कोई द्रव्य नहीं हैं जो उनसे असयुंक्त हो अतएव वे अन्तराल शून्य है। शून्य वही पदार्थ होते है जो उनसे असंयुक्त रहता है अतः सिद्ध होता है कि दोनों विभु द्रव्य सयुंक्त है। इन विभु द्रव्यों में क्रिया के न होने से उनमें होने वाला संयोग कार्य नहीं हो सकता पर अकार्य है। गुणआदिका गुणी आदि के साथ नैरन्तर्य होता है क्योंकि गुण आदि गुणी के साथ निरन्तर रहते है। ऐसी प्रतीति होती ही नहीं।

शक्ति का निरूपण– शक्ति वह अद्रव्य विशेष है जो सभी कारणों के कारणत्व का निर्वाहक होती है।[3] कार्योत्पादन में शक्त होने से पदार्थ बनता है। तर्क यह है कि दाहक अग्नि का स्वरूप एवं सहकारीकारणों में न्यूनता न होने पर भी प्रतिबंधक मणि और मंत्र इत्यादि उपस्थित होने पर जिसके घट जाने के कारण अथवा जिसका अवरोध होने से अग्नि नहीं जलती यह शक्ति है क्योंकि अग्नि में विद्यमान दाहानुकूल

---

1 कार्य संयोग परिमिता नामभयप्रेरणात् यथा मेषयोर्मल्लयोर्वा – यतीन्द्रमत दीपिका–प१० २७४

2. अकार्य संयोगस्तु विभुद्रव्यों:– यतीन्द्रमत दीपिका पृ० २७५,

3. सर्वकारणानां कारणत्व निर्वाहकः कश्चिद्द्रव्यविशेषः शक्तिः न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ६१२

शक्ति प्रतिबन्धक मण्यादि से उपरुद्ध हो जाती है। अथस्कान्त और दुन्दुभि शब्द इत्यादि में शक्ति सर्वाविदि है क्योंकि अयस्कान्त लोहे का आकर्षण करता है। दुन्दुभि का शब्द तत्क्षण बहुत दूर तक पहुंच जाता है अतः इनमें शक्ति स्पष्ट विदित है। प्रतिबन्धक से उस शक्ति में वैसा धर्म उत्पन्न होता है जो दाह को रोकने में सहायक होता है। प्रतिबन्धक का प्रतिबन्धक उत्तेजक कहलाता है। शक्ति को पदार्थ मानने वाले यह मानते हैं कि उत्तेजकाभावविशिष्ट प्रतिबन्धक के अभाव से विशिष्ट वहनि ही दाहशक्ति का कारण है उत्तेजक नहीं। अतः शक्ति का कारण भी नियति ही है अनियत नहीं। प्रतिबन्धक से शक्ति का नाश होने पर भी उत्तेजक के आने पर प्रतिबन्धक उत्तेजक भाव विशिष्ट होता है उत्तेजकाभावविशिष्ट नहीं। वहां उत्तेकाभाव विशिष्ट प्रतिबन्धक का अभाव है तथा उत्तेजका भाव विशिष्ट प्रतिबन्धका भाव से विशिष्ट वहां उससे पुनः शक्ति उत्पन्न होती है। शक्ति भले ही दूसरी शक्ति का आश्रय न हो उससे कोई दोष नहीं है क्योंकि कारणों में जो कार्य के प्रति अनुगुणता देखने में आती है वही कारण है वही शक्ति है। कारणः के लिए दूसरे कारणे की अपेक्षा नहीं होती अतएव शक्ति भी कार्य करने में दूसरे शक्ति की अपेक्षा न करे यही युक्त है। जिस प्रकार अग्नि में ऊष्णता प्रसिद्ध है उसी प्रकार परम द्रव्य की शक्तियां भी प्रमाण सिद्ध है। अहिर्वुध्न्य संहिता में कहा गया है कि सभी पदार्थो में शक्तियां निहित है वे अचिन्त्व है एवं अपृथक सिद्ध है, इस प्रकार सर्वत्र शक्ति को समझना चाहिए।[1]

"एकैव तु परा शक्ति"[2]– ज्ञानानन्द क्रियामयी वह शक्ति है। यह शक्ति तत्व निर्विकार है क्योंकि उससे सम्बन्ध रखने बाले पदार्थो में भी विकार हुआ करता है। पराशक्ति व्यापक है तथा सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है यह शक्ति सर्वकारोल्लासिनी है अर्थात् अचिद्विशिष्ट रूप से सर्व विध परिमाणों का भी आशय है। यह शक्ति अचित् विशिष्ट रूप से निरवयव है। आत्मसिद्धि में यामुन मुनि ने बताया कि सभी द्रव्यों में शक्ति नामक एक साधारण गुण है जो कार्य के विषय में भी हुआ करता है तथा कार्य के द्वारा ही जाना जाता है भाव यह है कि शक्ति अद्रव्यों में नहीं हैं।[3]

---

1. "शक्तयः सर्वभावानामृचिन्त्या अपृथक् स्थिताः" – अहिर्बुध्न्यसंहिता।
2. "एकैव तु [illegible]मयी" – न्याय सिद्धाञ्जन का पृ० ६१३.
3. सर्व द्रव्येषु तत्कार्यसमधिगम्यस्तत्प्रतियोगी शक्त्याख्योगुणः साधारणः – आत्मसिद्धि के पृ० २०३.

वेदार्थ संग्रह में श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि ब्रह्म विचित्र शक्तियों से युक्त है तथा श्रीकृष्ण का यह महान आश्चर्य युक्त जगत जिस महात्मा का अर्थात् आपका शरीर है आश्चर्यो में श्रेष्ठ उस आप से मैं मिल गया हूँ अतः यहां शक्ति पदार्थ के रूप में महाश्चर्य जगदूपी शरीर का वर्णन किया गया है।[1] विचित्र जगत के सृष्टि कर्त्ता होने पर ब्रह्म विचित्र शक्तियों से युक्त है। अतः शक्ति नामक धर्म विशेष है।

गुरुत्व का निरूपण— स्वतः गिरने का हेतु जो स्वभाव है वह गुरुत्व है।[2] जो जल और पृथ्वी में रहता है क्योंकि ये दोनों ही पतन शील हैं। पतन क्रिया का असाधारण कारण कुछ होना चाहिए वह गुरूत्व है। जो अनुमान से ज्ञात होता है। गुरुत्व को प्रत्यक्ष करने में तोलना सहकारिकारण है नयाय तत्व के प्रमेयपाद सप्तम् अधिकारण में यह कहा गया है कि नीचे गिरने वाली वस्तुओं का जो स्वभाव है वह गुरुत्व है[3] इस गुरुत्व का अभाव लाधुत्व है। गुरुत्न तीन प्रकार के है। १. ऊर्ध्व गुरुत्व २. तिर्यग्गुरुत्व ३. अधोगुरुत्व। वायु में तिर्यग्गुरुत्व अतएव वायु का तिर्यग्गमन होता है, अग्नि का ऊर्ध्व गुरुत्व होता है अतएव अग्नि का ऊर्ध्व जलन होता है। जल और पृथ्वी में अधोगुरुत्व होता है जिससे उसका नीचेपतन होता है। शक्ति को न मानने वाले के अनुसार पदार्थो का विलक्षण स्वरूप ही गुरुत्व हैं तथा शक्ति को मानने वाले के अनुसार शक्ति विशेष ही गुरुत्व है ये सब सत्त्व गुण के कार्य है।

द्रवत्व का निरूपण— जो पदार्थ द्रवत्व प्रतीति का विषय होता हैं, वह द्रवत्व है।[4] जल जो बहता है, उसका कारण ही द्रवत्व है। द्रवत्त्व होने से ही जल बहता है। यह द्रवत्त्व केवल जल में रहने वाला धर्म नहीं है पृथ्वी और तेज में भी रहता है। यह द्रवत्व दो प्रकार का है। १. स्वाभाविक और २. पाकज। जल में स्वभाविक द्रवत्व रहता है। पृथ्वी और तेज में पाक से उत्पन्न द्रवत्व रहता है। सुवर्ण आदि में स्थित वह द्रवत्व

---

1. अतो विचित्रानन्तशक्तियुक्तं ब्रह्मेत्यर्थ, इत्युक्त्वा तदाह--जगदेतन्महाश्चर्यं रूपं यस्य महात्मनः। तेनाश्चर्यपरेणांह भवता कृष्ण सङ्गतः। इत्युदाहृतम्। तत्र च शक्तिशब्दार्थतया जगदेतन्महाश्चर्म रूपं यस्य।। — वेदार्थ संग्रह।
2. स्वतः पतन हेतु स्वभावोगुरुतम्। तच्च सलिलंपृथिवीगतम्। न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ६२१
3. अधः'पतनस्वभावात्म गुरुत्वम् तद्भावो लधुत्वम् — न्याय तत्व, प्रमेयपाद सप्तम् अधिकरण।
4. "द्रवत्वप्रत्ययविषयों द्रवत्तम्" न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ६२४.

दिखाई देता है। जो सुवर्ण के जल में विद्यमान रहता है, क्योंकि उसके पदार्थ पञ्चभूतों से बने है अतः किसी समय में उन भूतों का अविर्भाव हो जाता हैं। भाष्यकार के अनुसार मृगजल वृतान्त में इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है कि तैजस मृग मरीचिका में भी जलांश विद्यमान है। वही दूर से देखने वाले को प्रतीत होता है क्योंकि वह पञ्चभूत से निर्मित है।[1] अवयवों में गाढ़ संयोग न हो किन्तु निरल संयोग हो उस विरल संयोग से होने वाला जो स्पर्श है वह मृदुस्पर्श है। अवयवों में निर्विरल संयोग हो उससे होने वाला जो संयोग है वह कठिन स्पर्श है जलत्व एक जाति विशेष है। द्रवत्व अवयवों का संयोग विशेष है जिसमें सायुज्यमान अवयवों में एक अवयव ऊँचा और दूसरा नीचा ऐसा नहीं होता है।

स्नेह का निरूपण– जो पदार्थ स्नेह प्रतीति का विषयहो वह स्नेह है।[2] जो एक मात्र जल में रहता है। जल संसर्ग के कारण धृत आदि में अनुभूत होता है तथा स्नेह केवल द्रवत्व मात्र हो ऐसी बात नहीं क्योंकि सुवर्ण इत्यादि का द्रव धूलों को इकट्ठा नहीं करता है। केवल जल में रहने वाला तथा धूलों को ग्रहण करने वाला स्नेह नामक गुण है जो प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध है।[3] जिस स्पर्श में संयोग होने पर उन वस्तुओं को अनायास छुड़ाया नहीं जा सकता वह स्पर्श पिच्छिल कहलाता है। उदा० जैसे गोद वाले पनश का फल के साथ हाथ का संयोग होने पर हाथ पनश फल से छुड़ाया नहीं जा सकता। जिस स्पर्श से संयोग होने पर वे संयुक्त पदार्थ अनायाश छुडाये जा सकते हैं वे स्पष्ट विशिष्ट पदार्थ कहे जाते है यदि संग्रह के कारण स्नेह की सिद्धि हो तो उस स्नेह को "पनश" कटहर के गोद इत्यादि में मानना चाहिए जो चेतनों में स्नेह गुण हुआ करता हैं वह प्रीति अथवा अपनाने की इच्छा है।

---

1. विरलसंयोग प्रयुक्तस्पर्शोमृदुः, निर्विरलसंयोग प्रयुक्तस्पर्शः कठिनः इति। न्याय तत्व प्रमेय पाद।
2. स्नेह प्रत्ययविषयः स्नेहः। स जलैकवृत्तिः। धृतादिषु संसर्गात् दृश्यते। न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ६२६.
3. "दुष्करवियोगस्वभाव संयोग स्पर्शत्व पिच्छिलत्वम्। सुकरवियोगस्वभावसंयोग स्पर्शत्वं विश्लिष्टत्वम्" —न्यायतत्व प्रमेयपाद, सप्तमधिकरण।

वासना या संस्कार निरुपण– जो अनुभव से उत्पन्न हो तथा स्मृतिका उत्पादक हो, वह वासना है।[1] स्मृति के बल से वासना की कल्पना की जाती है। यदि वासना न होती तो स्मृति उत्पन्न नहीं हो सकती। कार्य स्मृति को देखकर वासना का अनुमान किया जाता है। संस्कार दो प्रकार के हैं। १. ज्ञानसंस्कार २. कर्मसंस्कार। जिस प्रकार ज्ञान भावनाख्य् संस्कार से उत्पन्न होता है जिससे स्मृति होती है उसी प्रकार पूर्व–२ कर्म से एक वासनाख्य संस्कार उत्पन्न होता है जिससे मनुष्य वैसे ही कर्म करता हैं। श्री भाष्यकार के अनुसार पाप के अश्लेश करने का भाव यही है कि पाप कर्मो से होने वाली वह शक्ति जिससे वैदिक कर्मो में अयोग्यता, वासना और प्रत्यवाय, होते है उस शक्ति के उत्पत्ति को रोकदेना ही पाप का अश्लेष करना है।[2] वासना रूचि ओर श्रद्धा आत्मा के धर्म है ये सत्व रजतम के संस्कार से उत्पन्न होते है। आत्मधर्म भूत इन वासना इत्यादि के कारण वे सत्व इत्यादि गुण है जो देह इन्द्रिय अन्तः करण के धर्म है। ये कार्यो के द्वारा ही जाने जाते है। आत्मसिद्धि ने यामुनमुनि ने यह कहा कि जीव के साथ लगे हुये सभी इन्द्रिय शरीर, ज्ञानवासना और कर्मवासना इत्यादि सब नष्ट हो जाते है तब जीव मुक्त होता है।[3] भगवान की प्रीति और एवं अप्रीति को वासना मान कर निर्वाह करना चाहिए।

संख्या निरुपण– एक दो–तीन इत्यादि ज्ञान और व्यवहार का जो विषय है वह संख्या है।[4] संख्या केवल द्रव्यों में रहती है ऐसा मानने वाले वैशेषिक यह कहते है कि नित्य द्रव्य में रहने वाला एकत्व नित्य है अनित्य अवयवी द्रव्य में रहने वाला एकत्वअनित्य है क्योंकि वह अवयवों में विद्यमान एकत्वों से उत्पन्न होता है। जिस पुरुष की अपेक्षा बुद्धि से जो दित्वादि उत्पन्न होते हैं वे उसी पुरुष को दिखाई देंगे दूसरो को नहीं। बुद्धि विशेष ही दित्वादि रूप है। अपेक्षाबुद्धि विशेष से ही व्यवहार की उत्पत्ति एवं

---

1. अनुभवजास्मृतिहेतुर्वासना– न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ६३१.
2. अघस्याश्लेषकरणं वैदिक कर्मायोग्यतावासनाप्रत्यवायहेतुशक्त्युत्पत्तेः प्रतिबन्धकरणम्! एतदुभयकार्यकारणभूत–नादिविपरीतवासनासम्बन्धोऽपि। – श्री भाष्य।
3. "निर्धूतनिखिलकरणकलेवरज्ञानकर्मवासनानुबन्धस्यावृतस्थ न खलु स्वपर संवेदनोदयनिमित्तंकिञ्चित् सम्भाव्यते"। – आत्मासिद्धि।
4. एकद्वित्र्यादिप्रतिपत्तिविषयः संख्या। (न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ६४२)।

व्यवहार नियम दोनों ही सम्पन्न हो जाते हैं। प्रमाण वही शक्ति बनकर ही संख्या को उत्पन्न करते है दित्वादि संख्या बुद्धि विशेष विषय स्वरूप है उससे भिन्न नहीं। भेद एवं अभेद वस्तुओं में नहीं रह सकते क्योंकि उनमें विरोध है। संहति अर्थात् इकट्ठा होना तथा विभाग अथार्थ अलग होना इनकी एकत्व प्रीति और अनेकतत्व प्रतीति सिद्ध होती है तदर्थ एकत्वावस्था और अनेकत्वावस्था को मानना आवश्यक नहीं हैं। द्रव्य और गुण इत्यादि और जो सामान से संख्या का व्यवहार एवं संख्या का ज्ञान होता है उसमें रहने वाला संख्यानुभव संख्या विशेष प्रयुक्त है। गुणादि में जो सख्यानुभव होता हैं, वह स्वरूपविशेष प्रयुक्त है यह भी सिद्ध होता है कि बुद्धि विशेष विषयत्व संख्या स्वरूप विशेष से अतिरक्ति नहीं है। पदार्थ ईश्वर और नित्य मुक्तों की अपेक्षा बुद्धि का विषय है तथा बुद्धि विशेष विषयत्व रूपी दित्व से लेकर परार्ध पर्यन्त की संख्या उसमें नहीं है। संख्या रूपी व्यावर्तक धर्म ही एकत्व है वह उस अभिप्राय से कोई अतिरिक्त तत्व है नहीं कहा गया है।[1] किन्तु निर्विशेष वस्तु आदि के प्रति यह कहने में कि निविशेष वस्तु में भी एकत्व रूपी विशेष मानना पड़ेगा तब वह धर्म सविशेष ही बन जायेगा।

परिमाण का निरूपण– यह वस्तु परिमित है इस प्रकार की प्रतीति का जो विषय होता है वह परिमाण है।[2] परिमाण चार प्रकार का होता है। १. अुण २. महत् ३. दीर्घ ४. ह्रस्व। इन सबका स्वरूप प्रतिभोगी से निरुपित अवश्य होता है क्योंकि ऐसी ही प्रतीति हुआ करती है कि वह पदार्थ इस वस्तु से अणु है यह वस्तु इस पदार्थ से महत् है यह पदार्थ से दीर्घ तथा उस पदार्थ से ह्रस्व है। यहां पञ्चम्यन्त पद प्रतिपाद अर्थप्रतियोगी होता है। श्रीराम मिश्र के अनुसार वस्तु जो परिणाम है। वही उस वस्तु का परिच्छेद है। देशपरिच्छेद, वस्तुपरिच्छेद फलासिद्ध होता है क्योंकि विभु द्रव्य अपरिच्छिन्न अर्थात् अपरिमित होते है। उनमें जो अपरिच्छेद है वह परिमाण भाव स्वरूप है।[3] जो कोई गुण है इससे विभु द्रव्यों में परिमाण भाव फलित होता है। यामुनमुनि ने आगम प्रामाण्य

---

1. "एकत्वमेक संख्यावच्छेद:"। श्रीभाष्य
2. परिमाणप्रत्यय्विषय:परिमाणम् तच्चतुर्धा अणुमहद्दीर्घ ह्रस्व भेदात् – सिद्धाञ्जन पृ० ६५१.
3. वस्तु परिच्छेदोवस्तुनः परिमाणम् देशपरिच्छेदस्तु तत्कार्य इत्युक्त्वा "अपरिच्छेदस्तु न गुणः"। वेदार्थसंग्रह के अनन्तपाद से।

के पूर्व पक्ष में कहा कि यह जो आकाशस्थ परिमाण दृष्टान्त रूप से दिखाया गया है वह भी विचारणीय ही है कि देश में होने वाला काल अवच्छेद ही परिमाण है। यह वस्तु इतनी है ऐसा होना परिमाण है चारो तरफ पदार्थों से घिरे रहना परिमाण कहलाता है।[1] जन्माद्यधिकरण के विवरण में यह कहा गया है कि वस्तुपरिच्छेद ही वस्तुपरिमाण है वस्तुपरिच्छिन्न होने से ही वस्तु देश परिच्छिन होती है। देश व्याप्ति विशेष परिमाण है। परिमाण अतिरिक्त गुण नहीं होता। एक वस्तु में प्राच्य और प्रतीच्य दिगन्ताशों का जैसा दूरत्व और सामीप्य है यदि वैसे ही दक्षिण और उत्तर दिगन्तांसो का दूरत्व और समीपता हो तथा आग्नेय और वायव्य कोणों का जैसा दूरत्व और सामीप्य है यदि ऐसा ही दूरत्व और सामीप्य नेत्रृत एवं ऐशान दिगन्तांसों का भी हो तो वहां चतुरश्रत्व माना जाता है। क्रोश और गव्यूति इत्यादि जो देश परिमाण है मास और संवत्सर इत्यादि जो काल परिमाण है बीस और तीस में जो संख्या परिमाण है। पुरुष और ह्रस्व इत्यादि में जो ऊर्ध्वमान है। इनका स्वरूप विशेष ही परिमाण है। ये तीन प्रकार के होते है। १. आयान् २. विस्तार ३. घन। यह परिमाण प्राची, प्रतीची, दक्षिण, उत्तर, ऊपर, नीचे, ऐसे दिग्द्वन्द्वो में पर्यवसित रहता है। तीनों दिग्द्वन्द्वों में जहां आधिक्य हो वह आयाम है जहां मध्यरूप हो वह विस्तार है तथा जहां न्यूनता हो वह घन परिमाण है इन तीनों के शंकर तारतम्यों के अनुसार नाना प्रकार का व्यवहार होता है। कहीं–२ औपाधिक परिमाण का भी व्यवहार होता है।

पृथकत्व निरुपण– यह पृथकत्व भी भेद ही है[2] एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से भिन्न है इस भेद को लेकर ही पृथकत्व की प्रतीति होती है। यह इससे भिन्न है, यह इससे पृथक् है ऐसे कथन का भाव एक ही है। भेद जितने पदार्थो में रहता हैं उतने पदार्थो में पृथकत्व भी रहता है ऐसे कथन का भाव एक ही है। भेद जितने पदार्थो में रहता है उतने पदार्थो में पृथकत्व भी रहता है अद्रव्यों में भेद भी रहता है और पृथकत्व

---

1. यद्यपि वियतिपरिमाणमिह निदर्शितम्, तदपि विमर्शनीयमेव, परिमाण हि नाम देशावच्छेदः इयत्ता परितो भावनेष्टनमिति यावत्। न च नभसि तदस्तीति कथमिव तदिह निदर्शनतयानिर्दिश्यते।। **यामुन मुनि प्रणीत– आगम् प्रामाण्य।**
2. पृथकत्वं पृथग्व्यवहारकारण पृथग् गुण. इति। न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ६५७.

भी रहता है। अद्रव्यों में रहने वाला यह पृथकत्व गुण नहीं बन सकता क्योंकि वैशेषिकों के अनुसार अद्रव्यों में गुण नहीं रहता। प्रतियोगि रूप में द्रव्यों के समान अद्रव्यों में भी पृथकत्व की प्रतीति का व्यवहार होता है। ऐसी स्थिति में अद्रव्यों में होने वाला पृथकत्व प्रतीत को भ्रममानना उचित नहीं है जैसे नील पीतादिरूप भेद ही अन्योन्याभाव हैं, जो भेद से भिन्न नहीं है। अन्योन्याभाव और भेद एक ही पदार्थ है इनसे भिन्न पृथकत्व गुण का साधक कोई प्रमाण नहीं है। अतः इन्हें पृथकत्व मानना चाहिए। अन्योन्याभाव किसी भी अवधि की अर्थात् पञ्चम्यन्त् पदप्रतिपाद्य अर्थ की अपेक्षा नहीं रखता परन्तु भेद और पृथकत्व अवधि की अपेक्षा रखता है क्योंकि **"यह उससे भिन्न है" यह उससे पृथक है"** इस प्रकार पञ्चम्यन्तपद प्रतिपाद्य अवधि को लेकर ही भेद एवं पृथकत्व की प्रतीति होती है। अन्योन्याभाव पृथकत्व भेद एक ही पदार्थ हैं अन्योन्याभाव वाला धर्मी है और अन्योन्याभाव धर्म है। "अन्यारादितर" इत्यादि प्राणिनी सूत्र का भाव यह है कि अन्य शब्दों के समान जो शब्द अन्योन्याभाव वाले धर्मी के वाचक है उन शब्दें के योग में पंच्चमी होती है।[1] हम यह स्पष्ट अनुभव करते है कि नीलरूप और श्वेत रूप ऐसे दो विरुद्ध धर्म अपने आश्रय नील पदार्थ और श्वेत पदार्थ को भिन्न कर देते है। अतः भिन्न शब्द और पृथक् शब्द पर्याय हैं। अतिरेक और व्यतिरेक भेद से दो प्रकार के है।[2] दूसरे धर्म में रहने वाला धर्म अतिरेक अर्थात् साधारण धर्म है। धर्म और धर्मि इत्यादि का स्वरूप व्यतिरेक हैं जो कहा गया है कि पूर्ण रूप से संयोग ऐक्यं ही उस संयोग का अभाव भेद है।

विभाग का निरूपण– संयोग से विरोध रखने वाला गुण विभाग हैं।[3] विभाग शब्द का मुख्य अर्थ संयोग ध्वंश है। भेरू और विन्ध्य में संयोग का ध्वंश हुआ ही नहीं अतः वैसी प्रतीति नहीं होती। कहीं–२ लक्षण से संयोगात्यन्ताभाव भी विभाग शब्दार्थ

---

1. पृथकत्वारण्यगुण वाचकान्य शब्दपर्याय सम्बन्धे पञ्चमी पाणिनेर्विक्षितेति चेत् कथम्? अन्योन्याभाव पर्यायविवक्षायां घटात् पटो न भवतीत्यपि प्रयोगप्रसङ्गादितिचेन्न:, धर्मिपर्यन्तेत्यितिविशेषात्। न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ६५६
2. आतिरेकव्यतिरेक भेदेन द्विविधोभेदः इति अत्र अतिरेको धर्मान्तरेधारान् धर्म. व्यतिरेको धर्म धर्म्यादि स्वारूपम् यतु तस्मिन्नेवाधिकरणे। ऐक्यं साकल्येन तदभावो भेदः इत्युक्तम्। न्याय तत्त्व प्रमेयपाद सप्तम् अधिकरण।
3. "सयोग विरोधीगुणों विभागः इति" न्याय सिद्धाञ्जन का पृ० ६६१.

माना जाता है। संयोग ध्वंन्स ही विभाग है वह स्थिर है। संयोग उसका प्रतियोगी है यदि प्रतियोगी संयोग का स्मरण बना रहता है तो **"ये पदार्थ विभक्त हैं"** ऐसी प्रतीति अवश्य होती है यह प्रतीति तब तक ही रहेगी जब तक कि पुनः संयोग न हो। वास्तव में संयोग ध्वन्स गुणभिन्न होने पर भी दोनों द्रव्यों में अवश्य रहता है क्योंकि संयोग ध्वंस का प्रतियोगी जो संयोग है वह दोनों द्रव्यों में रहता है अतएव संयोग ध्वन्स भी दोनों द्रव्यों में रहता है क्यों कि जो प्रतियोगी का आधार है वह अभाव का भी आधार माना जाता है जो द्रव्य संयोग का आधार है। ये दोनों ही द्रव्य कालान्तर में संयोग ध्वन्स के भी आधार बनते हैं अतः संयोग ध्वंस गुण भिन्न होने पर भी दोनों द्रव्यों में रहता है। पूर्व देश संयोग ध्वंश उत्तर देश संयोग रूप ही हैं यह उत्तर देश संयोग भी एक भाव पदार्थ भी है उससे अतिरिक्त पदार्थ विभाग के रूप में नहीं है। **"यह पदार्थ वियुक्त हुआ" "यह पदार्थ विघटित हुआ" यह पदार्थ विश्लिष्ट हुआ "यह पदार्थ संयोग विनष्ट हुआ" अतएव "यह पदार्थ विनष्ट संयोग वाला है "यह पदार्थ विभक्त हुआ" यह पदार्थ विप्रकृष्ट हो गया" यह पदार्थ देशान्तर पहुंच गया"** इन शब्दों से एक प्रकार की प्रतीति ही उत्पन्न होती है अतः सिद्ध होता है कि विभाग संयोगाभाव के अतिरिक्त नहीं है। दूरदेश संयोग ही दूरत्व कहा गया है यही विभाग है, अतिरिक्त कोई विभाग नहीं है।

परत्वापरत्व का निरूपण– दिक्काल का सम्बन्ध विशेष ही परत्व और अपरत्व है।[1] जड़ द्रव्य परिच्छेद में यह सिद्ध कर दिया गया है कि दिशा और काल प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले पदार्थ हैं। दिक्काल सम्बन्ध स्वयं परत्व एवं अपरत्व बनकर पर और अपर व्यवहार के विषय बनते हैं। इस प्रकार दिक् काल सम्बन्ध को लेकर परापर व्यवहार का निर्वाह होने पर भी यदि केवल परापर प्रतीति के बल पर ही परत्वापरत्व नामक गुणान्तरों की कल्पना की जाय तो अतिप्रसंग उपस्थित होगा क्योंकि जातियों के विषय में यह प्रतीति होती है कि द्रव्यत्व जाति परजाति है तथा पृथ्वीत्व जाति अपर जाति है। परिमाण के विषय में यह प्रतीति होती है कि यह परिमाण पर अर्थात् परिमाण

---

1. दिक्काल पेक्षयापरापर धी हेतु गुणौं परत्वापरत्वे इति। न्यायसिद्धाञ्जन पृ० ६६५.

है तथा अपर परिमाण छोटा परिमाण है जाति अधिक व्यक्तियों में रहे यही जाति का परत्व है, जाति अल्प व्यक्तियो में रहे यही अपरत्व है अधिक कार्यो को सम्पन्न करना ही शक्ति का परत्व है तथा अल्प कार्यो को समान्न करना ही शक्ति का अपरत्व है। द्रव्य में भी अतिरिक्त परत्यापरत्व गुणों को मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि द्रव्य का अधिक काल सम्बन्ध ही दिक्काल परत्व है द्रव्य का अल्प दिक्कृत अपरत्व है। प्रकृति में यह सिद्ध होता है कि ज्ञान व्यावृत रूप में विदित उपर्युक्त भूयस्त्व एवं अल्पीयस्त्व से उत्पन्न परत्व एवं अपरत्व का कारण होगा।

कर्म निरुपण— जो चलन प्रतीति का विषय हो वह कर्म हैं।[1] वह कर्म प्रत्यक्ष है क्योंकि **"हाथ चलता है"** इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव सबको होता। जहां एक पर्वत एक मेध विभक्त होता है, वाद में दूसरे मेध से सयुक्त होता है, वहां उस पर्वत में पूर्व देश विभाग पूर्वक उत्तर देश संयोग विद्यमान है। इस संयोग से उस पर्वत में कर्म का अनुमान क्यों न किया जाय, अवश्य किया जा सकता है। प्रथम क्षण में संयोग रूपी कर्म उत्पनन होता है द्वितीय क्षण में वह संयोग स्वरूप विदित होता है, तृतीय क्षण में उस संयोग के विषय में यह ज्ञान होता है कि यह संयोग कर्म का व्याप्य है चतुर्थ क्षण में कर्म का अनुमान होता है, कर्म से उत्पन्न होने के बाद तीन क्षणों के बाद ही कर्म को अनुमान से समझा जा सकता है। इन्द्रिय सन्निकर्ष से ही अनन्तर क्षण में उसी प्रकार कर्म के विषय में वर्तमान प्रतीति होती है जिस प्रकार अन्यान्य पदार्थो में इन्द्रिय सन्निकर्श के अनन्तर क्षण में इन पदार्थो के विषय में वर्तमान प्रतीति होती है। **"यह पदार्थ चलता है"** इस प्रकार की प्रतीति का विषय भी बनने वाला कर्म प्रत्यक्ष योग्य पदार्थों में प्रत्यक्ष विदित होता हैं। क्षणिक निरन्तर संयोग का सन्तान अर्थात् परम्परा भी कर्म है तथा विभाग पूर्वक उत्तर देश संयोग ही कर्म है।

---

1. "चलन प्रत्यय विषयः कर्म" न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ६७०.

सामान्य निरुपण– जो पदार्थ एक नित्य होता हुआ अनेक व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से रहे वह सामान्य है।[1] ऐसा एक पदार्थ है। निमित्त के बिना वैसी प्रतीति और व्यवहार होता है, यह तभी हो सकता है यदि उन व्यक्तियों के विषय से **"यह गौ है, यह भी गौ है"** इस प्रकार एक प्रकार की प्रतीति एवं व्यवहार होता है, यह तभी हो सकता है यदि उन व्यक्तियों में अनुवृत्त एक धर्म हो। सामान्य अलीक नहीं है, अलीक होने पर असत् सामान्य की प्रतीति माननी होगी वैसी प्रतीति ही असतृख्याति कहलाती है। ब्रह्मसूत्र मे **"सर्वथाऽनुपपत्तेश्च"** इस सूत्र में असतख्याति का खण्डन किया गया है। अलीक में विद्यमान वह सत्सत् भेद न सत् कहा जा सकता है और न असत्। अतः वह भेद अनुपपन्न है। सामान्य अर्थात् अतद् व्यावृत्ति रूप नहीं है। जाति संस्थान सादृश्यात्मा नहीं हैं। संस्थान और आकृति एक ही पदार्थ है यह आकृति रूप संस्थान प्रत्येक पदार्थ से अलग–२ रहते है। अलग रहने वाला परस्पर निरूप्यनिरूपक भाव है। परस्पर निरूपित तत्व के लेकर यह संस्थान सौ सादृश्य और सामान्य कहा जाता है।

अन्य शास्त्रों में नित्यविभूति का स्वरूप

न्याय दर्शन में अद्रव्य का स्वरूप– भारतीय दर्शन में न्याय दर्शन में अन्यतम् है। **"नीयते विवक्षितार्थः अनेन इति न्यायः"** जिस साधन से हम अपने विवक्षित (ज्ञेय) तत्व के पास पहुच जाते हैं उसे जान पाते है वही साधन न्याय है।[2] न्याय सूत्र के प्रणेता के बारे में विचार विमर्श के बाद कहीं तो गौतम को कहीं अक्षपाद[3] को बताया गया। न्याय सूत्र मौलिक रूप से अब उलब्ध नहीं है किन्तु यह कार्य कौटिल्य से पूर्व हो चुका होगा।[4] विशेषतः इसका सम्बन्ध तर्क विज्ञान तथा प्रमाण विज्ञान से है। वात्स्यायन के अनुसार **"प्रमाणैरथपरीक्षणं न्यायः"** प्रमाणों के द्वारा किसी विषय की परीक्षा करना ही न्याय है।[5] न्याय दर्शन का जो अपना रूप है उसके अनुसार उसने सोलह पदार्थो का

---

1. "नित्यमेकमनेकसमवायि सामान्यमिति। न्याय सिद्धाञ्जन पृ० ६७८.
2. तुलना कीजिए. प्रमाणैरर्थ–परीक्षणन्याय. । न्याय सूत्र १/१/१.
3. आचार्य विश्वेश्वरः तर्क भाषा की भूमिका पृ० १६–२०.
4. Das Gupta History of Indian Philosophy Vol. I[st] P. 278.
5. न्याय सूत्र १/१/१. पर भाष्य।

उल्लेख है जिसमें प्रमाण, प्रमेय, संसय, प्रयोजन, दृष्टात, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान। प्रमेय के अन्तर्गत ही इन्द्रिय के अर्थ या विषय अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द का ग्रहण होता है। वात्स्यायन[1] कहते है कि गोतम ने केवल प्रमेयों का उल्लेख किया है जिसका ज्ञान मोक्ष प्राप्ति के लिये आवश्यक है। पुरातन पदार्थ शास्त्रियों ने पदार्थ के साथ प्रभेद किये है। जैसे– द्रव्य गुण कर्म, सामान्य विशेष, समवाय और अभाव।[2] द्रव्य वह है कि रूप रस आदि गुणों का आधार हो। द्रव्य को ही कुछ लोग पुद्गल भी कहते है। प्रारम्भ में अभाव को छोड़कर छः पदार्थ ही माने गये थे।[3] परिमाण इत्यादि अनेक गुण दो या अधिक द्रव्यों में पाये जाने से सामान्य है जब कि कुछ विशेष, विशेष द्रव्यों में पाये जाते है और इसीलिए "विशेष" गुण कहलाते है। **गन्ध पृथ्वी** का, **रस अप** का, **रूप तेजस** का, **स्पर्श वायु** का और **शब्द आकाश** का विशेष गुण है।[4] नैयायिक शक्ति को नहीं मानते। ये शब्द आकाश गुण है तथा अनित्य है।[5]

वैशेषिक दर्शन में अद्रवय का स्वरूप– वैशेषिक लोग जगत की वस्तुओं के लिए पदार्थ शब्द का व्यवहार करते हैं। पदार्थ का व्युत्पत्तिभ्य अर्थ है पदस्य अर्थः पदार्थः अर्थ से तात्पर्य उस वस्तु से है जिसे इन्द्रियों ग्रहण करती हैं। अतः पदार्थ अर्थ है, अभिधेय वस्तु नामधारण करने वाली चीज प्रमिति (ज्ञान) का विषय होना भी पदार्थ कालक्षण है अतः श्रेयत्व, तथा अभिधेयत्त्व पदार्थ का सामान्य लक्षण है।[6] **ये सात पदार्थो**

---

1. भाष्य १/१/६.
2. पदार्थशास्त्र, हिन्दी समिति ग्रन्थ माला ११४। तथा न्यायसूत्र भाष्य १/१/६.
3. वैशेषिक सूत्र १/१/४.
4. सिद्धान्त मुक्तावली, श्लोक ६०/२, पृथ्वी मे रूप, रस और स्पर्श भी है, अप में रूप और स्पर्श भी है। तैजस में स्पर्श भी है।
5. प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा शब्द कुरु मा शब्दं कार्षी शब्दकार्यम् माणवकः इति ध्वनि कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद ध्वनि शब्दः। **महाभाष्य १/१ आ १ पृ० ७ हरियाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्झर संस्करण १९६२.**
   (१) आकाशवायुः प्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैतिनादः।
   स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्त्वभागच्छति यः सं शब्दः।।
   पाणिनीयशिक्षा सूत्रपाठ सू. १ शिक्षासूत्राणि पृ० ११ प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान काशी संस्करणम् सं० २००५ वि०।।
   (२) अनादिनिधनं ब्रह्म शब्द तत्व यदक्षरम्।
   विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।। **वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड १.**
6. मानमेयोदय पृ० २५८–२६२ शक्तिर्द्रव्यादि स्वरूपमेव– **सप्तपदार्थों पृ० १७ मुक्तावली कारिका ८३.**

की सत्ता स्वीकार करते हैं– भाव पदार्थ, अभाव पदार्थ–भाव पदार्थ के ६ भेद – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव। अभाव ४ प्रकार का– प्रागभाव, प्रध्वंशाभाव, अत्यन्ताभाव, अन्योयाभाव। वैशेषिक के सूत्रों में न्याय की ज्ञान मीमांसा का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं है इस मत के पोषक प्रो० गार्वे और डा० राधाकृष्णान कहे जा सकते है।[1] न्याय शास्त्र में इनकी पदार्थ संख्या १६ सोलह कहीं गई है तथापि वैशेषिकों में केवल सात पदार्थो का ही वर्गीकरण हुआ है जो सात उपरोक्त हैं।[2] अभाव नामक सातवा पदार्थ अलग से जोड़ा गया है।[3] निष्कर्षतः वैशेषिक दर्शन सत्पपदार्थवादी है। इन सात पदार्थो के अन्तर्गत विश्व की हर वस्तुएँ आती है। यह परमाणुवादी भी है। वैशेषिक विश्व के सृष्टा के रूप में ईश्वर को मानता है।

इनके पदार्थो में द्रव्य का महत्वपूर्ण स्थान ही क्योंकि, महर्षि कणाद के अनुसार क्रिया का आश्रय, गुणका आश्रय, अथवा समवायि विकारण जो पदार्थ होता है वह द्रव्य है।[4] वैशेषिक के अनुसार कार्य कारण में यह माना जाता है कि जिस क्षण में द्रव्य की उत्पत्ति होती है उस क्षण में उससे कोई गुणया क्रिया नहीं रहती।[5] ध्वंश और प्रागभाव के साथ–साथ अत्यन्ताभाव नहीं रहता।[6] द्रव्यत्व जाति से सम्पन्न होना द्रव्य का एकलक्षयण माना गया है।[7] सात पदार्थो में द्रव्य की महत्ता सर्व श्रेष्ठ है क्योंकि गुणों का आश्रम होता है। साथ ही गुण कर्म का आश्रय हो तथा अपने कार्य का समवायी कारण भी हो।[8] ये संख्या को गुण मानते है तथा द्रव्य में इसकी सत्ता मानते हैं।

---

1. देखें– Philosophy of Ancient india (P.20).
2. न्याय मुक्तावली – १/२.
3. तर्कामृत, अध्याय १, तर्कभाषा पृ २६ वैशेषिक सूत्र १/१/४.
4. वै० सूत्र १/१/१५.
5. उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठति। तर्क भाषा, पृ० ३३.
6. मुक्तावली कारिका ' १२–१३.
7. द्रव्यत्व की सिद्धि हेतु– वैशेषिक दर्शन एक अध्ययन पृ० २० २३
8. तत्र समवायिकारणं द्रव्यम्। गुणश्रयो वा। तर्कभाषा पृ० १७०.

जैन दर्शन में अद्रव्य का स्वरूप– बौद्ध दर्शन में 'पुद्गक्त' शब्द आत्मा अर्थ के में प्रयुक्त हुआ है लेकिन जैन दर्शन में इसका अर्थ जड़ या भौतिक तत्व, अर्थात् जो द्रव्य पूरण और गलन द्वारा द्विविध प्रकार से परिवर्तित होता है।[1] स्पर्श, या गन्ध और वर्ण ये एक साथ रहते हैं।[2] शब्द को पुद्गल का गुण नही बल्कि उसका एक परिमाण माना गया है।[3] पुद्रगल नित्य और अणुमय है। पुद्रगल के २ रूप होते है– एक सरल या आणिवक और दूसरा यौगिक जिसे स्कन्ध कहते है। सब प्रत्यक्ष योग्य वस्तुएं यौगिक हैं।[4] इन्हीं संधातों के द्वारा हमारे शरीर तथा भिन्न–२ अंग आदि को सृष्टि होती है। पुद्गल के ये गुण– (स्पर्श रस गन्ध वर्ण) द्विविध रूप में विद्यमान रहते हैं जैन दार्शनिक शब्द को मूलभूत गुण नहीं मानते प्रत्युट सूक्ष्मत्व स्थूलत्व, अन्धकार छाया, आदि के समान होने वाला अवान्तर परिणाम बतलाते है।[5] जैनी जड़तत्व को पुद्गल कहते हैं। हमारे शरीर और अन्य जड़ द्रप्स, अणुओं के संयोग से ही बने हैं। मन वचन तथ्य प्राण जड़ तत्वों से ही निर्मित है।[6]

मीमांस दर्शन में अद्रव्य का स्वरूप

(क) प्रभाकर मत– तत्वज्ञान की दृष्टि से मीमांसा प्रपञ्च की नित्यता को स्वीकार करती है पर पदार्थो को कल्पना में प्रभाकर एवं कुमारिल में मतभेत दिखाई पड़ता है। प्रभाकर आठ पदार्थो की सत्ता मानते हैं।[7] द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतंत्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। द्रव्य गुण कर्म वैशेषिकों के समान ही है। परतंत्रता वैशेषिकों का समवाय हैं प्रभाकर तमश को प्रकाश का अभाव मानते है।[8] प्रभाकर न्याय की विचार धारा को अपनाते है और उन्हीं ६ द्रव्यों का अपने सिद्धान्त में समावेश करतें है। ये वैशेषिक द्वारा मान्य, विशेष एवं अभाव को नहीं मानते है। प्रभाकर शब्द को गुण एवं नित्य मानते है तथा संख्या के पृथक् मानते है। प्रभाकर संख्या के पृथक मानते हैं जो किसी भी दार्शनिक के स्वीकार्य नहीं हैं।

---

1. रूपिणः पुद्रगलाः – तत्वार्थसूत्र ५/४, ५/२५.
2. स्पर्शरसगंधवर्णवन्ताः पुद्गलाः – उमास्वाति तत्वार्थाधिगमसूत्र श्लोक २३.
3. गुणरत्नः पूर्व उदधृत ग्रन्थ पृ० ६६–७०.
4. सर्वदर्शन संग्रह पृ० ३६.
5. तत्वार्थ सूत्र ५/२४.
6. तत्वार्थधिगम सूत्र ५/१६.
7. तत्र रहस्य पृ० २०–२४.
8. प्रकरण पञ्चिका पृ० १४४.

(ख) कुमारिल मत– कुमारिल के अनुसार पदार्थ की संख्या पांच है। पदार्थ के २ प्रकार हैं– १. भावात्मक, २. अभावात्मक–भावपदार्थ के चार भेद द्रव्य गुण कर्म और सामान्य तथा एक अभाव। ये न्याय वैशेषिक के सभी ६ द्रव्यो को मानता है तथा वैसा मत भी है। ये तमस को द्रव्य नहीं मानता क्योंकि तमस् में रूप और गति पाये जाते है जो केवल द्रव्य में है। परमाणु की वैशेषिक धारण को कल्पना मात्र बताया लेकिन यह नही लगता कि उसका बिल्कुल निषेध कर दिया है।[1] कुमारिल के अनुसार द्रव्य नित्य एवं अविनाशी है गुणों में परिवर्तन होने पर भी द्रव्य की सत्ता सदैव बनी रहती है कुमारिल अन्धकार और शब्द को दो अलग द्रव्य मानते है। कुमारिल समवाय सम्बन्ध नहीं मानते है। इसे उन्होंने भेदाभेद से तरतम्यसम्बन्ध के अन्तर्गत माना है। शक्ति और सादृश्य का अन्तर्भाव द्रव्यो और संख्या के गुण के किया है। कुमारिल अभाव को ४ प्रकार का माना है। १. प्रागभाव २. प्रध्वंसाभाव ३. अत्यन्ताभाव ४. अन्योयाभाव। कुमारिल के अभाव विषयक विचार वैशेषिकों के अभाव से मिलते है ये संख्या को गुण मानते है तथा इनकी सत्ता सस्पूर्ण पदार्थो में है। ये शक्ति के पृथक् न मानकर द्रव्य गुण में ही इनकी सत्ता मानते है। जिनका बोध अर्थापति द्वारा होता है। ये विशेष तथा समवाय को नहीं मानते। इस तरह तत्व विचार की दृष्टि से मीमांसक दर्शन वस्तुवादी और अनेक वस्तुवादी है। मीमांसा वेदवाक्य को प्रत्यक्ष से बढ़कर मानते है।[2] वे स्वर्ग, नरक, अदृष्ट आदि अनेक तत्वों को मानते हैं जो अतीन्द्रिय विषय होने के कारण अनुभव गम्य नहीं है।

बौद्ध दर्शन में अद्रव्य– बौद्ध दर्शन के पांच स्कन्ध माने गये है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। इनमें से प्रथम रूप स्कन्ध भौतिक है। जो पृथ्वी जल अग्निवायु के परमाणुओं से बनता है। शेष चारों स्कन्ध मानश है। विभिन्न मानसिक भावों या प्रवत्तियों के संघात हैं। इस क्षणिक पञ्चस्कन्धसंघात को व्यवहार में पुद्गल या आत्मा कहा जाता है और क्षणिक परमाणु संघात को भौतिक पदार्थ। दोनों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं वास्तविक सत्ता केवल क्षणिक विज्ञानों एवं क्षणिक परमाणुओं की

---

1. श्लोक वार्तिक पृ० ४०४, श्लोक १८३–४.
2. श्लोक वार्तिक ७२, १/१/२.

है। बुद्ध ने जो द्वादश निदान बताए है। उनमें **नामरूप** प्रमुख है। नाम और रूप में ४ महाभूत पृथ्वी जल, तेज, वायु तथा नाम में संज्ञा वेदना संस्कार और विज्ञान ये ४ स्कन्ध आते है। दोनों मिलकर ही पञ्चस्कन्ध कहे जाते हैं नाम को मानसिक धर्म भी कहते है और रूप शरीरिक धर्म होता है, क्योंकि रूप से ही सत्व की काया संरचना होती है। नामरूप विज्ञान से होता है जब विज्ञान माता की कुक्षि में प्रतिसन्धि ग्रहण करता है तभी से नाम रूप उत्पन्न होना प्रारम्भ होता है।

वैष्णव दर्शन में अद्रव्य का स्वरूप–

माध्व दर्शन में अद्रव्य पदार्थ– माध्व मत में १० पदार्थ माने जाते है। द्रव्य गुण कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव।[1] इनका विशेष वर्णन पद्मनाभ ने अपने मध्वसिद्धान्तसार में किया है। कतिपय पदार्थों के वर्णन में न्याय वैशेषिक से साम्य है अधिकांशतः माध्वमत की विशेषता है। नैयायिकों के समवाय को छोड़कर शेष ६ तथा चार नये पदार्थ माध्व को मान्य है। इन्होंने १० पदार्थ के साथ २० द्रव्य भी बताए है। नित्य पदार्थ जैसे प्रकृति आत्मा काल आदि में पराधीन विशेषाप्ति रूप परिणाम होता है।[2] माध्व सम्प्रदाय में प्रकृति को भी भौतिक जगत के उपादान कारण के रूप स्वीकार किया गया है।[3] प्रकृति को यहां एक द्रव्य[4] के रूप में माना गया है और माध्व सम्प्रदाय में उसे माया या ईश्वर की सहचरी के रूप में माना गया है। सृजन के समय प्रकति में से तीन समूहों में सत्व, रजस और तमस को उत्पन्न किया गया है।[5] महत् से लेकर २४ पदार्थ ये है–महत् अहंकार बुद्धि, मनस, दस इन्द्रियां पांच तन्मात्राएं और पञ्चभूत।[6] बुद्धि दो प्रकार की होती है– पदार्थ के रूप में, 'बुद्धि' तथा ज्ञान के रूप में बुद्धि। माध्व द्रव्य गुण कर्म सामानय विशेष शक्तिसादृश्य ये ७ पदार्थ मानते है। विशिष्ट और अंशी ये २ नये तत्वों को भी स्वीकारा है।

---

1. भाष्य मे पदार्थ ४ बताये गये हैं, ईश्वर प्रकृति जीव् जड़ ईश्वर प्रकृतिजीवों जड़ चेति चतुष्टयम्। पदार्थानां सन्निधानात् तत्रेषो विष्णुरुच्यते। – तत्व संख्यान पृ० १०.
2. पराधीन विशे[illegible]तिः ईशादन्यस्य सर्वस्य.................न्यायसुधा पृ० ११५.
3. साक्षात् परम्परया वा विश्वोपादानं प्रकृतिः। पदार्थ संग्रह – ६३.
4. न्याय सुधा और अनुत्याख्यान, २,१,६ (पृ० २१) पर सन् न्याय रत्नावली।
5. मध्यसिद्धान्तसार पृ० ३६.
6. तत्व सांख्यान (पृ० ४१) असंसृष्टम् महान् आहं बुद्धिर मनः खानि, दशमात्र भूतानि पच च सत्यधर्म। यति द्वारा लिखित टीका से अद्धृत।

३. निम्वार्क दर्शन में अद्रव्य– निम्वार्क मत में चित् अचित् एवं ईश्वर तीन पदार्थ माने जाते हैं चित् जीवात्मा है यह ज्ञान स्वरूप तथा ज्ञानाश्रय है जैसे सूर्य प्रकाशस्वरूप तथा प्रकाश का आश्रय है। यह ज्ञाता तथा अणु परिणाम है यह देह से संयुक्त तथा वियुक्त हो सकता है, संख्या में अनन्त तथा ईश्वर के अधीन है।[1] अचित् पदार्थ तीन है– प्रकृति, आपकृत और काल। प्राकत पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न महद् आदि है। काल नित्य एवं विभु हैं। ब्रह्म ही एक मात्र स्वतंत्र पदार्थ है वहीं जगत का अभिन्ननिमितोपादान कारण है। शक्ति विक्षेपणात्मक पदार्थ को निम्वार्क मानता है अतएव ब्रह्मपरिमाणवाद शक्ति विक्षेपणात्मक परिणाम को मानता है।[2] निम्वार्क का मतवाद रामानुज के मतवाद के अनुरूप है। केवल ब्रह्म एंव जीव के सम्बन्ध में ही मत भेद है। निम्बार्क के मत में ब्रह्म तथा जीव स्वरूपतः भिन्नाभिन्न है एवं धर्म भी भिन्न–भिन्न नहीं है। निम्बार्क रामानुज के सच्चे अनुयायी है।

बल्लभ दर्शन में अद्रव्य या पदार्थ– वल्लभ वेदान्त में प्रमेयतत्व एकमात्र ब्रह्म ही है जो सर्वधर्मविशिष्ट है सविशेष या सगुण है तथा शुद्ध धर्म के समान हेय गुण रहित है। उसी शक्ति माया में भी उससे अभिन्न हैं। वह निराकार सच्चिदानन्दात्मक, सर्वभवन समर्थ है। किसी निमित्त के बिना ही वाद में अपने अंश से धर्म रूप क्रियादि रूप और प्रपन्च रूप हो जाता है। ब्रह्म से अतिरिक्त कोई प्रमेय नहीं है। ब्रह्म ही कारण कार्य और स्वरूप भेद से तीन कोटियों में पाया जाता है। वही ज्ञान आनन्द, काल, इच्छा, क्रिया, माया प्रकृति रूप से पहले होता है।[3] यह सभी विरुद्ध धर्मो का आश्रय है अतः स्वरूपतः अविकृत रहकर भी अपने को ही रचता है।[4] परमसत्ता कृष्ण पुरुषोत्तम, ब्रह्म तथा आधिदैविक रूप, भागवत् में परमात्मा तथा उपनिषदों में ब्रह्म कहा गया है। स्वरूप कोटि में भगवान्, ज्ञान, क्रिया और दोनों से विशिष्ट इन तीन रूप वाला होता है। इन तीनों कोटियों का मूलभूत ज्ञान प्रधान ब्रह्मकूटस्थ अव्यक्त है। ये त्रितत्व में विश्वास करते है किन्तु उनके मत में जीव, तथा जगत् आद्यन्तहीन है सनातन है, किन्तु दोनों ही परमंत्र ब्रह्माधीन है। केवल ब्रह्म स्वधीन है। यह जीव तथा जगत का नियंत्रय करता है। इसीलिए बल्लभा के मतवाद को शुद्ध द्वैतवाद कहा गया हैं। इनके मतवाद को अचिन्त्यभेदाभेदभाव कहते है।

---

1. ज्ञानारूवरूपं न हरेरधीन शरीरसंयोग वियोग योग्यम्।
   अणुहि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञानवन्तं यदनन्तमाहुः। दशश्लोकी ३.
2. अप्रच्युत स्वरुवस्य शक्तिविक्षेपलक्षणः
   परिणामी च यथा तन्तुनामस्य पटवत् – भाष्कर भाश्य पृ० ६६.
3. प्रस्थान रत्नाकर पृ० १५६.
4. अविक्रियमाण एवात्मानं करोतीति वेदान्ताभे सगतो भवति। विरुद्ध सर्वधर्माश्रयत्व तु ब्रह्मयो भूषणाय। अणुभाष्य १/१/३.

दशम् – अध्याय
उपसंहार

इस प्रकार प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे यथोपलब्ध सामग्री के आधार पर **"आचार्य वेंङ्कनाथ कृत न्याय सिद्धाञ्जन का समीक्षात्मक अध्ययन"** विषय की विशद विवेचना प्रस्तुत की गई है। इसके अन्तर्गत मैंने विशिष्टद्वैत वेदान्त के उद्‌भव एवम् विकास से लेकर वेदान्तदेशिक के व्यक्तित्व एवं कृतित्व तथा उनकी कृति न्यायसिद्धाञ्जन के समस्त परिच्छेदों। **(जड़द्रव्य, जीव, ईश्वर, नित्यविभूति, बुद्धि एवम् अद्रव्य परिच्छेद)** का विधिवत् निरूपण करने का प्रयास किया है।

विशिष्टाद्वैत में साङ्ख्य दर्शन की तरह त्रिगुण की साम्यावस्था को प्रकृति माना गया है, जो जड्द्रत्य परिच्छेद का प्रमुख अंग माना गया है। उसके अत्यक्त अक्षर, विभक्ततम् और अविभक्ततम् ये चार भेद किये गये हैं। विशिष्टाद्वैत वेदान्त का साङ्ख्य से भेद मात्र इतना है कि साङ्ख्य में तमस् अहङ्कार से सभी तन्मात्राओं की उत्पत्ति मानी गयी है, जब कि विशिष्टाद्वैत में केवल शब्द तन्मात्रा की। साङ्ख्य सम्मत् इन्द्रिय लक्षण में अप्राकृत इन्द्रियों का समावेश नहीं हो सकता इसलिए विशिष्टाद्वैत वेदान्त में इन्द्रियों का लक्षण साङ्ख्य से विलक्षण है। इन्द्रियाँ प्राकृत और अप्राकृत भेद से दो प्रकार की हैं। मन को साङ्ख्य दर्शन में कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय उभयात्मक माना गया है, जब कि विशिष्टाद्वैत दर्शन में वह केवल ज्ञानेन्द्रिय है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में आत्मा को नित्य, स्वयं प्रकाश अणुरूप, एवम् अनेक माना गया है। साङ्ख्य न्याय, वैशेषिक जैन तथा मीमांसा दर्शन आत्मा की अनेकता स्वीकार करते है किन्तु आत्मा के स्वरूप के विषय में इनमें मतैक्य नहीं हैं। विशिष्टाद्वैत वेदान्त चार्वाक के देहेन्द्रियात्मक न्याय वैशेषिकों की आत्मा के मानस प्रत्यक्ष वाद बौद्धों व अद्वैतियों के ज्ञानात्मवाद का प्रवल खण्डन करता हैं विशिष्टाद्वैत वेदानत में जीवात्मा के नानात्व तथा स्वचैतनत्व को सिद्ध किया गया है। जैन दर्शन में भी जीव को चैतन्य लक्षण माना गया है। अनेकान्तवाद के द्वारा जीव के नानात्व को भी मान्यता दी गयी है।

सांख्य दर्शन में भी पुरुष (जीवात्मा) के चेतनत्व और बहुत्व को सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार न्याय और मीमांसा दर्शन भी जीवात्मा की अनेकता स्वीकारते है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त सृष्टि प्रक्रिया की दृष्टि से प्रकृति को प्रधान मानते हुये सांख्य योग तथा जैन दर्शन से काफी साम्य रखता है। सांख्य दर्शन प्रकृति परिमाण वाद को मानता है तो विशिष्टाद्वैत ब्रह्मपरिमाण वाद को। अद्वैत वेदान्त से इस बात में इसका भेद है, क्योकि अद्वैत वेदान्त में जगत् को ब्रह्म को विवर्त माना गया है तथा ब्रह्म विवर्त वाद की प्रतिष्ठा की गयी है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में ईश्वर की वही मान्यता है जो अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की है। यह जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। न्याय वैशेषिक में ईश्वर को जगत का केवल निमित्त कारण माना गया है और उसे अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया गया है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त में केवल यामुनाचार्य ने ईश्वर को अनुमित किया है अन्य किसी भी वेदान्त दार्शनिक ने ईश्वर को अनुमित नहीं किया है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन के धर्म भूत ज्ञान या बुद्धि को अन्य दर्शनों में **'ज्ञान'** इस अपर नाम से अभिहित किया है। जो न्यायसिद्धाञ्जन के बुद्धि परिच्छेद का प्रमुख अंग है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त समस्त ज्ञान को सत् मानता है अतः इसे सत्ख्यातिवादी कहा जाता है। प्राचीन साङ्ख्य दर्शन तथा प्रभाकर मिश्र भी इसी मत को मान्यता देते है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त भ्रम को भी ज्ञान की श्रेणी में रखता है। किन्तु उसे आंशिक ज्ञान ही मानता है। प्रभाकर भी अपने अख्याति सिद्धान्त में भ्रम को आंशिक ज्ञान ही स्वीकार करते है। किन्तु दोनों में किञ्चित् भेद है रामानुज भ्रम काल में जहा सुक्ति में रजत का आंशिक प्रत्यक्ष मानते है। वही प्रभाकर आंशिक प्रत्यक्ष न मानकर शुक्ति में रजत का स्मरण मानते है।

न्याय सिद्धाञ्जन के जीव परिच्छेद तथा विशिष्टाद्वैत दर्शन में जीव की मोक्षावस्था में उसका शेष रूपी पर्यङ्क पर आरोहण तथा स्वरूपाविर्भाव होता है। जो प्रपत्ति या भक्ति द्वारा ही सम्भव है। वैकुण्ठ लोक में पहुंचने पर, जीव में ईश्वर के समान

अपहृतपाप्मत्व और सत्यसंकल्पत्व आदि आठ गुण सम्पन्न होते है। **सालोक्य सामीप्य सारूप्य** और **सायुज्य** दशा में सायुज्य को ही **मोक्ष** माना गया है। यह मत जैन दर्शन से अधिक साम्य रखता है क्योकि जैन मत में भी यह मानता है कि देहपात के वाद मुक्त जीव ऊपर उठने लगता है और लोकाकाश के ऊपर सिद्ध शिलानामक पवित्र स्थल पर आत्मस्वरूप में स्थित होकर अनन्त चतुष्टय का अनुभव करता है।

मोक्ष के स्वरूप के विषय में जहां अन्य दार्शनिक जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति दोनों को मानते है वहां विशिष्टाद्वैत केवल **विदेहमुक्ति** को मान्यता देता है। यह भारतीय दर्शन को विशिष्टाद्वैत की अद्वितीय देन हैं रामानुज जीवन्मुक्तिवादियों विशेषकर आचार्य शंकर की कटुआलोचना करते हैं। उनके अनुसार यदि शंकर द्वारा मान्य शरीर से विशिष्ट मुक्ति को ही जीवन्मुक्ति मानी जाये तो यह मान्यता निश्चय ही मेरी माता बन्ध्या है के सदृश अप्रमाण एवं असङ्गत होगी। आत्मा के शरीर होने पर उसका शरीर से वैशिष्ट्य परस्पर विरोधी बाते हैं एक ही काल में परस्पर विरुद्ध धर्मो का आश्रयण सम्भव नहीं है। वे शंकर सम्मत अद्वैत में वदतों व्याघात दिखाते है कि शंकर भी मोक्ष को अशरीरी मानते हैं। **"तदैतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम् – ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य"** और आत्मा को शरीरी मानते है जब कि शरीरी आत्मा का मोक्ष अशरीर कैसे हो सकता हैं? इस प्रकार विशिष्टाद्वैत में विदेह मुक्ति की जो व्याख्या की गयी है वह अद्वितीय है।

वस्तुतः विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विकास भारतीय चिन्तन परम्परा की एक युगान्ताकारी घटना कहीं जा सकती है। आचार्य रामानुज इस दर्शन के प्रमुख पुरोधा हुए है। उस समय तक बौद्ध एवं जैन धर्म अपनी लोक प्रियता खो चुके थे। कुमारिल भट्ट और शंकर के नेतृत्व में सनातन धर्म अपनी खोई हुई लोकप्रियता को पुनः अर्जित करने के निमित्त सङ्घर्षरत् था। विश्रृङ्खलित भारतीय समाज में बौद्ध धर्म और जैन धर्म के प्रभाव के कारण जातीय बन्धन के कठोर प्रतिबन्ध भरसक प्रयत्न के पश्चात् भी शिथिल होते जा रहे थे। समाज में मीमांसाको के जटिल और शंकर वेदान्त के कोरे ज्ञानवाद के प्रति लोगों में कोई रूचि न रह गयी थी। फलतः विशिष्टाद्वैत वेदान्त ऐसी परिस्थितियों

में प्रासङ्गिक हो गया था। अपने परिच्छेदों की विशद् व्यावहारिक व्याख्या करके वेंकटनाथ ने विशिष्टाद्वैत वेदान्त में एक नयी रामन्वय वादी प्रवृत्ति को जन्म दिया तथा विभिन्न दर्शनों के सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करके उसे अधिक बुद्धि संगत एवं व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया। आगे चलकर विशिष्टाद्वैत वेदान्त की इन व्यावहारिक सिद्धान्तों का प्रभाव अन्य चिन्तन पद्धतियों पर पड़े बिना नहीं रहा।

अद्वैत वेदान्त वैसे तो विशुद्ध ज्ञानमार्गी है किन्तु शंकराचार्य जैसे अद्वैती आचार्य भी विशिष्टाद्वैत सम्मत भक्ति या प्रपत्ति की आवश्यकता स्वीकार करते हैं जो वेंकटनाथ के जीव परिच्छेद का प्रमुख अंग है। अद्वैती मधु सूदन सरस्वती ने भी भक्ति रसायन नामक शास्त्र का प्रणयन भक्ति के मण्डनार्थ लिख डाला। इसी प्रकार द्वैत, द्वैताद्वैत शुद्धाद्वैत आदि वैष्णव सम्प्रदायों पर विशिष्टाद्वैत वेदान्त के अग्रणी पुरोधा आचार्य वेंकटनाथ का भरपूर प्रभाव पड़ा। रामानुज वेदान्त का प्रमाण तो इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि आज भी लाखों लोग विशिष्टाद्वैत प्रतिपादित भक्ति मार्ग के द्वारा जीवन के परम श्रेय की प्राप्ति हेतु प्रयास रत है।

उक्त विवेचना के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विशिष्टाद्वैत वेदान्त में न्याय सिद्धाञ्जन अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों से न्यूनाधिक रूप से प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः प्रभावित हुआ है। उदाहरणर्थ परमाणुवाद का खण्डन करके प्राकृतिक सृष्टि प्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया है। अतः यहां पर पञ्चमहाभूतों और मनस के पृथक प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं रहती। वैशेषिक दर्शन, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव भेद से सात ७ ही प्रकार के पदार्थों (अद्रव्य) को मानता है। कुमारिल भट्ट पांच प्रकार के ही प्रमेयों को मानते है। वे विशेष और समवाय को स्वीकार नहीं करते है।

प्रभाकर द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय के अतिरिक्त, शक्ति सादृश्य और सङ्ख्या का भी प्रमेयों में परिगणन करते है। वे वैशेषिक सम्मत विशेष और अभाव की

सत्ता स्वीकार नहीं करते। माध्वाचार्य के मत में द्रव्य, गुण, कर्म, सामानय विशेष, शक्ति, सादृश्य के अतिरिक्त विशिष्ट और अंशी ये दो नये (अद्रव्यो) को पदार्थ माना गया है।

न्याय सिद्धाञ्जन में आचार्य वेंकटनाथ ने वैशिष्टय को स्वीकार किया है। यह माध्व मत सम्मत विशिष्टाद्वैत पदार्थ से अभिन्न प्रतीत होता हैं। वैशेषिक के समान प्रभाकर भी नौ द्रव्य मानते है। किन्तु कुमारिल शब्द और तमस को भी द्रव्य में ही परिगणन करते हैं। माध्व मत में द्रव्यों की संख्या २० है। प्रायः इन सभी विषयों पर वेंकटनाथ ने बड़े ऊहापोह के साथ अपने विचार प्रकट किये हैं। विशिष्टाद्वैत दर्शन के नित्यविभूति तथा धर्म भूतज्ञान ये दो शब्द अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय के लिये प्रायः अपरिचित से है, यद्यपि धर्मभूतज्ञान दूसरे रूप में प्रत्येक दर्शन में प्रतिष्ठित है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्तियों विशेषकर वेदान्तदेशिक ने तमस को पार्थिव द्रव्य माना है। कुमारिल भट्ट भी तमस् को पार्थिव द्रव्य स्वीकार करते है और कहते है कि तमस् रूपवान् और स्पर्शहीन है जो केवल चक्षु से ही गृहित होता है और आलोक के न रहने पर ही यह प्रकाशित होता है। वैशेषिक तमस् को आलोक का अभाव मात्र मानते है किन्तु प्रभाकर कहते है कि तम नाम का कोई द्रव्य नहीं है। इनके मत में नील पदार्थो में विद्यमान नील रूप के विषय में होने वाली अपूर्ण स्मृति ही तम् अर्थात् अन्धकार के व्यवहार का कारण है। भाट्ट मतानुयायी मानरत्नावालीकार भी तमस् को पृथ्वी का गुण मानते है। भट्ट पराशर ने मूल प्रकृति को ही तम माना है। भट्ट पराशर का असली अभिप्राय क्या है? यह तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि सम्प्रति उनका पूरा ग्रन्थ अनुपलब्ध है। जितना ग्रन्थ उपलब्ध है उसके आधार यह कहा जा सकता है कि तम पार्थिव द्रव्य होने के साथ ही प्राकृत द्रव्य भी है क्योंकि विशिष्टाद्वैती सत्कार्यवादी है। षडर्थ संक्षेपकार राममिश्र कहते है कि अन्धकार कोई द्रव्य नहीं यदि अन्धकार बाहर रहने वाला कोई द्रव्य होता तो नेत्रों के बन्द कर लेने पर इन्द्रिय के साथ उसका सन्निकर्ष न होने पर उसका भान नहीं होना चाहिए। परन्तु आंख बन्द कर लेने पर भी अन्धकार का अनुभव सबको होता है। इससे ज्ञात होता है कि अन्धकार बाहर रहने वाला

कोई द्रव्य नहीं है। विशिष्टाद्वैत आचार्य वेंकटनाथ इन मत का प्रवल खण्डन करके आगम प्रामाण्य के बल से तमस् के द्रव्यत्व को सिद्ध किया है।

प्रायः सभी दार्शनिक शब्द को दो प्रकार का स्वीकार करते हैं १. वर्णात्मक और २. ध्वन्यात्मक। भाट्ट मीमांसाक वर्णात्मक शब्द को नित्य एवं द्रव्य मानते है। प्रभाकर शब्द को गुण मानते हुये भी द्रव्य मानते है। वैय्याकरण शब्द को स्फोट रूप मानते हुये उसे नित्य मानते है किन्तु नैयायिक शब्द को आकाश का गुण मानते हुए भी उसे अनित्य स्वीकार करते है। शब्द के विषय में विशिष्टाद्वैत वेदान्तियों में मतैक्य का अभाव है। कुछ ने शब्द को द्रव्य माना तो कुछ ने अद्रव्य। शब्द को द्रव्य मानने वालों में कुछ ने उसे वायवीय माना तथा कुछ ने अवायवीय। यामुनाचार्य वायवीय मत के पोषक हैं। श्री भाष्यकार आचार्य रामानुज ने शब्द को अहंकार का परिणाम माना है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत दर्शन शब्द के विषय में समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाता प्रतीत होता है।

प्रभाकर शक्ति को पृथक मानते हैं। कुमारिल शक्ति को मानते हैं किन्तु उससे पृथक पदार्थ न मानकर द्रव्य गुण और कर्म में इनकी सत्ता मानते हैं। वे अर्थापत्ति से इसे सिद्ध करते हैं प्रभाकर इसे अनुमित करते हैं। विशिष्टाद्वैत दर्शन में भी तर्क और आगम के आधार पर शक्ति की सत्ता स्थापित की गयी है। शाक्त आगम का प्रतिपाद्य तो चरम तत्व शक्ति ही है। वैष्णव और शैव आगमों में भी शक्ति के अस्तित्वको तो अपरिहार्य माना गया है। विशिष्टाद्वैती आचार्य इसको द्रव्य न मानकर अद्रव्य अर्थात् गुण मानते हैं और इसके लिये विष्णुपुराण अहिर्बुध्न्यसंहिता आदि के वचनों को प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं। यह द्रव्य में रहती हैं या अद्रव्य में इस विषय में मतैक्य नहीं है। यामुनमुनि ने सिद्धित्रय में इसकी व्याख्या की है। वरदविष्णु ने द्रव्य के अतिरिक्त गुण और कर्म में भी शक्ति की सत्ता स्वीकार करते है।

वैशेषिक तथा कौमारिल दार्शनिकों की तरह विशिष्टाद्वैती भी संख्या को पृथक पदार्थ न मानकर उसे गुण ही मानते हैं, अन्तर केवल इतना है कि वैशेषिक मात्र द्रव्य में इसकी सत्ता स्वीकार करते है तो कौमारिल और विशिष्टाद्वैती द्रव्य गुण आदि

सभी पदार्थो में इनकी सत्ता मानते है। यामुनाचार्य संख्या को पृथक गुण मानते है, इस सम्बन्ध में वे वैशेषिकों से वे प्रभावित है। वरदविष्णु भी यामुनमुनिका अनुशरण करते हैं। भट्ट पराशर के तत्व रत्नाकर का प्रमेय निरूपण उपलब्ध नहीं है किन्तु एक जगह उन्होंने भी संख्या के गुणत्व की चर्चा की है।

इस प्रकार निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि विशिष्टाद्वैत वेदान्त विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों को अपनी मौलिक चिन्तन परम्परा में न्युनाधिक रूप से अवश्य प्रभावित किया है। यह इसकी मौलिकता का ही प्रमाण है कि यह चिरन्तन चिन्तन, प्रणाली अद्यावधि अवचिल स्थित है। विशिष्टाद्वैत दार्शनिकों में अपने व्यावहारिक सिद्धान्तों के द्वारा धर्म और दर्शन के बीच उत्पन्न खाई को पाटने का अभूतपूर्व कार्य किया हैं। इसमें सन्देह नहीं है। अपने समन्वयवादी दृष्टि कोण के कारण ही भारतीय जन मानस में विशिष्टाद्वैत वेदान्त आज भी समादृत है। यह न केवल बुद्धि को प्रभावित करता है अपितु हृदय को भी उतना ही तोष प्रदान करता है। निश्चय ही समाज इसके लिये विशिष्टाद्वैत का चिरऋणी रहेगा।
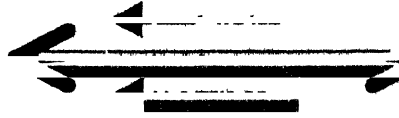
अधीतग्रन्थमाला

1. Religion and Philosophy of Ved. - Keith, Harward, Oriental Series.
2. Early History of the Vaishnava Sect - H.C. Rai Chaudhary Calcutta University Calcutta.
3. A Critical Study of The Philosophy of Ramanuj - Dr. Anima Sen Gupta
4. Out line of Indian Philosophy - Dr. M. Hariyanna, Londan.
5. Indian Philosophy Vol 1-2. - Dr. S Radha Krishnan
6. अद्वैतसिद्धि. - मधुसूदन सरस्वती निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
7. अहिर्बुध्न्यसंहिता - अड्यार लाइब्रेरी मद्रास।
8. यतीन्द्रमत दीपिका - श्री निवासाचार्य चौखाम्भा, सुरभारती, वाराणसी
9. ईशावास्योपनिषद् - गीता प्रेस गोरखपुर।
10. ऋग्वेद संहिता - संस्कृति संस्थान, बरेली
11. कठोप निषद् - गीताप्रेस गोरखपुर।
12. ऐतरेयोपनिषद् - गीताप्रेस गोरखपुर।
13. श्री मद्भगवदगीता शंकर भाष्य - गीताप्रेस गोरखपुर।
14. माण्डूक्य उपनिषद् - गीताप्रेस गोरखपुर।
15. छान्दोंग्य उपनिषद् - गीताप्रेस गोरखपुर।
16. गीतार्थसङ्ग्रह - आचार्य यामुनतिरुमलाई वेंऽकटेश प्रेस, देवस्थान प्रेस, तिरुपति
17. तत्वार्थ सूत्र - उमा स्वामी, चौखम्भ संस्कृत सीरिज, वाराणसी
18. तत्त्ववैशारदी - वाचस्पति मिश्र, चौखम्भ, वाराणसी।
19. न्याय दर्शन (वात्स्यान भाष्य) - चौखम्भ, संस्कृत सीरिज, वाराणसी।
20. योगसूत्र भाष्य - संवित् प्रकाशन, मम्फोर्डगंज, इलाहाबाद
21. प्रश्नोपनिषद् - गीताप्रेस गोरखपुर।

22. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य - सत्यानन्द सरस्वती गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी

23. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य - भामती – निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

24. ब्रह्मसूत्र श्री भाष्य - रामानुजचार्य, उभयवेदान्त ग्रन्थमाला, श्रीवत्साप्रेस, मद्रास।

25. बृहदारण्यक उपनिषद् - गीताप्रेस गोरखपुर।

26. भागवत् सम्प्रदाय - पं० बलदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारणी सभा, काशी।

27. भारतीय दर्शन - पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मंन्दिर काशी।

28. भारतीय दर्शन का इतिहास - संस्करण ३-४ डा० सुरेन्द्र नाथ दासगुप्त राजस्थान ग्रन्थ एकादमी।

29. मनुस्मृति - संस्कृति संस्थान, बरेली।

30. महानारायणोपनिषद् - संस्कृत संस्थान, बरली।

31. मीमांसा दर्शन - संस्कृत संस्थान, बरली।

32. विष्णुपुराण - गीताप्रेस गोरखपुर।

33. वेदानतदीप, - आचार्य रामानुज, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

34. वेदार्थसंग्रह - रामानुज सम्पूर्णनन्द संस्कृत वि० वि० प्रकाशन वाराणसी।

35. वैष्णव सम्प्रदाय का प्राचीन इतिहास - श्री ऐ० के० आयङ्कर

36. श्वेताश्वतर उपनिषद् - गीताप्रेस गोरखपुर।

37. शतदूषणी (वेदान्तदेशिक) - वेदान्तदेशिक ग्रन्थमाला, काञ्ची।

38. शिवपुराण - संस्कृति संस्थान, बरली।

39. श्रीभाष्य श्रुतिप्रकाशिका, सुदर्शनसूरि - वेदान्तदेशिक बिहार सभा, मैसूर।

40. श्रीभाष्य तत्वटीका - वेदान्त देशिक उभय, वेदान्तग्रन्थमाला मद्रास।

41. श्रीभाष्य भाष्यार्थ दर्पण - वीरराघवाचार्य उभय वेदान्त ग्रन्थमाला मद्रास।

42. श्री मद्भगवत्गीता (रामानुज भाष्य) - गीताप्रेस गोरखपुर।

43. श्री मद्भगवतगीता (रामानुजभाष्य) तात्पर्यचन्द्रिकासहित। - वेदान्त देशिक -आनन्दाश्रमग्रन्थावली पूना।

44. स्त्रोतरत्न (आलवन्दारस्तोत्र) - आचार्य यामुन श्री रगंनाथ प्रेस, वृन्दावन।

45. सिद्धित्रय, - आचार्य यामुन निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

46.	आगम प्रामाण्य	- आचार्य यामुन निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
47.	सिद्धान्तकौमुदी	- भट्टोजिदीक्षित, चौखम्भा संस्कृत, प्रतिष्ठान, दिल्ली
48.	सर्वदर्शन संग्रह	- माधवाचार्य चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी।
49.	साख्यकारिका	- ईश्वरकृष्ण, चौखम्भ विद्याभवन, वाराणसी।
50.	प्रशस्तपादभाष्यम्	- गंगानाथ झा ग्रन्थमाला, वाराणसी।
51.	भारतीय दर्शन	- दत्ता एण्ड चटर्जी
52.	भारतीय दर्शन	- डा० नन्द किशोर देवराज
53.	वेदान्तदर्शन (ब्रह्मसूत्र)	- गीताप्रेस गोरखपुर।
54.	पदार्थ शास्त्र	- डा० आनन्द झा न्यायाचार्य प्राच्य दर्शनाध्यापक लखनऊ वि० वि०, लखनऊ।
55.	भारतीय दर्शन की रूपरेखा	- प्रो० संगल लाल पाण्डेय, भू० पू० अध्यक्ष दर्शन शास्त्र विभाग प्रयाग वि० वि०, प्रयाग।
56.	पातञ्जलयोगदर्शनम्	- प्रो० सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव भू० पू० कुलपति प्रयाग वि० वि०, प्रयाग।
57.	भारतीय दर्शन	- डा० चन्द्रधर शर्मा प्रो० अध्यक्ष काशीहिन्दू वि० वि० वाराणसी।